UNIVERSITY OF TORONTO
LIBRARY

WILLIAM H. DONNER
COLLECTION

purchased from
a gift by

THE DONNER CANADIAN
FOUNDATION

MUNSHIRAM MANOHARLAL
Oriental Booksellers & Publishers
Post Box 1165, DELHI-6, INDIA

प्रतिशोध

'बैरनी वसूलात' का हिन्दी का अनुवाद

Pratišodha.

Munshi, Kanaiyalal Maneklal.

के० एम० मुन्शी

रूपकमल प्रकाशन
दिल्ली

PK
1859
T18 V418

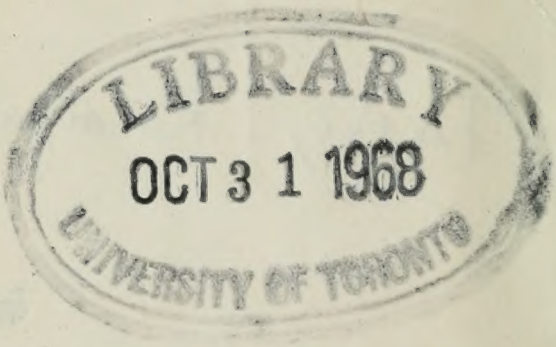

प्रकाशक :

रूपकमल प्रकाशन
१५, यू० बी०, बैंगलो रोड
दिल्ली–६

अनुवादक :

कांतिलाल जवेरी

मूल्य :

पाँच रुपये पचास नए पैसे

मुद्रक :

शुक्ला प्रिंटिंग ऐजन्सी द्वारा नूतन प्रेस दिल्ली

१

धर्म-शास्त्रों का और धार्मिक-नेताओं का मत चाहे जो हो, परन्तु बिना गृहनाथ के गृह शोभा-विहीन हो जाता है। उसे फिर घर नहीं कहा जा सकता। आज गुणवंती का घर वह घर नहीं रह गया, जो दो सप्ताह पूर्व था। वह उसे श्मशान जैसा लग रहा था। उसका प्राणेश इस संसार को छोड़कर स्वर्ग सिधार गया था। साथ ही सद्गुणी गुणवन्ती के जीवन का सुख भी अपने साथ लेता गया। लता के समान आधरित हिन्दू-स्त्री को वृक्ष-रूपी अपने पति के वियोग से सम्पूर्ण संसार शून्य दिखाई देता है। वह अपने लिए जीवित नहीं रहती बल्कि पति के लिए ही जीवित रहती है। पति गरीब हो, भिखारी हो, लंगड़ा-लूला हो। उसके लिए वही उसका परमेश्वर है; फिर यह तो विद्वान, देव-स्वरूप पति का मरण था। गुणवंती के सुख का प्रलयकाल आ गया था। जगतकिशोर दस वर्ष का, हँसता-कूदता, लाड़ला किशोर, अपने पिता का स्मरण-चिन्ह, वही केवल वियोग-रूपी वन उसका एक मात्र सहारा था।

बाहर तो अन्धकार था ही, गुणवन्ती के हृदय में भी अन्धकार छाया हुआ था। अभी कुछ समय पूर्व रोने के लिए एकत्रित स्त्रियाँ चली गई थीं। जगत-किशोर उसकी गोद में सिर रखे हुए मां की गोद की मीठी नींद ले रहा था। गुणवंती का रूप दुःख से म्लीन और जरा गम्भीर हो गया था; रति की कान्ति

का स्थान भविष्य की चिन्ता ने ले लिया था। उसका काला वस्त्र दीपक के मद्धिम प्रकाश के कारण रात्रि के अन्धकार में समा गया था। उसका मुख केवल इस प्रकार शान्त था मानो किसी वन पर पूर्ण चन्द्र अपनी गम्भीर रमणीयता की वर्षा करता हुआ—प्रशान्त तेज की वृष्टि कर रहा था।

नीचे किसी के पैरों की आहट सुनाई दी। हाथ बढ़ाकर गुणवंती ने दीपक की बत्ती तेज की। रघुभाई के पैरों की आवाज मालूम हो रही थी। रघुभाई गुणवंती के परमहितैषी थे। क्यों न हों? नीलकंठराय ने ही उसे पढ़ाया-लिखाया था। उन्होंने ही उसे इस पद पर पहुँचाया था। इस छोटे से राज्य में कोतवाल होने के लिए उन्हीं के उद्योग से आज वह समर्थ हुआ था। बहुत दिनों तक तो वह रायजी के यहाँ ही रहा और रायजी के व्यवहार-कुशलता में बिल्कुल अप्रवीण होने से, उनके घर की सभी व्यवस्था, खर्च और आमदनी का पूरा हिसाब उसी के हाथ में था।

रायजी की मृत्यु के पश्चात् भी वह उनके यहाँ बराबर आया करता था, एवं गुणवंती तथा उसके पुत्र को अपने कुटुम्बी जैसा मानता था। यदि वह न होता तो गुणवंती के लिए कोई मार्ग ढूंढ़ निकालना कठिन होता।

रघुभाई भीतर आया। उसमें कुछ ऐसी खूबी थी कि अनजान मनुष्य उसे देखकर चकित हो जाता था। पुराने चाल की रेशमी किनारी की नागपुरी धोती, राजाओं के अमलदारों को शोभा दे ऐसा चुस्त अंगरखा और दुपट्टा तथा काठियावाड़ी राजा को प्रसन्न करने के लिए बांधी हुई काठियावाड़ी पगड़ी, उसके लम्बे शरीर को सचमुच दीप्तिमान कर रही थी। उसका चेहरा भव्य तो नहीं कहा जा सकता था, फिर भी उस पर कभी-कभी गौरव की आभा झलक पड़ती थी। कभी-कभी ऐसा विचित्र भाव भी दिखाई दे जाता, जिसे देखने वाला देखते ही रह जाता था। आँखों की गम्भीर दृष्टि में दुनिया की धूर्तता, कुटिलता चमकती। चेहरे की आकृति में महत्वाकांक्षा, दृढ़ता और योग्यता का निःसंशय प्रदर्शन था। शान्त स्वर में बोलने की आदत, बुद्धिमत्ता एवं नीति-निपुणता प्रत्यक्ष रूप से प्रकट करती थी। लोगों का कहना था कि इसके पास आने में उच्च पदाधिकारी भी डरते थे। इस समय वह कोतवाल था, उसने स्थानीय राज्य-तन्त्र बहुत कुछ अपने हाथ में कर रखा था। दुर्भाग्य की मारी गुणवन्ती उसे अपने भाई से भी बढ़कर मानती थी।

कहिये भाभी! क्या हाल-चाल है?' राजदरबार में अनेकानेक की चापलूसी करने में पटु रघुभाई की आवाज मिश्री के टुकड़े के समान मीठी और शान्त निकली।

'सब ठीक है भैया! आइये।'

रघुभाई थोड़ी दूर पर लटकते हुए झूले पर बैठ गया। कुशल समाचार पूछने

के बाद बोला—'जगतकिशोर का क्या हाल है। आज भी रोता रहा क्या ?'

'नहीं, आज रोना कुछ कम हुआ भैया, यह तो धीरे-धीरे जायगा न। अपना कोई वश है ?' कहते-कहते गुणवंती का गला रुँध गया।

'भाभी ! जरा साहस रखिये। ये दिन तो ऐसे ही निकल जायगे और फिर आप सुख देखिएगा।'

'सुख और दुःख सब मेरे लिए एक समान हैं। अब तो जगत के बड़े होने पर ही कुछ शान्ति मिले तो मिले।'

'मिलेगी, मिलेगी ; घबराइये नहीं। अब आगे क्या करना है, इसका तो कुछ निश्चय कीजिये।'

'मैं निश्चय क्या करूँ ? आप और रामकृष्णदासजी जो कुछ निश्चय करें, उसके अनुसार मैं चलने के लिए तत्पर हूँ।

दूसरा नाम सुनकर रघुभाई की भौंहों पर जरा शिकन-सी दृष्टिगोचर हुई। 'देखिए भाभी ! बात यह है।' मानो सर्प झपटने का प्रयत्न करता तो इस प्रकार मीठे शब्द उसके मुख से झरने लगे—'जो आपकी इच्छा, वह मेरी इच्छा। मैं तो आपके आधीन हूँ। क्या समझीं ? रायजी साहब के कुटुम्ब के लिए तन, मन और धन अर्पण करने के लिए मैं सदैव तैयार हूँ। आप मेरे लिए माता के समान हैं। जगत मेरा भाई है। देखिये, रायजी साहब का हिसाब-किताब रखता था, इससे आपकी स्थिति का मुझे अच्छी तरह ज्ञान है।'

इतने ही में सीढ़ी पर पद्चाप की आवाज सुनाई दी। इसे सुनते ही रघु-भाई का मुँह जरा उतर गया, किन्तु तुरन्त ही मुरझाये हुए चेहरे पर लोगों को पिघलाने वाला मधुर हास्य उमड़ने लगा।

'लीजिये ! रामकृष्णदासजी आ गये, अब जो विचार करना हो कर लीजिये।'

रामकृष्णदास जी का दीर्घ शरीर दीपक के प्रकाश में दिखाई पड़ा। बचपन में पहलवानों से अखाड़े में उन्होंने शिक्षा ग्रहण की थी। इससे उनके विशाल शरीर में सत्तर वर्ष की आयु में भी जरा हेर-फेर नहीं पड़ा था, वृद्धावस्था ने उनमें तनिक भी अभी प्रवेश नहीं पाया था, केवल दाढ़ी में सफेदी आ गई थी। मस्तक पर लगाया हुआ रामानुजी तिलक, तथा उसकी विशाल-आँखें दर्शक के मन में पूज्य-भाव उत्पन्न करती थीं। यों तो वे सभी निवासियों के मन में निवास करते थे ; परन्तु इनका स्थान ग्राम के छोर पर रामचन्द्रजी के मन्दिर में था। शहर में इनका भा दबदबा था। नगर में होने वाली प्रत्येक बात की इन्हें खबर रहती थी, प्रत्येक झगड़े-फसाद में वे पंच रूप में भाग लेते थे। सब का दुःख दूर करने में वे यथाशक्ति अपने सादे जीवन तथा श्रद्धा के बल की परीक्षा करते, जिसमें वे प्रायः सफल भी हो जाते थे। क्रूर अमलदार, स्वयं

जमींदार आदि भी, कभी-कभी उनसे डर जाते थे। इनका ज्ञान तुलसीकृत राम-चरित-मानस से बाहर अत्यन्त थोड़ा था, किन्तु इस सुधरे हुए प्रदेश में कानून और पुलिस का जितना डर दुराचारियों पर होना सम्भव है उससे कहीं अधिक डर इस राजदरबार में उनके सादे जीवन का था। देशी राज्य के अनियन्त्रित दबदबे में एक ऐसे आश्रय की विशेष आवश्यकता थी।

रामकृष्णदासजी आते हुए बोले—"तुलसी इस संसार में भाँति-भाँति के लोग—क्यों बेटी ! कैसी है ?'

'ठीक हूँ महाराज ! पधारिये।' गुणवंती ने उत्तर दिया।

रघुभाई ने हँसते हुए प्रणाम किया ; फिर जरा उपहास के स्वर में बोले—'पधारिये बाबा जी ! कहिये कुशलपूर्वक हैं न ?'

'हाँ।' मानो तुरन्त रघुभाई को देखा हो इस प्रकार बोले, 'कौन छोटे दीवान ! क्यों, क्या हो रहा है ? यहाँ क्या दीवानगीरी लगा रहा है ?

रघुभाई कोतवाल था किन्तु किस लक्ष्य पर आँख लगाए बैठा है ; इसे बहुत से लोग जानते थे। बाबा जी तो हमेशा उसे छोटे दीवान ही पुकारते थे। रामकृष्णदासजी में बहुत-सी बातें बड़ी विचित्र थीं। एक तो जहाँ कहीं जाते थे चहल कदमी किया करते और जब किसी के साथ बात करते तो अपने तेजस्वी आँखों का प्रभाव उस पर डालकर अपनी बुलन्द आवाज में जो कुछ कहना होता, कह डालते थे। लोगों का यह भी कहना था कि एक दिन राजा साहब से भी साफ-साफ उन्होंने कह दिया था कि—'तुम तो दास नहीं, दासों के भी दास हो।' इसमें कहाँ तक सचाई है, कहा नहीं जा सकता, किन्तु इतनी तो सम्भावना है कि ऐसा कोई अवसर आने पर बाबा जी ऐसा कह देने में चूकने वाले भी नहीं थे।

रघुभाई ने जरा इधर-उधर देखा, आवाज में मिश्री की सी डली घोलकर जरा हँसे और बोले—'क्या कहा बाबा जी ? गरीब आदमी की क्यों हँसी उड़ा रहे हैं ? आपका आशीर्वाद होगा तो सब कुछ ठीक हो जायगा। इस समय तो हम यह विचार कर रहे थे कि भाभी को अब क्या करना चाहिए।

'करना क्या है ! खाना-पीना रामजी का भजन करना।'

'देखिये बाबा जी, अकेले घर बसा कर रहने की इनमें शक्ति नहीं है।'

'क्यों नहीं ? क्या रायजी कुछ भी नहीं छोड़ गये ? मैं समझता हूँ कि तू ही हिसाब-किताब रखता था।'

'जी हाँ, लेकिन उनका खर्च बड़ा लम्बा-चौड़ा था, देनदारी देने के बाद शायद ही पाँच हजार बच सकें।'

'और दस वर्ष तक तीन-चार सौ मासिक जो मिलता था, वह किस कम-बख्त की जेब में चला गया ?' बाबाजी चिल्ला उठे। रघुभाई पर गड़ी हुई दृष्टि

का अर्थ साधारण व्यक्ति भी भली प्रकार समझ सकता था। बाबाजी के हाथ का डण्डा ऐसा मालूम हो रहा था मानो तड़प रहा हो। रघुभाई की गम्भीर आँखों से क्षण-भर के लिए द्वेषभाव आता-जाता हुआ दिखाई दिया, पर तुरन्त ही फिर अग्नि पर शान्ति एवं बुद्धिसत्तारूपी राख का आवरण छा गया। उसने धीरे से बाबा जी को उत्तर दिया—'देखिये बाबा जी! जरा शान्त होकर सुनिये! इतनी जल्दी बिगड़ उठने से कोई लाभ नहीं। रायजी साहब का नमक मैंने खाया है—'

'हाँ! हाँ! यह तो मैं समझ गया, लेकिन अब क्या कहने का इरादा है?'

'दूसरा क्या? जो कुछ आप और भाभी कहें वह मुझे शिरोधार्य है। देखिये, सूरत में इनके जेठ के यहाँ तो इन्हें सुविधा होगी नहीं। बहुत दिनों से दोनों भाई अलग थे। साथ ही भाभी-जेठानी का स्वभाव देखते हुए इन्हें वहाँ बिलकुल ही चैन नहीं पड़ेगी और यहाँ से जाना इनके लिए मुझे लाभप्रद भी नहीं दिखाई देता। राजा साहब के कान में बात डालकर जगत के लिए यदि कुछ मासिक सहायता का प्रबन्ध हो जाय तो अच्छा रहेगा। अभी तो यहीं रहने में भलाई है; फिर मेरा घर तो भाभी के लिए सदा खुला हुआ है ही।'

'नहीं भैया! आपको असुविधा···।'

'मुझे असुविधा किस बात ही होगी?' रघुभाई ने पूछा।

'तो छोटे दीवान! क्या अपने यहाँ गुणवंती को रखना चाहता है?' बाबा जी ने कुछ विचारमग्न सिर हिलाते हुए पूछा।

'जी हाँ, मेरे यहाँ रहने से इनका कुछ खर्च भी नहीं होगा और मुझे भी रायसाहब के कुटुम्ब की सेवा कर कृतार्थ होने का अवसर मिलेगा।'

'इससे क्या जगत का भी कुछ लाभ होगा?' विचार-चक्र से निकलने में असमर्थ गुणवन्ती ने पूछा।

'हाँ कुछ होगा तो अवश्य लेकिन···।'

'बहुत लाभ होगा। मैं इसे राजा साहब के पास ले जाऊँगा।'

वत्सल माता को यह लाभ अनुपम प्रतीत हुआ। पुत्र को सुख मिलता हो तो स्वयं थोड़ा दुःख उठाने में क्या हानि है? फिर यह तो रघुभाई है, रायजी को भाई के समान मानते थे। इनके यहाँ रहने में बाधा ही क्या है?

'बाबाजी! तब हमें क्या आपत्ति है?' गुणवन्ती बोली।

'आपत्ति तो बेटी, कुछ नहीं है।' कहकर बाबाजी रघुभाई की ओर देखकर बोले—'अच्छा! लड़के का भला होता है तो जाओ, रहो।'

रघुराई तो उछल पड़े—'भाभी! देखिये आप स्वयं ही व्यर्थ बुरा-भला सोच रही थीं। मैंने तो आपके लिए सब प्रबन्ध कर ही रखा है। कल शाम को आपकी देवरानी को भेजूँगा।

'ठीक है भैया ! कल आऊँगी ।' घर छोड़ने के विचार मात्र से रोते हुए हृदय से गुणवन्ती बोली ।

'तब मैं चलता हूँ ।' जाने की आज्ञा माँगते हुए रघुभाई बोला ।

'मैं भी जाता हूँ गुणवन्ती ।' कहकर बाबाजी भी साथ में चले गये । गुणवन्ती के नेत्रों में आँसू भर आए । सोए हुए बालक के मुँह को देखा । अकेली बेचारी गुणवन्ती ने पुत्र के सुख के लिए रघुभाई का कठोर आतिथ्य मन से स्वीकार कर लिया । वियोग और निराश्रयता के असह्य दुःख से रोते हुए गुणवन्ती को सवेरा हो गये ।

दरवाजे पर बाबाजी रघुभाई से अलग हुए, परन्तु जाने से पूर्व बाबाजी ने अपनी बलिष्ट भुजाओं से रघुभाई का कन्धा पकड़कर अपने सामने खड़ा किया और कुछ देर तक उसे घूरकर देखते हुए कहा—'देख वे छोटे दीवान ! गुणवंती और जगत तेरे यहां जाते तो हैं, परन्तु ध्यान रखना यह दोनों रामजी की रक्षा में हैं ।'

यह कहकर बाबाजी ने इस प्रकार अपना डण्डा घुमाया कि जो भाव उनके शब्द व्यक्त न कर सके थे, वह भी पूर्ण रूप से व्यक्त हो गया ।

'अरे, यह आप क्या कह रहे हैं महाराज ?' बड़ी कठिनाई से अपने चेहरे का भाव संयत रखते हुए रघुभाई ने कहा । डण्डे से सनसनाये गये भाव ने उसकी छाती को एकबारगी दहला दिया था ।

२

भाग्य की मारी गुणवन्ती रघुभाई के यहाँ जाकर रहने लगे । सौभाग्य से रघुभाई अतिशय प्रेम दर्शाता था । जरा भी परवशता के भाव का भास नहीं होने देता था । उसकी स्त्री कमला भी बड़ी भोली और भाली थी, संसार में कलियुग के अस्तित्व से वह बिल्कुल अनजान थी । वह अपने छोटे से घर के दैनिक कार्य में दिन-रात व्यस्त रहती थी, और अपनी वर्ष भर की पुत्री रमा में ही उसका मन हमेशा समाया रहता था । इन सब बातों से गुणवन्ती को बेचैनी का कोई कारण नहीं था । उसका स्वभाव भी सब का भला चाहने का था वह अपनी एक दृष्टि में ही सबको अपने वश में कर लेती थी । रामकृष्णदासजी भी दो-चार दिन में रघुभाई के यहाँ एक फेरा लगा जाया करते थे, और बराबर जगत को अपने साथ मन्दिर में भी ले जाते थे । रामकृष्णदासजी गाँव भर के लड़कों के गुरु थे, उन्हें देखकर सभी नतमस्तक हो जाते थे, और जगत को तो उन्होंने अपना पुत्र ही बना लिया था । थोड़े ही दिनों में वह रायजी को

भूलने लगा।

जगत अपनी दस वर्ष की अवस्था में ही अद्भुत चातुर्य दिखाने लगा था। रायजी की मृत्यु के उपरान्त इस प्रकार बुद्धिमत्ता से व्यवहार करना मानो सब भार उसी को उठाना है। गुणवन्ती तो उसकी ओर से बिलकुल निश्चिन्त रहती थी, क्रोध करना रोना-धोना सब कुछ उसने छोड़ दिया था। कभी-कभी अपना क्रोध वह दमन न कर पाता था, रघुभाई के प्रति सद्भाव न होने से उससे अलग रहता। इसके अतिरिक्त वह बराबर आनन्द में घूमता-फिरता, अपना अभ्यास करता अथवा रमा से खेला करता था।

बाल-चेष्टा को लोग तुच्छ, निर्जीव और वृद्ध पुरुषों की चेष्टाओं को ध्यान न देने की बात समझते हैं। किन्तु यही उनकी बड़ी भारी भूल है। वृक्ष का निरीक्षण पौधे से होता है। कहा भी है 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात।' छोटी वय की घटना, उस वय का गाम्भीर्य, मनुष्य पर गहरा प्रभाव डालते हैं। उतना गम्भीर असर प्रौढ़ अवस्था के प्रसंग अथवा गाम्भीर्य नहीं करते। जगत के जीवन पर भी आगे के एक दो प्रकरणों में वर्णित अनुभवों ने इतना स्थायी असर डाला जो इस वृत्तान्त से निकाला नहीं जा सकता।

जगत का स्वभाव इस आयु में कोमल और विनीत था। माँ के पवित्र एवं निर्दोष चरित्र की छाप उस पर पड़ी थी। गुणवन्ती का प्रभाव अपने पुत्र पर पूर्ण रूप से था। गुणवन्ती का पुरानी पद्धति के अनुसार पालन हुआ था। उस में नये फैशन की टीप-टाप, नवीन स्त्रियों की अर्द्धनग्नता का प्रवेश नहीं हुआ था नवीन स्त्रियों में देश की दन्त-कथा का नितान्त अभाव दिखाई पड़ता है। उससे मुक्त रहने का आराध गुणवन्ती ने दिया था। इसी से रामायण तथा महाभारत की अखण्ड सुधारस-वर्षक और मोहक कथा से जगत का जीवन रस-मय बनाने में समर्थ हो सकी थी। उसमें वर्णित वीर नरों के चारित्र्य का अनुकरण करने की ओर जगत का ध्यान खींचती। इसी से अपने मनोराज्य में अनेक बार उसने परशुराम के समान पृथ्वी को क्षत्रियहीन कर डाला था— अनेक बार भागीरथी के साथ सहस्र प्रयत्न द्वारा अनेकों गंगाओं को खींच लाया था। ऐसी सुखद साहसिक बुद्धिमत्ता किस में नहीं होती? जिसमें न हो वह नर नहीं है।

शिशिर का प्रातःकालीन आह्लाद रघुभाई के मकान में व्याप्त था। वृक्षों पर पक्षी चहचहा रहे थे। प्रकृतिदेवी स्मित हास्य कर रही थी। मन में प्रसन्न जगत हाथ में तीर कमान लेकर आया जिसे रघुभाई ने उसे ला दिया था। उसकी छोटी-सी आशा का यह केन्द्रस्थल था। रात में भी वह इसे साथ लेकर सोता था खेल में ही इस खिलौने के धनुष के कल्पित टंकार से उसने दिग्विजय किया था अनेकों देव-कन्याओं का हरण किया था। ऐसे ही किसी खिलौने के

द्वारा किसी हथियार की प्रतिमा के आसपास--प्रत्येक चालाक बालक का जीवन बढ़ता है, और अवस्था बढ़ने पर खिलौने के स्थान पर वह शस्त्र ग्रहण करता है। संसार को डगमगा देने के लिए आवश्यक 'उपकरण' किसी न किसी स्वरूप में मनुष्य खोजता है। इस हेतु कुछ प्राप्त करते हैं और दूसरे निराश होकर छोड़ देते हैं। पहले लकड़ी का घोड़ा छोड़कर खड़िया लेते हैं, खड़िया छोड़कर कलम पकड़ते हैं। कलम छोड़कर वाक्चातुर्य बढ़ाते हैं। लक्ष्य सब का एक ही है—हृदय में उछलती हुई मनोवृत्ति को किसी प्रकार विजय करना और उसका आनंद लेने के लिए संसार को निमन्त्रित करना।

ग्रीक पुराणों में कल्पित 'क्युपिड' अथवा कामदेव के सदृश कांतिमान लगता हुआ जगत इधर-उधर तीर फेंक रहा था। उसका तीर जरा ऊँचा चला गया। बालक के मन में किसी मत्स्य-भेद का विचार आया, पर तीर ऊँचा उड़कर पास ही के प्रांगण में जा गिरा। दोनों प्रांगण के बीच टीन का पर्दा था। क्या करना चाहिए, इसी विचार में वह लीन खड़ा था।

इतने ही में पीछे से कोई चढ़ा। धीरे-धीरे दीवार के पीछे से चमकीले काले बाल ऊपर आए, जगत चौंक कर खड़ा देखता रह गया। गुणवन्ती बात करते समय किसी कन्या की 'सुन्दरता की अवतार जैसी' उपमा सदैव दिया करती थी। जगत उस सौंदर्य का अवतार अपनी माँ को ही देखता था; प्रायः तुरंग पर सवारी करके मनोराज्य में विचरण करते हुए रमणियों के रूप की बाल-कल्पना वह करता किन्तु उसकी कल्पना का आधार गुणवती ही होती थी। परन्तु यह मुख! आठ-दस वर्ष की बालिका, उसका खिलता हुआ बालपन का अवर्णनीय रसभाव, बालनयनों में चमकती हुई तेजस्वी निर्दोषता, खुले हुए केश-राशि में छिपा हुआ गुलाब सदृश मोहक मुख इन सब ने जगत को—जगत के स्नेही स्वभाव को—दिग्विमूढ़ बना दिया। बाला की आँखें हँस रही थीं और उसके हाथ में जगत का फेंका हुआ तीर था।

उस बाला ने ऊपर आकर जगत से पूछा—'यह तीर तुम्हारा है?'

'हाँ' जगत को सूझा ही नहीं कि वह और क्या उत्तर दे। चुपचाप खड़ा रहा।

'क्या तुम इसे नहीं चाहते?'

जगत में गृहस्थ की स्फुरणा हुई, स्त्री-मान के स्वाभानिक अंकुर अंकुरित हुए—'तुम कौन हो?' उसने पूछा।

'मैं' कोकिल-कंठ से बाला ने कहा, 'मैं तो तनमन हूँ।

यह उत्तर सुनकर दूसरा कोई जोर से हँस पड़ता; किन्तु जगत ने इस प्रकार सिर हिला दिया मानो वह सब कुछ समझ गया हो।

'मैं आऊँ?'

'ठहरो' वह सीढ़ी लाकर तुम्हें उतारता हूँ।'

सीढ़ी लाकर जगत उस पर चढ़ गया और तनमन का हाथ पकड़ कर टीन का पर्दा पार करा कर उसे इस ओर ले आया। सीढ़ी पर दोनों एक साथ ही कुद कर एक दूसरे पर गिरे, हाथ झाड़े और एक दूसरे की ओर देखकर खिलखिला कर हँस पड़े। बालपन की कैसी साधारण और दैवी संमति ! कैसा उसका अनिर्वाच्य आह्लाद ! संसार के कृत्रिम रीति-भाँति से अकलंकित हृदय के साथ मिलने वाला कैसा हृदय-भाव का मिलन ! एक-दूसरे में कैसा अडिग विश्वास ! विश्व ऐसे ही सम्मेलन के लिए ऐसे ही संगम के लिए है न कि ठोक-पीटकर किया गया, यथा प्रचलित अधमता से आदर हुआ अथवा रजिस्ट्रेशन से सम्बद्ध एवं तलाक से तोड़े जाने वाले विवाह के लिए !

जगत का जीवन अभी तक सहचर्य-हीन था। उस प्यासे को जल विन्दु के समान इस बाला की संगति मिली। तीरकमान अलग पड़ा रह गया। एक वृक्ष के पास बनाए चबूतरे पर दोनों पास-पास, जैसे बहुत पुराने साथी हों इस प्रकार, एक-दूसरे का हाथ पकड़ कर बैठ गये।

'तुम कब से यहाँ आई हो ?'

'मेरे पिता जी की बदली अभी हुई है। कल ही आई हूँ। तुम पढ़ते हो ?'

जगत को अपने पढ़ने पर गर्व था. इससे वह तुरन्त बोल उठा—'और नहीं तो क्या ? रोज पाठशाला जाता हूँ। मैं तो तीसरे दर्जे में हूँ।'

कुछ देर तक बाल-पक्षियों का कल्लोल चलता रहा। इतने में गुणवंती वहाँ आ गई। तनमन के आकर्षक रूप ने उसका ध्यान सहज ही अपनी ओर आकृष्ट किया।

उसने पूछा—'जगत, यह कौन है ?'

'यह तो माँ, पड़ौसी की लड़की है।

'किसकी ?'

'अरे माँ ! आपने कल मुझ से शिवाजी की कहानी कही थी न ?'

'हाँ !'

'उन्हें देवी ने हथियार लाकर दिया था न ?'

'हाँ, लेकिन उससे तुम्हारा क्या प्रयोजन है ?'

'मेरा ! अरे यह मेरी देवी है ; मेरा तीर इसी ने लाकर मुझे दिया है।'

पुत्र की बुद्धिमत्ता से पुलकित होती हुई माता तनिक हँसी और बोली—'अच्छा लेकिन पड़ौस में कौन आया है ?'

तनमन अब मौन न रह सकी। चतुरता का भंडार बनकर बोली—'देखिये मौसी ! हिन्दू संसार में संबंध जोड़ने की कैसी सरलता है। पड़ौस में बाबू हरिलाला हैं न, मैं उनकी लड़की हूँ। मेरा नाम तनमन है। आप जगत की माँ हैं ?'

'हाँ ! चलो अच्छा हुआ। जगत के लिए भी एक दिल बहलाव हो गया। बेटी, तुम्हारी माँ क्या कर रही है ?'

'मेरी माँ तो मर गई, दो वर्ष हो गए। मैं अपने पिता जी के साथ रहती हूँ। सौतेली माँ हैं, लेकिन वे अपने पीहर में हैं।'

'अच्छा, मैं तो जाती हूँ, तुम आया करना; अच्छा !' कहकर गुणवंती तो चली गई। प्यारी माँ की आज्ञा मिल जाने से जगत को दुगना जोश आ गया।

'तनमन ! बोलो क्या किया जाय ?'

'जो कुछ तुम कहो।'

'मुझे तो खेलना अच्छा लगता ही नहीं। चलो हम लोग बैठकर बातें करें।

तनमन हँसकर बोली—'अच्छी बात है चलो।'

वह बार-बार हँसा करती। उसका हँसना बड़ा ही मधुर था। अंग्रेजी में मधुर पक्षी की संगीतमय वाणी जब स्फुटित हो प्रकंपित निकलती है तो उसे 'ट्रिल' कहते हैं। तनमन की हँसी कुछ-कुछ उसी प्रकार का स्मरण दिलाती थी।

संसार में सूर्योदय होता है, मनुष्य के जीवन में भी सूर्योदय और सूर्यास्त होता है। जगत के जीवन में गुणवंती के शान्त प्रेम की शीतलता तो सदैव थी ही आज नवीन तेजोमय सूर्य की प्रभा आई। मन की कई एक बंद कलियाँ खिल उठीं। दिन भर जगत पाठशाला में तनमन को ही याद करता रहा। आज पाठशाला में शोरगुल में प्रतिदिन से भिन्न नया अलौकिक मीठा हास्य उसके कान में सुनाई देता रहा। संध्या के समय पाठशाला से घर आकर आँगन की सीढ़ी पर वह खड़ा-खड़ा लड्डू खा रहा था, कि इतने में पीछे से धक्का मारा जगत एक ओर, और हाथ का लड्डू दूसरी ओर धूल में जा विराजे। तनमन ने दौड़कर हाथ बढ़ाया और गंभीरता से कहा—'हाय ! जगत को क्या हो गया ?'

जगत को क्रोध आ गया। कुछ लोगों को ऐसे उपद्रव अच्छे नहीं लगते। उसने आँखें तरेर कर पूछा—'मुझे क्यों गिरा दिया ?'

उत्तर में तनमन हँस दी। जगत को और भी रोष हुआ, उसने घुड़का। तनमन तुरन्त वहाँ से हट जाकर पेड़ के चबूतरे पर गम्भीर बन, मानो कुछ हुआ ही नहीं हो इस प्रकार बैठ गई। जगत ठंडा पड़ गया। थोड़ी देर में वह अनमान बन गया, और पेड़ के पास जाकर खड़ा हो गया। तनमन ऊँची नजर किये हुए पेड़ की पत्तियों को इस प्रकार देख रही थी मानो और कुछ वह देख ही नहीं रही है।

जगत ने पुकारा—'तनमन ?'

किन्तु तनमन की ओर से इसका कुछ भी उत्तर नहीं मिला ; दूसरी बार 'तनमन' पुकारते हुए जगत ने उसका हाथ खींचा।

'तनमन-फनमन मैं कुछ नहीं जानती।' मुंह फुलाकर बड़बड़ाती हुई क्रोधी

तनमन ने अपना मुँह फेर लिया। प्रकृति ने रूप सँवारते समय स्वभाव एवं बुद्धि में किसी बात की त्रुटि नहीं रखी थी।

'क्यों बोल न, तनमन ! नहीं बोलेगी ?' गिड़गिड़ा कर जगत बोला।

'नहीं !' पैर पर पैर चढ़ाकर तनमन फिर ऊपर देखने लगी।

'क्यों ?'

'मेरी इच्छा ?'

स्त्रियों के स्वच्छंद साम्राज्य का यह अनुभव जगत के लिए सर्वप्रथम था। उसके कोमल हृदय को ठेस लगी। वह दूर जाकर खड़ा हो गया। एक दिन के सुख के पश्चात् यह दुःख बहुत असह्य लगा। उसे गिरा दिया था, यह भुलाकर उलटे वह बोल भी नहीं रही थी। यह सोचकर उसे क्रोध हो आया। पीछे एक छोटा-सा मोढ़ा पड़ा था। पीछे देखे बिना उस पर वह बैठने लगा—अचानक वह मोढ़ा खिसक गया और फिर जगत जमीन पर धम्म से गिर पड़ा। पीछे तनमन गम्भीर चेहरा बनाये हुए खड़ी थी। उसकी आँखों में दुष्टता झलक रही थी।

तुरन्त नीचे झुककर वह बोली—'अरे, मेरे जगत को फिर क्या हो गया। क्या हो गया मेरे भाई को ? कहीं चोट तो नहीं लगी बेटा ?' सौ वर्ष की वृद्धा की सी आवाज में तनमन ने पूछा।

क्रोध करने से तनमन रूठ गई थी। यह दुःख जगत को असह्य-सा हो गया था। अतः जगत ने अपने क्रोध को दबा दिया। तनमन का मान-भंग हुआ। उसके हर्ष के आगे सब कुछ नगण्य था।

'देख तनमन, तू ऐसा करती है ? देख मेरा पैर कितना छिल गया ?'

'अच्छा ! आप तो मुझे देवी बनाने न निकले थे। यह यदि देवी हो तो मेरा भी भला हो और आपका भी।'

अरे वाह रे मेरी देवी !' कह कर तनमन के कन्धे पर हाथ रख कर जगत उठा।

३

'मेरे बाल पहले झाड़ दीजिये।'

'नहीं माँ ! मेरी चोटी पहले।'

'नहीं भाई ! मेरी पहले।'

'देखो', गुणवन्ती हँसते हुए बोली, 'मेरे चार हाथ तो हैं नहीं, एक के बाद एक आओ।'

'देखिये ! जगत को पीछे आना हो तो आवे । जगत मुझे देवी कहते हैं, इसलिए पहले तो मैं ही चोटी कराऊँगी ।'

'चल तू ही पहले, बस !' कहकर तनमन को गुणवन्ती ने आगे बैठाया ।

पन्द्रह-बीस दिन में ही गुणवन्ती ने अपना प्रेम-जादू पड़ोस के घर पर चला दिया था । हरिलाल तथा उनकी पुत्री दोनों उसका आदर करते थे । तनमन दिन भर रघुभाई के यहाँ ही रहती । दिन भर दोनों बच्चे बातचीत करते रहते । साथ ही खेलते-कूदते और खाते । दिन में दस बार रूठते और फिर मेल हुए बिना न सोते । दो दिन से तनमन हठ करके यहीं सोने लगी थी ।

'मौसी ! आपका लडका तो मेरा नाम रखता है !'

'माँ ! यह मेरे भी बहुत से नाम रखती है ।' जगत ने कहा ।

'मुझे देवी कहते हैं, तनुड़ी कहते हैं और कल एक किताब में से खोजकर कहते थे, कोई लो रे तनमनियाँ !'

'और तू कितने नाम से इसे पुकारती है ? देख, सिर हिलाये बिना तू बात किया कर ।'

'मैं तो भैया को कभी किशोर पुकारती हूँ और कभी-कभी जग्गा सेठ पुकारती हूँ । बस ।'

'नहीं माँ, बहुत नाम से पुकारती है, यह तो झूँठ बोलती है ।'

'झूठ बोलती हूँ···।' तनमन कहने लगी ।

'अरे बस, अब थोड़ा बोल, देख तो कब से माँग नहीं निकल रही है ।'

'क्या हो रहा है बेटा !' कहते हुए रामकृष्णदासजी आये । जगत उनकी ओर दौड़ पड़ा । बाबा जी ने उसे लिया और कुछ देर तक गोद में रखकर उतार दिया ।

'पधारिये महाराज !' गुणवन्ती ने कहा । डण्डा दीवाल से खड़ा करके महाराज दाढ़ी पर हाथ फेरने लगे और हमेशा की रिवाज के अनुसार इधर-उधर टहलने लगे । इतने में तनमन चोटी करवा कर उठी ।

'क्यों, लड़की !' बाबाजी ने पुकारा । तनमन ने दूसरी ओर देखा और दरवाजे की ओर जाते हुए बड़बड़ाई—'चलो, मुझे भी कोई यहाँ पहचानता है ? बाबाजी को तो इनका 'राम' भर है, तब मुझे भी उनकी कौन-सी परवाह पड़ी है ?'

मुँह बनाकर ऐसे ही अटपटे वाक्य कहती हुई दरवाजे के पास बाबाजी का डण्डा रखा था, उसे इस प्रकार उठाकर चलती बनी मानो कुछ जानती ही न हो । रामकृष्णदासजी का उस लड़की पर भी स्नेह था और उसके इस प्रकार के नटखट-पन में वह पूरा रस लेते थे ।

'अरे ओ चोर ! क्या करती है ? खड़ी रह ।' हँसी दबाकर बाबाजी बोले ।

'आपका है क्या ?' कहकर नटखट तनमन डण्डा लेकर आंगन में चली गई।

'बेटा जगत ! उठ, इस चोर को पकड़ कर ले तो आ अल्दी।'

'जगत उठकर तनमन के पीछे दौड़ा। आगे-आगे तनमन, उसके पीछे-पीछे जगत, घर भर में दौड़ा-दौड़-मचाकर दोनों थक गये। आखिर दौड़ती हुई तन-मन आई और पकड़ने के लिए फैलाये हुए बाबाजी के हाथों में पहले वह एवं पीछे जगत दोनों आकर भर गये। बाबाजी ने स्नेह से दोनों को हृदय से लगा लिया।

'पकड़ में आ गई नटखट ! अब एक डण्डा लगाऊं ? मेरे जैसे बूड्ढे को भी सताती है।' कहकर फिर प्रेमपूर्वक उसे हृदय लगा लिया और तब दोनों को मुक्त कर दिया।

'अच्छा, गुणवन्ती ! आज मन्दिर में वीरपुर से मेरे गुरु-बन्धु आये हैं. कुछ भजन आदि हैं, इसलिये दोनों को लिये जाता हूँ।'

'आज दरबार में नाच-गाना है, रघुभाई वहाँ ले जाने के लिए कह रहे थे।'

'नहीं माँ ! हम वहाँ नहीं जायेंगे। क्यों तनमन ?' जगत बोल उठा। उसे रघुभाई के साथ जाना कभी भी अच्छा नहीं लगता था।

'नहीं, नहीं ! यह तो मेरे ही साथ जायेंगे। बेटा जाओ, कपड़े बदलकर आ जाओ।'

'परन्तु इन्हें रात में पहुँचाने के लिए आपको आना पड़ेगा।'

'नहीं जी ! यह तो वहीं रहेंगे।'

'हाँ, मौसी ! वहीं रहेंगे।' कहकर एक दूसरे का हाथ पकड़े दोनों चले गये।

'देख गुणवन्ती ! दोनों कैसे अच्छे लगते हैं मानो एक दूसरे के लिए ही इन्हें बनाया हो।'

गुणवन्ती मुस्कराकर बोली, 'जी हां, महाराज ! दोनों की जाति नहीं मिलती नहीं तो जरूर विवाह कर देती।' हिन्दू माँ को बालक के जन्म की अपेक्षा उसका विवाह आनन्ददायक होता है। उसकी चर्चा मात्र भी अधिक प्रिय होती है। जाते समय दोनों बालकों ने अन्तिम वाक्य सुने। एक दूसरे की ओर देखकर कपड़े पहनने के लिए दोनों चले गये।

'गुणवन्ती, कुछ और भी सुना ?'

'क्या ?'

'यह जो चम्पा कंचनी आई है न, उसे राजासाहब हमेशा के लिए रखना चाह रहे हैं।'

'छोड़िये, बाबाजी ! बेचारे राजासाहब को व्यर्थ बदनाम करने के लिए लोगों के मुँह में जो आता है, बक देते हैं।'

इतने में दरवाजे पर किसी की परछाईं दिखाई पड़ी। एक संयासी भिक्षा

के लिए आया था !

'भैया ! कुछ दे ।' सन्यासी की आवाज में जादू था कि रूप में, कहा नहीं जा सकता, किन्तु दोनों व्यक्तियों ने उसकी ओर देखा और चौंक उठे । जो मनुष्य भिक्षा माँगने के लिए आकर खड़ा था उसका रूप, उसका तेज हजारों को भिक्षा देने में समर्थ लगता था । सन्यासी युवक था; उसका गौरवर्ण, मोहक स्वरूप हजारों में भी अपनी ओर तुरन्त ध्यान आकृष्ट करने वाला था । सुभद्रा-हरण के समय अर्जुन ऐसा ही दिखाई पड़ता रहा होगा या युवावस्था में महादेव जी के चेहरे पर ऐसा ही तेज होगा । चेहरे पर तान्डव-नृत्य की भयानक प्रलयकारी अनुवृत्ति की गुप्त शक्ति प्रतीत होती थी । अधर सुन्दर सुधा वर्षक से थे, क्षण-क्षण में उन पर स्नेहपूर्ण मुस्कान दिखाई दे जाती । प्रसंगवशात् गर्व में निर्दलन अथवा त्रास में लोगों को हिला देने का प्रभाव आ जाय तो इस में कोई नवीनता न होगी । कोई रसिक अधर देखकर ललचा जा सकता है परन्तु आँखें दैवी दिखाई देती थीं । सृष्टि-सर्जन को अपनी आँखों से देखा हो—विराट् स्वरूप का अनिमिष निरीक्षण किया हो—ऐसे ज्ञान, का, गहन विचार की निर्मलता का तेज उसमें से निकल रहा था । उसमें से निकलने वाली रश्मि, सूर्य-किरण के समान, पक्ष और दम्भ को नष्ट करने की शक्ति प्रदर्शित कर रही थी । ललाट की धवल भव्य विशालता पर गम्भीर विचार, अप्रतिम अभ्यास और दृढ़ता स्पष्ट दिखाई दे रही थी । अद्वैत वेदान्त के महासागर समान, परम ज्ञानी शंकराचार्य के मस्तक पर ही ऐसी भव्यता देखने की आशा की जा सकती है ! आत्मनिष्ठा और शान्ति की पग-पग पर वर्षा हो रही थी । उसकी उपस्थिति एक सुरक्षित दुर्ग के स्वाश्रय का स्मरण दिलाती थी, उसमें किसी प्रकार की त्रुटि कहीं भी दिखाई नहीं देती थी ।

रामकृष्णदासजी नगर के प्रायः सभी लोगों को पहचानते थे, किन्तु इस अपरिचित मनुष्य और उसकी दिव्यता को देखकर उन्हें आश्चर्य हुआ । श्रद्धालु गुणवन्ती तो स्वामी को देखती ही रह गई । ऐसी भव्यता और शक्ति से स्पष्ट था कि यह कोई तुच्छ मनुष्य या साधारण भिखारी नहीं है ।

'महाराज ! आप कौन हैं ?' बावाजी ने नम्र स्वर में पूछा ।

सन्यासी ने अपनी दृष्टि रामकृष्णदास पर डाली । रामकृष्णदासजी की बड़ी-बड़ी आँखें सामने की दृष्टि के ज्ञान, तेज एवं प्रभाव के आगे नत हो गई । अशिक्षित बावाजी के मन में भी मान और पूज्य-भाव की स्फुरणा हुई ।

'मैं सच्चिदानन्द का दासानुदास हूँ !' उनके कथन में असीम नम्रता और आकर्षण भरा हुआ था !

'आप कहाँ से आये हैं ?'

'बारत से ! इधर मन्दिर का कुछ काम है ।'

'वारत से ? ओ हो ! वहाँ हमारे मित्र करुणानन्दजी कैसे हैं ?'

'स्वामीजी मेरे गुरु हैं, उन्हीं के लिए यहाँ आया हूँ। क्षमा कीजिये महाराज। परन्तु मैं किन महाशय के साथ बातें कर रहा हूँ ?'

उनके शब्दों की अपेक्षा बोलने की रीति इतनी भव्य थी कि गुणवन्ती एवं रामकृष्णदासजी दोनों का पूज्य-भाव बढ़ता ही गया। रामकृष्णदासजी ने उत्तर में अपना नाम बताया एवं अत्यधिक नम्रता से अपने मन्दिर में पधारने की विनती की।

'आज असम्भव नहीं, क्षमा कीजियेगा महाराज! फिर आना हुआ तो अवश्य ही आपका दर्शन करके कृतार्थ होऊंगा।'

रघुभाई इतने में सीढ़ी चढ़ते हुए दो बाबाओं को देखकर जरा विरक्त हुए--मन में बड़बड़ाये कि सवेरा हुआ और भिखारियों का जमघट आरम्भ हो गया।

रामकृष्णदासजी से तो कुछ कह नहीं सकते थे, इसलिए सन्यासी पर अपनी झुंझलाहट निकाली—'कौन हो महाराज ? क्यों आये हो ?'

स्वामी ने एक तीव्र और सर्वग्राही दृष्टि से कोतवाल को ऊपर से नीचे तक देख डाला। स्वामी इस प्रकार हंसे जैसे कोई छोटे बालक की मूर्खता पर हँसता है। रघुभाई को लगा कि उनके गौरव की अवगणना हो रही है, उन्हें छोटा गिना जा रहा है। साथ ही वह स्वामी के भव्य व्यक्तित्व के मोह में प्रभावित भी हुआ।

'बेटा!' स्वामी ने कहा—'मैं सन्यासी हूँ और भिक्षा के लिए आया हूँ।' कहकर और गुणवन्ती से आटा लेकर वे वहाँ से चले गये। रघुभाई पर विचित्र प्रभाव हुआ। इस व्यक्ति ने उस पर अद्भुत प्रभाव डाला था।

'क्यों बच्चो, कहाँ चले ?'—रघुभाई ने पूछा।

'बाबाजी इन्हें ले जा रहे हैं, आज भजन है!' गुणवन्ती ने उत्तर दिया।

'रघुभाई को भी बालकों को ले जाने का विशेष आग्रह नहीं था। अतः उनकी तो जान बची।

'अच्छी बात है, पधारियेगा बाबाजी।'

'अच्छा चलो!' एक हाथ जगत का पकड़ा और दूसरा तनमन का।

'जी नहीं बाबाजी,' तनमन बोली, 'हम दोनों तो अपने ही हाथ पकड़कर चलेंगे।'

४

बाबाजी बालकों को लेकर मंदिर में पहुँचे। मंदिर बहुत प्राचीन था। उसका कुछ भाग अत्यधिक जीर्ण हो गया था। घुसते ही बीच में बड़ा-सा चौक था

और सामने कोठरी में सीताराम जी की एक युगल-मूर्ति थी। उस कोठरी के दोनों ओर बड़े-बड़े दालान थे, जहाँ बहुत-सा सामान पड़ा था, वहीं बाबा लोग सोते भी थे। चौक में दस-पन्द्रह साधु बैठे हुए थे। कई एक गाँजा की चिलम खींच रहे थे। दो-एक पखावज को तानतून कर ठिकाने लगाने का प्रयत्न कर रहे थे। एक वृद्ध साधु एक पुराने सितार को मिलाने का निष्फल परन्तु भगीरथ प्रयत्न कर रहे थे।

'लो! रामकृष्णदासजी आ गए?'

'तो बच्चा जनार्दन! आरती की तैयारी कर।'

'वस्त्र में केवल एक लंगोटी से अलंकृत चेला आरती की सामग्री तैयार करने लगा। बालकों को मंदिर में ले जाकर रामकृष्णदासजी ने दर्शन कराया।

'अरे बाबाजी आपके रामचन्द्रजी तो अभी सो ही रहे हैं।'

'क्यों?'

'क्यों-क्यों क्या? घण्टा तो बजाया ही नहीं।'

'हाँ, यह तो भूल ही गया।' कहकर बाबाजी ने तनमन को उठाकर घण्टा बजवाया।

'देख बेटा! हम तो सारी रात रामजी के भजन गायेंगे, तुमको नींद आए तो उधर बिछौने पर सो रहना।'

'अच्छा!'

बाहर निकलते ही रामकृष्णजी बोले, 'जानकीदासजी! तुम बारत के स्वामीजी को पहचानते हो क्या?'

'जी हाँ, वह बुड्ढा! हाँ, उसका क्या·····!'

'आज मैंने उनके शिष्य को देखा। बड़ी तेजस्वी मूर्त्ति है, मैंने ऐसा तेजस्वी पुरुष आज तक कभी नहीं देखा।'

'जी, हाँ मैंने भी सुना था कि यहाँ कुछ समय से उनके कोई शिष्य आकर रह रहे हैं जो सारे गाँव को पागल बनाये हुए हैं।'

इतने में जनार्दन आरती ले आया। तभी बाबा उठकर मंदिर की कोठरी में गए। बड़ी, पाँच सेर के वजन की, पीतल की सात दीपक वाली, जगमगाती आरती को रामकृष्णदासजी ने अपने सुदृढ़ हाथ में पकड़ा। तीन-चार लोग घड़ियाल बजाने लगे, दूसरा एक नगाड़ा पीटने लगा, थोड़ी-थोड़ी देर पर जानकीदास जी एक बड़ा-सा शंख फूँक देते थे। उसके नाद से कान के पर्दे फटने लगते थे। कुछ ने घंटनाद करके रामजी को जगाना आरम्भ किया। मनुष्य से परमेश्वर जितना बड़ा है उतना ही उसके जगाने का नाद भी बड़ा होना चाहिए। सचमुच इसी से शायद कभी-कभी भूख या दुःख से अशक्त निराधार प्राणियों की निर्बल बिनती परमेश्वर तक पहुँच ही नहीं पाती।

बाबाजी की आरती इतनी दीर्घ था कि उसमें साधारण मनुष्य अपना धैर्य स्थिर नहीं रख सकता था। लगभग पौन घंटा तक चलती रही। सीताराम की मूर्ति के दोनों ओर दरबारियों की तरह बाबा लोग दो कतारों में खड़े थे। उन में से कुछ जोर-जोर से आरती गा रहे थे। भजन के पवित्र नशे में मस्त होकर अपढ़ अज्ञानि अशिक्षित जीव को एवं संसार के दुःख पाप तथा पीड़ाओं को भुला कर ईश्वर के प्रति निःस्वार्थ प्रेम से वातावरण में वे विचरने लगे।

जगत और तनमन भी एक साथ खड़े थे। पहले तो दोनों हाथ जोड़ कर खड़े हुए थे। पीछे थक कर हाथ छोड़ दिए। दो मिनट पश्चात् जगत के पैर में झुनझुनी चढ़ी जिससे वह पैर खुजलाने लगा। तनमन का पैर थक गया जिससे वह जगत के कंधे पर हाथ रख उसका सहारा लिए खड़ी रही। दोनों बालकों का दीप्यमान शरीर—तनमन का सौंदर्य आरती के अस्थिर प्रकाश में प्रदीप्त हो रहा था। थोड़ी देर बाद तनमन गाने लगी। गाने की भी धुन होती है। इतने शोर गुल में जरा कण्ठ खोलकर 'श्रीरामचन्द्र कृपालु' पद गाने लगी। कभी-कभी ताल के साथ-साथ पैर का भी जमीन पर ठेका पड़ जाता था। गाने में तनमन तल्लीन हो गई।

आरती समाप्त हो गई। घंटनाद बंद हो गया। जहाँ दस हजार आदमियों के बोलने जैसा घोर नाद हो रहा था, वहाँ अब सुई गिरने की आवाज तक सुनाई दे जाय ऐसी शान्ति हो गई, केवल तनमन के मीठे कोकिल कंठ से ललकार निकल रही थी—

'कामादि खल-दल गजनम्!'

आरती के गान में मस्त बाबा उधर घूम पड़े और स्तब्ध होकर खड़े रह गये। प्रलयकाल की प्रचण्ड गर्जना के पश्चात् बालिका के रसपूर्ण आलाप ने उन के कठोर हृदय में भी रस का संचार कर दिया; वे बालिका को देखने लगे।

इतने में तनमन को चेतना आई। अपने को अकेली गाती देखकर वह लज्जित हुई और उसने गाना बन्द कर दिया।

'शाबाश! बेटी शाबाश।' कहकर जानकीदास आगे बढ़े और तनमन को उठा लिया। संगीत की शान्ति समाप्त हुई और प्रसाद बटने लगा। शोर-गुल शुरू हुआ। स्वर्गीय सुरों से पूर्ण वातावरण के पश्चात् यदि स्थूल वस्तु का संगम हो तो निश्चय ही हम चिल्ला उठेंगे।

लड़कों ने प्रसाद पाया और सब लोग वहाँ से बाहर चौक में आ गये। जानकीदास ने तो तनमन को अपनी गोद में ही बैठा रखा था। जगत थोड़ी दूर पर बैठा हुआ था। कुछ देर में संगीत के साज भी कुछ ठिकाने आए।

'बेटी!' जानकीदासजी बोले, 'तू कुछ गा।'

तनमन हँसी। खुशामद तथा मान भला किसे अप्रिय होगा?

उसने कहा—'नहीं महाराज !'

'नहीं, तुझे गाना ही पड़ेगा !'

'लेकिन क्या गाऊँ कुछ आता भी तो नहीं !'

'नहीं-नहीं, झूठ नहीं बोला करते; कुछ भी गा।'

'हाँ बेटी, शरमाना नहीं।' रामकृष्णदासजी ने जोर दिया।

'रामचन्द्रजी का तो आता नहीं; कृष्णजी के भजन सुना सकती हूं।'

'हाँ, कुछ चिन्ता नहीं।'

तनमन ने गला साफ किया। कोमल बाँसुरी जैसा मधुर स्वर उसके गले से निकला—

पिया तू कहाँ गयो नेहरा लगाय।

विरह-समंद में छाड़ि गयो पिव प्रेम की बाती ग़राय॥
घर आँगण न सुहावे, पिया बिन मोहि न भावे।
दीपक जोय कहा करूँ सजनी ! पिय परदेस रहावे॥
सूनी सेज जहर ज्यूं लागे, सिसक सिसक जिय जावे।
नैनन निंदरा नहीं आवे॥
कब की ऊबी मैं मग जोऊँ, निसदिन विरह सतावे।
कहा कहूँ कछु कहत न आवे, जियरा अति अकुलावे॥
हरी कब दरस दिखावे॥
ऐसो है कोई परम सनेही, तुरत सनेसो लावे।
वा बिरया कद होसी मुझको, हरी हँस कंठ लगावे॥ पिया०॥

वज्र हृदय वाले, बिना स्वजन कुटुम्ब वाले, सामाजिक सम्बन्धों से बिल्कुल ही अज्ञान, खून करके हाथ पोंछने के लिए भी बेपरवाह, जड़ स्वभाव वाले साधुओं के हृदय में भी इस सादे हृदयभेदक गायन से संक्षोभ उत्पन्न हो गया। कुछ देर के लिए तो उन्होंने प्रेम स्फुरणा की पवित्रता को स्वीकार ही किया; प्रेम-सरिता की तरंगों ने उन्हें प्लावित कर दिया, निर्मल बना दिया।

प्रेम हृदय की प्रज्जवलित, आकुलतापूर्ण अवस्था में प्रेम-गायन के गाने और सुनने में सच्चा शिक्षण समाहित रहता है। मनुष्य की स्वभाविक जड़ता, जंगलीपन को नष्ट कर जो उसे वास्तविक मनुष्य बनावे उसी का नाम शिक्षा है।

सब ने एक स्वर में तनमन की प्रशंसा की।

'हाँ' कुछ देर इधर-उधर देखकर जानकीदास ने कहा—'सीताजी तो हैं परन्तु रामजी किधर चले गये ?'

'वह बेचारा सो गया होगा। जा बेटी तनमन ! तू भी जा। आज तूने खूब रंग जमाया।'

तनमन ने उठकर इधर-उधर देखा। परन्तु जगत कहीं भी दिखाई नहीं दिया।

जानकीदास उतरे हुए सितार का तार ठीक करने लगे। आ....आ...आ... करके खाँसकर, अलाप की खिल्ली उड़ाते हुए गाना प्रारम्भ किया। पन्द्र मिनट पश्चात् सुर की तानाती में से कुछ अर्थ समझ पड़ा—

'अरे मन लाग्यो मेरो हाल फकीरी में।'

तनमन जगत को खोजने लगी। आठ-नौ वर्ष की बालिका में भी स्वभाव की आश्चर्यजनक विलक्षणता होती है। उसे विश्वास था कि इस प्रकार उसे अकेली छोड़कर जगत का जाना निष्कारण नहीं हो सकता। पास ही एक कोठरी में एक बिछौने पर जगत पड़ा हुआ था। धीरे-से जाकर तनमन उसके पास बैठ गई। फिर उसकी पीठ पर लुढ़क गई। किन्तु वह नहीं बोला। तब इधर-उधर घूमाकर देखा। परन्तु वह आँखें मूदे रहा। मानो होंट हिलाने की सौगन्ध ली हो। क्रुद्ध जगत इस प्रकार मानने वाला नहीं था।

'ओ लाड़ले किशोर! बोल न, जरा आँखें खोलकर ऊपर तो देख!' कह कर तनमन दोनों हाथ से उसे चित करने लगी। बहुत हिलाने-डुलाने पर आखिर जगत बोला—'जा तू जा, हँस बोल। मुझसे तुझे क्या मतलब रखा है?'

प्रेम का स्वत्व हमेशा निराला होता है।

'देखो, किशोर! ऐसा क्यों कह रहे हो? यदि तुमने कहा होता तो मैं नहीं गाती!'

तनमन जरा खेदपूर्ण स्वर में फिर बोली, 'भाई देखो ऐसा करोगे तब तो कुछ नहीं बनेगा। देखो! मैं तो अब थोड़े ही दिनों की मेहमान हूँ।'

एकदम जगत में जीवन आ गया, तुरन्त उठकर बैठ गया और बोल उठा—'क्यों?'

'हैं, कैसा बोल उठा! धत्तेरे ढोंगी की!'

'नहीं, नहीं; पहले बता न, थोड़े ही दिन क्यों?'

'हाँ, यह तो मैं भूल गई थी, हम तो जाने वाले हैं।'

'कहाँ? कब? मेरा क्या होगा?'

'पिताजी की बदली होने वाली है; वह कल कह रहे थे।'

'सचमुच?'

'हाँ!'

'तनमन! तेरे बिना मैं क्या करूँगा?' बचपन की बातचीत छलहीन और निर्दोष होती है किन्तु उसमें भी गहनता दिखाई पड़ती है। 'मुझे कैसे अच्छा लगेगा?'

'परन्तु मैं फिर वापस आऊँगी न!'

जगत ऐसा हो गया मानो भयंकर दुःख आ पड़ने वाला हो।

'वह कैसे ? तुम्हारे पिता जी की भला फिर यहाँ बदली होगी ?'

दोनों विचार में पड़ गये। एक-दूसरे को उदास-उदास दृष्टि से निहारने लगे। तनमन ने एक उपाय ढूंढ निकाला और बोली, 'मैं पत्र लिखूंगी न और बड़ी होने पर आऊँगी भी।'

यह बात जगत को कुछ ठीक जँची। उसने छाती फुलाकर कहा, 'हाँ, मैं भी बड़ा होऊँगा और कमाऊँगा तब हम सब एक साथ रहेंगे। मैं, तुम और माँ।'

'तब हम विवाह भी करेंगे।' एकाएक मानो बाल-अज्ञान रूपी अंधकार में प्रकाश हुआ हो इस प्रकार तनमन बोली, फिर विचार में पड़ गई, 'परन्तु किशोर ! तुम भूल जाओ तब ?'

'मैं भूल जाऊँगा ?' गर्व से जगत बोला। इस छोटे वय में भी उसने कथा-वार्ता का अच्छा अध्ययन किया था, फलस्वरूप भाषा से बिलकुल अनभिज्ञ नहीं था। 'मैं भूल जाऊँगा, अपनी देवी को ? कभी नहीं भूलूंगा, तुमने समझ क्या रखा है ?'

'मेरी सौगन्ध !'

'तुम्हारी सौगन्ध, इधर आओ !' कहकर मन्दिर की कोठरी में तनमन का हाथ पकड़कर जगत ले गया और मूर्ति के सामने जाकर खड़ा हो गया।

'रामचन्द्रजी की शपथ लेता हूँ कि तुम्हें नहीं भूल सकता, अब हुआ ?'

पाँच मिनट बाद बालकों के मन में गम्भीरता का संचार हुआ। दूर से राम-कृष्णदासजी की ऊँची आवाज सुनाई दे रही थी, रामनाम की लूट है···आ···

एक विलक्षण पल बीत गया। दोनों बालकों के हृदय का भार कम हुआ और दोनों एक दूसरे के मुँह को निहारा। मेरा किशोर ! मेरी देवी ! कह कर दोनों ने एक दूसरे का हाथ अपने हाथों में ले लिया।

प्रातःकाल छः बजे रामकृष्णदासजी ने भजन समाप्त किया और भैरवी की तान ललकार कर बालकों को ढूँढने के लिये चल पड़े। बिछौने पर दो अधखिली कलियों के समान दोनों बालक सो रहे थे। बिलग होने के भय से उन का हाथ एक दूसरे के हाथ में था। प्रातःकाल बाल-सूर्य की सुनहरी किरणें दोनों के सुन्दर मुख पर पड़ रही थीं। दोनों के प्राण, उनके शरीर के सुकोमल प्राण, ब्रह्माण्ड की सफलता के समीप आत्म-समर्पण की विशुद्ध वेदी के आगे मानो प्रेम-ग्रन्थि में ग्रन्थि होते हों; ऐसा जान पड़ा।

स्वर्ग में देव-देवियां सम्भवतः ऐसे ही विवाह-संस्कार से सम्पन्न होते होंगे !

५

लड़कों से छुटकारा पाकर थोड़ी देर पश्चात् रघुभाई राजमहल जाने के लिए निकला। वह विचार करता हुआ, मन में अनेकों प्लाट गढ़ता हुआ, वहाँ जा पहुँचा। दीवानगिरी कितनी दूर है; उसका मन दूरी माप रहा था। रेवाशंकर ने राज्य में इतना प्रभुत्व जमा लिया था कि उनके जीवित रहते यह पद प्राप्त करना किसी के लिए भी असंभव-सा था। राज्यतंत्र में किसी प्रकार की निर्बलता या पक्षपात कहीं दिखाई नहीं पड़ता था, कि जिससे रघुभाई को लाभ उठाने का अवसर हाथ लगता। सभी कुछ यथावत चल रहा था। केवल रेवाशंकर का अन्याय अधिक पैसा इकट्ठा करने में और कम से कम खर्च करने में दिखाई देता था। मारवाड़ी की कोठी के समान, प्रत्येक वस्तु से पैसा झरता था। राजासाहब को भी ऐसे दीवान ही की आवश्यकता थी। जो उनके आनन्द के लिए यथेष्ट धन दे, फिर राज्य भले ही रसातल में चला जाए।

विचार में गतिरोध पड़ा। महल की चौड़ी सीढ़ी से कोई उतर रहा था। वह रघुभाई से टकरा गया।

'कौन ? रघुभाई साहब ! क्षमा करना भाई साहब, चम्पा को खबर करने जा रहा हूँ कि आज हजूर साढ़े आठ बजे आयेंगे।'

'जाओ, भाई ! जाओ।' हँसकर रघुभाई बोला। उसके मन में एक विचार आया। चम्पा को आये एक मास हो गया और अभी भी उसके जाने का कोई संकेत नहीं दिखाई दे रहा था। राजासाहब के अस्थिर मन पर चम्पा यदि चिर-स्थायी असर करे तो वह भी साधने लायक है या नहीं ?

सीढ़ी के बगल में दीवानखाना था, वहाँ वह गये। जिसे राजाजी से भेंट करना होती, उसके लिए प्रतीक्षारूपी तपस्या करने का यही स्थान था। राजा साहब हमेशा सन्ध्या समय पाँच बजे सो कर उठते और घंटा भर के लगभग राज्य का कोई काम-काज हो तो उसे करते; इसी समय कोर्निश बजाने की प्रबल इच्छा रखने वाले उत्सुक उत्साही व्यक्तियों को एक के बाद एक दीवान साहब अन्दर बुलाते थे।

रघुभाई ने भीतर आकर दायें-बायें देखा। आठ-दस दर्शनाभिलाषी सज्जन एकत्र होकर बातें कर रहे थे। एक ओर बरामदे में रघुभाई ने एक गेरुआ वस्त्र पहने एक सन्यासी को देखा और वह तुरन्त उसे पहचान गया। क्या यह वही सन्यासी है ? दो घंटे पूर्व तो यहाँ उसके यह भीख माँगने आया था। यह कौन है ? यह जानने की उत्सुकतावश दूर से सन्यासी के मुख ने उसे आकृष्ट किया। खुशामदियों की सलामी स्वीकार करते हुए व उच्चपदस्थ को तलाश करते हुए

रघुभाई कमरे में से होते हुए बरामदे में गये। सन्यासी रणसिंह के साथ कुछ बातें कर रहे थे। उनका मुक्त-हास्य रघुभाई के कानों में पड़ा।

'क्यों रणुभा! क्या बातचीत चल रही है?' वाणी में मिठास भर कर रघुभाई ने चुटकी ली।

रणसिंह अर्थात् रणुभा राजा साहब के भतीजे थे, राज्य में यह भी एक जानने योग्य व्यक्ति थे। सीधे-सादे सरल रणुभा का जीवन एक ही कुञ्जी से खुलता था—कुत्ते जैसी नमकहलाली द्वारा बालपन से अब तक उन्होंने राजा-साहब की सेवा की थी। वे बहुत ही कम बोलते थे, किसी के बीच में पड़ना उन्हें अच्छा नहीं लगता था। उनका यह अभ्यास अच्छा था। राजासाहब के साथ एक-दो बार विलायत की सैर भी कर आये थे। वह विचारशील और अभ्यासी थे, किन्तु संकुचित मस्तिष्क की विचारशीलता जहाँ की तहाँ बनी रह गई थी। दूसरे की भूल वे देखते अवश्य थे किन्तु उसे बताने की इच्छा अथवा साहस उनमें नहीं था।

'अहा! आइये कोतवाल साहब!'

'ओ हो हो, स्वामी महाराज!' रघुभाई ने चाभी बदली, और इस प्रकार बोले मानो पहले ही घनिष्ट मित्रता हो। भिक्षा माँगने के लिए दरवाजे पर कोई आए तो उसे दुत्कारा जा सकता है किन्तु राजमहल में स्वामीवत् जो खड़ा हो और रणुभा जिसके प्रति ऐसा पूज्यभाव प्रदर्शित करते हों, उसके साथ तो पहले की जान-पहचान दिखाना ही उचित प्रतीत हुआ, अन्यथा रजवाड़े में कोई टिक नहीं सकता। रघुभाई ने स्वामीजी पर एक दृष्टि डाली। उनमें रघुभाई के घर पर जो नम्रता थी, उसमें कमी आ गयी थी। आत्मनिष्ठा अधिक दिखायी दे रही थी। अधरों पर तिरस्कार की आभा स्पष्ट झलक रही थी। जगद्गुरु एक भद्र प्राणी की वन्दना जिस प्रकार स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार आँख की पलक से स्वामी ने जवाब दिया और रणुभा की ओर घूम पड़े तथा अधूरी बात फिर आगे बढ़ी। स्वामीजी का उच्चारण परदेसी जैसा मालूम पड़ता था, किन्तु बोली से अमृत बरसता था। वाणी में एक आश्चर्यजनक गाम्भीर्य और प्रेरणा थी।

'देखो रणुभा! यह निकृष्ट स्वार्थ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। धन का संचय कर उसका उपभोग न करने वाले को ही कंजूस कहते हैं। तुम्हारा विनीत-भाव और ज्ञान किस काम का? अपने राज्य को उसका लाभ न दो तो उसके लिए अपराधी तुम हो। तुम्हारे जीवन की भावना मैंने समझी, किन्तु ऐसी तुच्छ भावना तो एक मतिमन्द ही रख सकता है न कि रणुभा। तुम्हारा कुल-धर्म क्या है, उसे भूल जाना मात्र ही बहुत बड़ा पाप है। अज्ञान, व्यभिचार, नशे में गधा बना हुआ कोई राजपुत्र चाहे जो जीवन पसंद करे, चाहे

जैसे रहे, उसको सभी तरह की छूट है। परन्तु तुम्हें क्षत्रिय-धर्म के योग्य प्रवृत्तियों को स्वीकार करना आवश्यक है। भले ही नौकरी चली जाय; किन्तु देश-सेवा और जन-सेवा में ही तुम्हारा गौरव है। क्षात्रात् त्रायते इति क्षत्रिय : अर्थ न हो तो अपनी जाति भी बदल डालो।' कहकर स्वामी जी हँसे। रणुभा लज्जित हुए। रघुभाई तो इस शब्द-प्रवाह के आगे मूक के समान खड़ा रहा। वह मन में कुछ गिन रहा था।

स्वामी ने रणुभा की पीठ ठोकते हुए कहा, 'रणुभा ! अभी समय है, चेत, जाओ। बोलो वापस कब आओगे ?'

'हो सकेगा तो शीघ्र आऊँगा ! अभी तो हुजूर छोड़ नहीं रहे हैं।'

'यह तो तुम्हारा कोतवाल है न ?' अधोमुख खड़े हुए रघुभाई को संकेत करते हुए स्वामी ने पूछा।

'जी हां !'

रघुभाई को स्वामी की व्रती दृष्टि स्टीमर की सर्चलाइट के समान लगी; ऐसा ज्ञात हुआ मानो उसके अन्तर के अकल्प्य विचारों को स्वामी देख लेंगे। रघुभाई अपने हृदय को अगम्य समझते थे। आज उन्हें वह अगम्यता हाथ से निकली जाती हुई प्रतीत पड़ी। जीवन में पहली बार जरा न चे देखते हुए वह खड़े रहे।

'कोतवाल साहब ! लोगों के संरक्षण के लिए कौन से उपाय काम में ला रहे हो ?' दूसरे किसी ने रघुभाई को इस प्रकार गंभीरता से सम्बोधन किया होता तो वह उसका नाम अपनी ब्लैक लिस्ट में लिख लिए होते। पर आज स्वामी के प्रति उमड़ता हुआ द्वेष भी ऊपर नहीं आ सका। उनके तेज से, एक मनुष्य के तेज से, प्रथम बार वह हवा। उत्तर देने के लिए मन में खोज की; किन्तु कोई भी उत्तर न सूझ पड़ा।

'कौन-सा मार्ग लें ? जैसे-तैसे चल रहा है।'

'जिस कार्य में मार्ग न दिखाई दे उसे छोड़ देना ही उचित है, त्याग-पत्र दे दो। दूसरा कार्य जो मन को रुचे वह कार्य-स्वधर्म ढूंढ लो।' जरा हंसते हुए स्वामी ने कहा। रघुभाई तो मूकवत् खड़ा रहा। वाचाल जीभ ने भी आज जवाब दे दिया था।

रघुभाई को अपने पर तिरस्कार आ रहा था। आज उसमें लड़कपन का स्वभाव कहाँ से आ गया ? नीति-निपुणता सब जाने कहाँ चली गई ?

'कोई बात नहीं। जहाँ भूल की है वहाँ से फिर चलो कोतवाल ! तुम्हारा उत्थान निश्चित है।' कहकर रघुभाई पर एक सारगर्भित दृष्टि डालकर स्वामी जी वहाँ से हटे और एक हुजूरिया के साथ जो उन्हें बुलाने आया था, राजा साहब के निजी कमरे में गये।

'यह कौन हैं रणुभा ?'

'तुम नहीं पहचानते ? ये बारतमठ के स्वामी जी हैं।'

'इनका नाम क्या है ?'

'अनन्तानन्दजी; बड़े विद्वान् हैं।'

'जी हाँ, ऐसा ही लगता है।' अनन्तानन्द की उपस्थिति से हतप्रभ रघुभाई के हृदय में विष व्याप्त गया। थोड़े समय में ही उसने देख लिया था कि स्वामी सचमुच महात्मा हैं। उनके सामने यह बालक है। कुछ भी नहीं छिप सकता। दुष्ट और कुटिल के हृदय में जब अभिमान प्रवेश करता है तो मिश्रण भयंकर होता है और ऐसे हृदय वाले के अभिमान को यदि ठेस लगे तो उस में विष व्याप्त हुए बिना नहीं रहता। रघुभाई अपनी नई योजना गढ़कर अपने कांटे पर अनन्तानन्द को तौलने लगा।

'रणुभा ! यह यहाँ क्यों आये हैं ?'

'बात यह है कि बारत के मठ को अब तक ३०००) रु० वार्षिक मिलता था, उसे दीवान जी ने १५००) कर दिया है, जिससे मठ के गुरु करुणानन्द सरस्वती की ओर से यह आए हैं।'

'तब ये गुरु नहीं हैं ? इनके गुरु कैसे हैं ?'

'नहीं जी ये तो पाँच वर्ष से ही आये हैं। इसके पहले तो करुणानन्दजी बिलकुल स्वस्थ थे। अब उनमें न कुछ अधिक शक्ति ही और न ओज। कुछ वर्ष हुए करुणानन्दजी के गुरु बारत आये थे। वहीं उन्होंने अपना शरीर छोड़ा। अनन्तानन्दजी को वह अपने ही साथ लाये थे। करुणानन्दजी की भी वृद्धावस्था थी, उन्हें अपने बाद गुरु-पद को सुशोभित करने के लिए ऐसा कोई दिखाई नहीं दे रहा था, इसीलिए अनन्तानन्द जी को ही रख लिया।'

'अच्छा !'

इतने में भीतर से एक हुजूरिया रघुभाई के पास आकर उनसे बोला—रघुभाई ! आप यहीं हैं न ? जाइयेगा नहीं।'

'क्यों ?'

'दीवान जी ने मेरे कान में कहा है कि देख आओ आप बाहर हैं या नहीं।'

'क्यों, बात क्या है ?'

'हुजूर और उस स्वामी में कुछ चखचख चल रही है।'

रणुभा तो राजासाहब के खास व्यक्ति थे। इसी से वह सब कुछ जानते थे; उनसे कुछ छिपा नहीं था। यह सुनकर वे कुछ चिन्ताग्रस्त हो गये और उद्विग्न हो भीतर के कमरे की ओर देखने लगे। थोड़ी देर बाद एक कमरे में आदमियों की भीड़ की ओर उनकी दृष्टि गई और धीरे से वे वहीं से सटक गये।

रणुभा इधर-उधर देखते हुए सीढ़ी से होकर पास ही के दूसरे दीवानखाने में गये। यदि इसे राजासाहब का आमोद-प्रमोद गृह कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। राजासाहब के मन-संतुष्टि के लिए सब प्रकार की सामग्रियाँ वहाँ पर थीं। उन पर ध्यान दिये बिना रणुभा उस कमरे से होते हुए पास के बरामदे में गये। उनका चेहरा गम्भीर हो गया था। वे अपने मन को वश में करने का प्रयत्न कर रहे थे। परन्तु निष्फल हुए।

वहाँ एक गद्दी पर करीब तीस वर्ष की एक कोमल युवती निश्चेष्ट पड़ी थी—उदासीन सी। बहुमूल्य वस्त्रालंकार भी वह बिलकुल उपेक्षा से पहने हुई थी; आलस्य में निश्चिन्त आँखें मींचकर वह लेटी थी। चम्पा में निश्चिन्तता की सबसे अधिक प्रधानता थी। उसके आकर्षण का मूल कारण भी यही था। राजासाहब ने घूम फिर कर बहुत कुछ अनुभव किया था, किन्तु ऐसी स्त्री पहली बार ही देखी थी और देखते ही उसके वश में भी हो गये थे। कुछ देर तक रणुभा उसे देखते रहे फिर बोले—'चम्पा!'

'क्या है?'—चम्पा ने उत्तर इस भाव से दिया मानो बोलने में उसे बहुत कष्ट हो रहा है।

'इस प्रकार क्यों पड़ी हो?'

'तब क्या करूँ? आपके राजासाहब तो तोबा!'

'चम्पा, मुझे क्यों ठग रही हो? इस प्रकार मुझे क्यों नचा रही हो?'

'मैं नचाती हूँ कि आप स्वयं नाच रहे हैं?' मानो बोलने में बड़ा परिश्रम पड़ रहा हो, इस प्रकार करवट बदलते हुए चम्पा बोली—मैं कब कहती हूँ कि मेरे साथ बात-चीत कीजिए? हजूर क्या कर रहे हैं?'

हजूर की बात से रणुभा फिर चकित होकर बोले—'कुछ काम-काज कर रहे हैं।'

'रणुभा! वह बाबा कौन है जो अभी थोड़ी देर पहले यहाँ से गया है?'

'बारत के स्वामी जी हैं।'

'अच्छा!'

'जरा इधर तो देखो!'

'जी नहीं, आँखें दुःख रही हैं। आज रात में हजूर के सामने गाना है। रणुभा! मेरा एक काम कर दोगी? मेरे डेरे पर जाकर जरा मेरे आदमियों को बुला लाओगे?'

रणुभा समझ गये कि मुझे यहाँ से हटाने की यह युक्ति है। 'अच्छा!' कहकर बोझिल मन से आह भरते हुए धीरे-धीरे वे बाहर चले आये।

६

रत्नगढ़ के स्वामियों का इतिहास गुजरात के इतिहास के साथ पहले से ही सम्बद्ध होने के कारण जानने योग्य है। रत्नसिंह सोलंकी ९२२ ई० में साधारण परिवार में उत्पन्न हुए थे और साढ़े छः फीट के शरीर और श्रेष्ठ वंश के अतिरिक्त कुछ भी दायभाग शायद ही साथ लाए हों। परन्तु उनका भाग्य और साहस अद्भुत था। गुर्जर-इतिहास के मानव रत्न मूलराज ने अपने कुटुम्ब में जन्म लिया। बालपन से ही रत्ना सोलंकी ने अपना भाग्य अपने रिश्तेदार के साथ सम्बद्ध कर दिया और उनकी उन्नति के मार्ग को ही उन्होंने ग्रहण किया। लाखा के विरुद्ध मूलराज को लड़ाई में उतरने का अवसर आया, तब रत्ना सोलंकी के सद्भाग्य से एक प्रचण्ड सेनानी ने ऐसा भयानक आक्रमण किया कि वह मूलराज का भाग्य-सूर्य अस्त करने का कारण होता; किन्तु रत्ना पास में ही था। अपने रिश्तेदार को, राजा को, बचाने के लिए उसने अपना बायाँ हाथ आगे बढ़ाया और उसे कट जाने दिया। इस महान् कृत्य से प्रसन्न होकर गुर्जर-नरेश ने रत्ना सोलंकी को एक छोटी-सी जागीर उपहार रूप देकर रत्नगढ़ बसाने की आज्ञा दी।

मूलराज के जीवन तक रत्नगढ़ उनके आधीन रहा। उनके स्वर्गवास के दिन से रत्ना सोलंकी स्वतन्त्र होकर राजा रत्नसिंह बन गये। बीस वर्ष पश्चात् राजा रत्नसिंह संसार त्याग साधु बन गए; परन्तु अपने पीछे भी अजित वीर की लता छोड़ते गए। सोलंकी वंश के इन अभिमानी वीरों ने जब तक अणहिलवाड़ में सोलंकी रहे तब तक उनके नाम का चक्रवर्तीपन स्वीकार किया, केवल सिद्धराज ने ही कुछ समय तक राजस्व-कर लेकर अपने सम्राट् पद का अधिकार सिद्ध किया था। बघेलाओं के साथ उन्होंने वैर कर ही लिया था। उस समय से लगभग ९०० वर्षों तक मराठों का सूर्य-अस्त होने तथा अँग्रेजों के सूर्योदय तक रत्नगढ़ के रणवीर प्रायः स्वतन्त्र ही रहे। लड़ते-झगड़ते हुए, बड़े राज्यों के तूफान में लाभ और हानि उठाते हुए, रण में पराक्रम दिखाते हुए रत्नसिंह के वंशज अपनी स्वभावजन्य वीरता प्रदर्शित करने से चूकते नहीं थे। इतने वर्षों तक इनकी लताओं में उन्मत्त, जंगली, साहसी राजा ही फूले; एक भी हतवीर्य नहीं निकला। अन्त में अंग्रेजी साम्राज्य के प्रारम्भ में तेजसिंह सोलंकी ने अपने कुटुम्ब का स्वभाव छोड़कर, आने वाले राज्य की शक्ति का अन्दाज लगाकर लाभप्रद मन्त्रणा की और हाथ की अपेक्षा बुद्धि के पराक्रम से राज्य-वृद्धि करने में सफल हुए। उनके पौत्र जगवन्तसिंह उस लता के वर्तमान खिले हुए पुष्प थे।

जसुभा—युद्ध सम्बन्धी शूरवीरता के न रहने से 'सिंह' पद अर्थहीन हो गया था—विशेष जानने के योग्य व्यक्ति थे। लड़कपन से मौज उड़ाना ही इन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य बना रखा था। बुद्धि में, वीरता में अथवा किसी भी गुण में वे अपने कुटुम्ब-जन के उच्चपद को लज्जित करें, ऐसी बात नहीं थी। किंतु राजकुमारों को विशेष रूप से दिये जाने वाले शिक्षण की विशेषताओं के कारण अथवा विलासी विलायत में स्वच्छन्द भ्रमण-जनित स्वार्थी विषय-लालसा से, इनके जीवन में 'कष्ट' ही सबसे बढ़कर भय था। सुख को ही कुछ लोग सुखद प्रवृत्ति मानते हैं किन्तु जसुभा बिना कष्ट के मिलने वाले सुख को ही सच्चा निर्माण मानते थे। दौड़कर क्रिकेट खेलना अथवा कष्ट करके सैर के लिए जाना, इनके लिए दुःखद कार्यक्रम था। वह अपने आप सुख भोग करें, उसमें कोई बाधा न डाले, इसे ये अपने राजा के पद का स्वत्व समझते थे। इसलिए रेवाशंकर द्वारा कष्ट दिये बिना राज्य-तन्त्र चलाए जाने में इन्हें किसी प्रकार की भी आपत्ति नहीं थी।

अत्यावश्यकतावश यदि काम करना ही पड़े तो उसके लिए एक कमरा अलग रख छोड़ा था और इस कार्य के लिए सन्ध्या का समय नियत था। इस कमरे में साधारणतः वे सप्ताह में दो बार आते थे अन्यथा यह रेवाशंकर का आफिस होता था। राजासाहब जब वहाँ पधारते तब एक विलायती आरामकुर्सी पर लम्बा पैर फैलाने का कष्ट कर सिगार पीते हुए विलायत में प्रकाशित सस्ते उपन्यास अथवा नवीन निष्कृष्टतम कहानियाँ पढ़ा करते थे। बहुत हुआ तो यदि रेसिडैंसी में कोई पत्र लिखा गया होता और जिस पर उनके हस्ताक्षर की आवश्यकता होती तो उसपर टेढ़ा-मेढ़ा हस्ताक्षर कर देते। इसके लिए एक सुशोभित मेज और 'रिवाल्विंग' (घूमने वाली) कुर्सी थी। जो प्रायः उनका सिगार-बक्स रखने के ही काम आती।

आज एक बड़े-से सिगार के धूएँ में अपनी आँखें बन्द किए हुए राजा साहब पड़े हुए थे।

'रेवाशंकर! यह क्या प्रपंच खड़ा कर रखा है? तुम्हें वेतन किसलिए देता हूँ?'

परन्तु सरकार! यह बाबा मानता ही नहीं तो मैं क्या करूँ? यह कहता है कि आपसे मिले बिना मैं यहाँ से जाऊँगा ही नहीं।' नाक पर रखे चश्मे में से छोटी आँखें टिमटिमाते हुए रेवाशंकर बोला—'साढ़े तीन बाबाओं के लिए पन्द्रह सौ रुपया क्या कम है?'

'किन्तु आज मैं यह बकवास कहाँ तक सुनूंगा? वहाँ चम्पा कुड़मुड़ा रही होगी।'

'हुजूर! वह तो बाहर खड़ा है और कह रहा था कि यदि आप

नहीं मिलेंगे तो मजलिस में आकर मिलेगा।'

'कैसी विपदा है ! जाओ तब बुला लाओ।' कहकर राजासाहब ने एक गहरी निःश्वास ली। यदि उनमें शाप देने की शक्ति होती तो वह उसी का अवलम्बन करते। इसके बदले में धुएँ का एक चक्र उनके मुँह से बाहर निकला।

थोड़ी देर में दरवाजा खुला और अनन्तानन्दजी भीतर आए। बाहर जो हँसते हुए स्नेहपूर्ण शब्दों में शिक्षा दे रहे थे, उस स्वामी में यहाँ आते ही स्पष्ट परिवर्तन दृष्टिगोचर हो रहा था। चेहरे पर तनिक कठोरता और दृढ़ता अधिक हो गई। कर्तव्यपरायणता चमक रही थी। इस स्वरूप में स्वामी यूरोपीय इतिहास के कार्डीनल मन्त्रियों जैसे अथवा दिग्विजय करने के लिए तत्पर चाणक्य भगवान के समान दिखाई दे रहे थे। एक व्यक्ति की ऐसी स्वाभाविक भिन्नता—प्रसंगवशात् मनुष्य के भिन्न-भिन्न गुणों का एक ही स्थान में प्रदर्शन—वह आर्यचारित्र्य की भावना की पराकाष्ठा है। अपने यहाँ पूर्णता का अर्थ प्रकृति रूप हो जाना है। जो प्रकृति वसन्त में प्रस्फुटित होती है, हँसती और हँसाती है, वही एक पल में संसार को प्रचंड मेघगर्जना से कम्पित भी कर देती है रोती और रुलातीं हैं, फिर भी हृदय में शान्ति बनी रहती है। मानव जीवन की भी यही अपनी निजी भावना है।

अनन्तानन्द सीधे राजासाहब के सामने गये और रेवाशंकर की ओर पीठ करके खड़े हो गये।

'नरेश ! आशीष !'

अपेक्षायुक्त आँखों से जसुभा ने उन्हें देखा, क्षण भर देखते रहे। राजा अन्दर से सब कुछ समझने की शक्ति प्रदर्शित कर रहे थे। अनन्तानन्द का प्रभाव क्षणमात्र में वे समझ गये, किन्तु इतने श्रम के पश्चात् ही आशीर्वाद स्वीकार करने के लिए अपना सिगार वाला हाथ उन्होंने हिलाया।

दो मिनट तक तीनों में से कोई भी नहीं बोला। स्वामीजी की तेजस्वी आँखें दया व तिरस्कार से जसुभा को देख रही थीं। रेवाशंकर का तो स्वामी के शरीर के पीछे सर्वग्रास ग्रहण-सा हो गया था। पर अन्त में तलवार की धार जैसी दृष्टि के सामने जसुभा घबरा ही तो उठे।

'कैसे हैं महाराज ?'

'सब सच्चिदानन्द की कृपा है।'

जसुभा धीरे से हाथ की सिगार रखकर जरा स्वस्थ होकर बोले—'महाराज आप मुझ से भेंट करना चाहते थे ?'

'गुरूजी की ऐसी ही आज्ञा हुई है।'

'बहुत ठीक, बताइये क्या काम है ?'

'क्षमा कीजिये, अभी आपसे मिला हूँ अपने राजा से नहीं।'

'यह तो एक विचित्र बात है।' अँग्रेजी में जसुभा बड़बड़ाये। यह भेद बताने का साहस करने वाला उन्हें आज प्रथम बार मिला। होशियार राजा को यह स्वामी विचित्र लगा। मन में उसकी थोड़ी प्रशंसा की, कुछ हँसा—'तब मैं कौन हूँ?'

'इस समय आप केवल जसुभा हैं, आप में राज्यपद को सुशोभित करने वाली प्रवृत्ति प्रकट हो उस समय तक मैं यहाँ खड़ा हूँ। अपनी अभ्यर्थना आपके सन्मुख आपकी इस स्थिति में रखना मैं अनुचित और हेय समझता हूँ।'

अनन्तानन्दजी की आँखों में किसी बालक की भर्त्सना करने जैसी स्नेहपूर्ण कठोरता थी। यह देखकर जसुभा के मन में कुछ लज्जा का प्रादुर्भाव हुआ, किन्तु उनका कोमल मन ऐसे विचारों में अधिक समय व्यतीत करने का कष्ट करे, यह असम्भव था।

'स्वामी जी! इस शिक्षा के लिए धन्यवाद। अब आपको जो कुछ कहना हो दीवान जी से कह दीजियेगा, वे मुझसे पूछकर यथोचित आज्ञा दे देंगे।'

'क्षमा कीजिये, मैं माँगने आया हूँ तो मालिक से ही माँगूगा। लोगों पर राज्य करने का अधिकार आपका है। उनकी आत्मा पर राज्य करने का अधिकार मेरे जैसे संसार के जंजाल से विरक्त परमानन्द को प्राप्त करने का प्रयत्न करने वाले का है। अधिकारी अधिकारी से ही कह सकता है।'

पीछे बैठे हुए रेवाशंकर हतप्रभ हुए। उन्हें कोई तुच्छ समझे, यह उन्हें अच्छा नहीं लगा; साथ ही यदि राजासाहब उसकी मांग स्वीकार कर लेंगे तो १५००) रुपया व्यर्थ ही नष्ट हो जायगा। वे उठे और एक हाथ में चश्मा तथा दूसरे हाथ से कागज-पत्र सँभालते हुए सामने जाकर खड़े हो गए। जसुभा ने देखा कि यह स्वामी रेवाशंकर को तनिक नम्रता का पाठ सिखाने में समर्थ हुआ है। उनके मन में भी जरा कुतूहल हुआ। अनेकानेक वर्षों के पश्चात् आज कुर्सी पर लेटे बिना ही वे बातचीत करने लगे।

'देखिये स्वामीजी! मेरे पास अधिक समय नहीं है, जो कुछ आपको कहना हो, थोड़े में कह दीजिये।'

'सरकार मैं आपको बताये देता हूँ।' रेवाशंकर जरा तनकर बोले—'इन्हें वार्षिक ३०००) रु० मिला करता था जिसे आपने १५००) कर देने की आज्ञा दी थी। उस आज्ञा को वापस कर लेने के लिए ये बाबा...कहकर अनन्तानन्द की ओर हाथ से संकेत किया।

स्वामी के नेत्रों में से निकलने वाली विद्युत् जैसी शक्ति ने रेवाशंकर को परास्त कर दिया। बिना वाक्य पूरा किये ही उनके मुँह को बन्द कर दिया।

'महाराज अपनी ओर से प्रार्थना करने के लिए मुझे भाड़े की जीभ की

आवश्यकता नहीं है। आज हजारों वर्षों से मिलने वाले वर्षासन बन्द होने का कारण ? लोभियों का लोभ पूरा करने के लिए धर्म हेतु होने वाला व्यय बन्द करने में ही क्या राज्य के सब सिद्धान्त प्रयुक्त हो जाते हैं ? आपको उसमें कमी करना हो तो भले ही कीजिये, मेरे लिए दूसरे बहुत से क्षेत्र और भी खुले हैं।'

जसुभा घबरा गए। बातचीत ने तूल पकड़ लिया। बाबा चतुर जान पड़ा। वह अपनी बात छोड़ने वाला नहीं था। आधा बढ़ा देने की इच्छा हुई। इतने में रेवाशंकर बोल उठे—'सरकार आप स्वामी हैं, परन्तु मुझे कहना ही पड़ेगा कि यह लोग धन का अत्यधिक दुरुपयोग करते हैं। कितनी कठिनता से तो हम धन इकट्ठा करते हैं और ये लोग वहाँ बाग-बगीचा लगाने तथा मौज उड़ाने में उसे उड़ा देते हैं। सरकार इन पत्रों को तो जरा पढ़िए।' यह कहकर उन्होंने कागज का एक पुलिन्दा मेज पर रख दिया।

स्वामी दया से हँसे और बोले—'हम क्या करते हैं और क्या नहीं करते, यह तो महाराज जब वहाँ आयेंगे तब स्वयं देख लेंगे, इस समय उनका प्रश्न ही नहीं है।'

'तब इस समय पैसा भी नहीं है। इतना कहकर नाक पर से चश्मा उतार कर रेवाशंकर रूमाल से पोंछने लगा।

इतनी देर बाद जसुभा सिगार जलाते हुए उठे। उनके धैर्य का अन्त आ गया था। 'अच्छी बात है स्वामीजी ! आगामी वर्ष आइयेगा, इस वर्ष तो इतने से ही सन्तोष कीजिये।' कहकर सिगार वाले हाथ से सलाम करके जसुभा दूसरे कमरे में चले गए।

स्वामी जी रेवाशंकर की ओर घूमे—'क्यों दीवान ! तो मेरी माँग निष्फल जायगी न ?'

'जायगी क्या—गई !'

'कुछ भी आशा नहीं है न ?' अनन्तानन्द ने एक मार्मिक दृष्टि फेंककर पूछा।

'नहीं, कुछ भी नहीं; अब तो आशा मेरी मृत्यु के पश्चात् ही कीजिएगा। दूसरा दीवान जब आये तो आना।'

'अच्छी बात है देखूंगा।' कहकर अनन्तानन्दजी धीरे-धीरे वहाँ से बाहर आये। रेवाशंकर ने तुरन्त रघुभाई को भीतर बुलाया।

'रघुभाई ! उस स्वामी को देखा ? जरा उस पर नजर रखना और उनकी चाल-ढाल, आने-जाने की खबर देते रहना।'

७

जगत का सुख बहुत दिनों तक स्थिर नहीं रह सका। दो-चार दिनों में ही हरिलाल की बदली की आज्ञा आ गई और वह जाने की तैयारी करने लगे। दोनों बालकों के जीवन में प्रथम बार दुःख के बादल की छाया पड़ी। अभी वह बड़ा नहीं था, भविष्य में यह बादल प्रलयंकारी वर्षा करेगा या बिखर कर नष्ट हो जायगा, इसका ज्ञान किसी को भी नहीं था। भविष्य में फिर कभी न मिलने की चिन्ता से दुःखी होकर उनकी आँखें डबडबा आतीं। आखिर जाने का दिन भी आ पहुँचा। जगत जिद करके स्टेशन पहुँचाने गया। हरिलाल ने चलते समय उसके हाथ में रुपया रखा किन्तु जगत न तो हँसा और न उसका हृदय रुलाई रोक सका। गाड़ी छूटने के पश्चात् जब तक तनमन का मुख दिखाई पड़ा, उसे देखता रहा। उसकी आँखों से टपटप आँसू गिरते ही रहे।

उसी दिन से जगत को ऐसा मालूम हुआ मानो सूर्य में से तेज ही निकल गया हो; इधर-उधर वह उदास-सा घूमा करता था।

'माँ! मुझे कुछ अच्छा नहीं लगता।' अपरान्ह में जगत ने गुणवन्ती से कहा।

'बेटा, अच्छा लगेगा! जरा धीरज रख।'

'लेकिन माँ! तनमन फिर कब आएगी?'

'यह मैं क्या जानूँ बेटा कि वह कब आएगी? परन्तु इस प्रकार घबराने से कैसे काम चलेगा? संसार में ऐसे न मालूम कितने संयोग और वियोग होते हैं। अभी यह सब समझने में तुम्हें देर लगेगी।'

'क्यों समझने में देर लगेगी भाभी?' रघुभाई की मीठी आवाज बीच में सुनाई दी। वह अभी ही बाहर से आया था।

'कुछ नहीं यह तो मैं जगत को दुःख और सुख समझा रही थी।'

'मुझे भी तो तनिक समझाइए!'

कभी-कभी रघुभाई गुणवन्ती के साथ परिहास में वार्तालाप करते थे। पहले तो रघुभाई का गम्भीर स्वभाव देखते हुए यह विचित्र लगता। कुछ आवाज में और शब्दों में गुप्त भयानक-मर्म जैसा भासित होता। किन्तु घर में एक साथ रहना है—यह सोचकर गुणवन्ती इस ओर विशेष ध्यान नहीं देती थी।

'आपको क्या समझाऊँ? आप तो सब सीखे-पढ़े हैं।'

'नहीं, अभी बहुत कुछ सीखना बाकी है भाभी! आप सदैव इस प्रकार गम्भीर रहती हैं, यह उचित नहीं है। जो मन में आवे कीजिये, जरा भी संकोच करने की आवश्यकता नहीं है।'

'नहीं जी ! संकोच की कौन-सी बात है ? अरे रमा को क्या हुआ ? कमला कहाँ गई ?'—कहती हुई गुणवन्ती वहाँ से चली गई।

ऊपर जाकर रघुभाई झूले पर बैठ गए। झूले के दोलन के साथ उनका मन भी दोलित हो रहा था। गत रात्रि अनन्तानन्दजी ने एक बात कही थी जिससे उनकी प्रत्येक इच्छा सबल हो उठी थी। उनके दो-एक मार्मिक वचन ने रघुभाई के मन में भिन्न ही विचार प्रेरित कर दिए थे। उन्हें दीवानगिरी नजदीक आती हुई दिखाई दे रही थी। स्वामी लोकप्रिय और बुद्धिमान लगता था। परन्तु अपने से स्वामी का अधिक बुद्धिमान हो सकना तो असम्भव-सा था इसका तो रघुभाई को पूर्ण विश्वास था। स्वामी, रणुभा, चम्पा ये सभी क्या उसकी शतरंज के मोहरे नहीं बन सकते ? और इसका परिणाम क्या होगा ? रेवाशंकर का अस्त—रघुभाई का उदय।

दो दिन बीत गए। रघुभाई आज प्रसन्न थे। थोड़े ही दिनों में उन्हें नायब दीवानगिरी मिलने वाली थी। निश्चय ही भाग्य की एक सीढ़ी ऊपर वे चढ़ेंगे। मन में आनन्द था। रघुभाई का मस्तिष्क साधारण मस्तिष्क से भिन्न था। उनका आनन्द, उनका शोक सबसे निराला था। उनके मन मैं-हृदय में सभी कुछ यथा स्थान स्थित था। बिना मतलब की खलबलाहट, समझ में न आवे ऐसा स्नेह-अमाप एवं अपरिमाण अन्तर्वेग जैसी तुच्छ वस्तुओं के लिए उसमें स्थान नहीं था। मस्तिष्क शतरंज की एक बाजी खेल रहा था अथवा यों कहिये कि अंक-गणित के सिद्धान्त को सिद्ध कर रहा था। राजा दीवान-पद, कमला, रमा ये सभी एक के बाद एक मस्तिष्क में घूमते थे सबका निष्कर्ष एक ही था 'रघुभाई' छोटे-छोटे अक्षरों में नहीं बल्कि बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा हुआ 'रघुभाई' था। अच्छा खाना, अच्छा पीना, अच्छा पहनना; और सर्वोपरि लोग उन्हें अच्छा कहें, यही सबका निष्कर्ष था। इसके लिए यदि खून भी करना पड़े तो कोई हर्ज नहीं। किन्तु निष्कर्ष में किसी प्रकार की कमी नहीं आनी चाहिए।

एक अमूल्य रत्न गुणवन्ती उसे आ मिली थी। शतरंज का प्रधान उन्मत्त हो गया था। उसके हृदय में विचारों का भीषण द्वन्द-युद्ध चल रहा था, बिना युद्ध दोनों बातें निश्चित हो जाँय, इसकी वह तैयारी कर रहा था। तैयारी—नेपोलियन जैसे रणवीर को सुशोभित करे—ऐसी दूरदर्शी थी। लोग समझते थे कि रघुभाई मैत्रीवश मित्र के स्त्री-पुत्र का पालन करते हैं, वह उनकी उदारता की प्रशंसा भी करते थे। गुणवन्ती पर भी उसके अगणित उपकार चढ़ रहे थे। वह उस पर आसक्त भी हो सकती थी। एक घर में ही निवास करने से दो-चार वर्ष में सब अपने ही आप ठीक हो जायगा। जो जल्दी करे वह पागल। कमला में इतनी बुद्धि ही नहीं थी कि वह यह सब देख सुन सके और देख भी ले तो उसमें कुछ बोलने की शक्ति नहीं थी। 'कुछ नहीं, मेरा भाग्य चमका है।'

मस्तक पर हाथ फेर कर रघुभाई अपने मन में बोले।

रघुभाई ने उठकर खिड़की खोली। सूर्योदय में अभी कुछ देर थी। अंधेरे में ही नहा-धोकर गुणवन्ती कपड़ा सुखा रही थी और सूरदास की एक प्रभाती धीरे-धीरे गा रही थी। रघुभाई की आँखों में एक नवीन तेज आया। अब तक के व्यवस्थित खेल में अव्यवस्थित वैचित्र्य का झोंका आया। एक मोहरा पागल हो गया, और नियम टूट गया। उसकी श्वाँस तेजी से चलने लगी। वक्षस्थल में न समझ पड़ने वाली गर्मी आई; शाँत स्वभाव में अशाँति-सी फैल गई; अंक-गणित के दृढ़ अभ्यास को बीजगणित के अगम्य अंक दिखाई पड़े। भाग्यवश गुण-वन्ती नीचे मुँह किए टहल रही थी; यदि उसने ऊपर दो प्यासी, बुभुक्षित आँखों को अपने प्रत्येक अवयव को प्राप्त करने की इच्छा करने वाली आँखों को—देखा होता तो वह वहाँ से तुरन्त भाग खड़ी हुई होती।

रघुभाई जब नीचे आया तो उसके ठंढे स्वर में कुछ गर्मी, स्थिर हाथों में कुछ कंपन था। इसके अतिरिक्त नये अंक की उपस्थिति भी प्रतीत हो रही थी। परोसते समय गुणवन्ती का हाथ जब पास आता तो कुछ विचित्र, अकल्पित भावों की वायु उसके अन्तर में बहती। भोजनोपरान्त रघुभाई दरबार में गया।

संध्या के समय रघुभाई आज कुछ जल्दी ही चला आया। उसके पैर प्रसन्नता से नाच रहे थे,नेत्र हर्ष से चमक रहे थे। आज उसे लाभ हुआ था; माँगी मुराद पूर्ण होने की आशा दिखाई पड़ रही थी।

'भाभी!' घर में प्रवेश करते ही रघुभाई बोला—'आज मेरा सितारा बुलन्द है।'

'नायब-दीवान हो गये क्या?' कमला ने पूछा।

'नहीं, और कुछ। क्या दीजियेगा? कुछ दीजिए तो बताऊँ।'

गुणवन्ती ने ऊपर देखा; ऐसी उन्मत्तापूर्ण आवाज, ऐसा हल्का मजाक, रघुभाई में तो पश्चिम में सूर्योदय होने के समान आश्चर्यचनक लग रहा था। उसकी आँखें गुणवन्ती को विलक्षण लालसा में देख रही थीं। गुणवन्ती स्व-भावतः क्षमाशील थी। उसने सोचा—शायद हर्ष में मनुष्यों में ऐसा ही परि-वर्त्तन आ जाता हो।

'क्या है? कुछ कहोगे भी?' कमला बोली।

'नहीं; यह तो भाभी के लाभ की ही बात है, क्या दीजियेगा भाभी? कहिए!'

'मैं भला क्या दे सकती हूँ? परन्तु बात क्या है?'

'आज मैंने जगत की चर्चा हुजूर के सामने चलाई थी। हुजूर ने उसे बड़े होने तक पेंशन देने की आज्ञा दे दी है।'

'ऐं! क्या कह रहे हैं?' कहकर हर्ष से पागल माँ ने पास में ही बैठे हुए

जगत को कलेजे से लगा लिया।

'हाँ, पच्चीस रुपया मासिक मिला करेगा।'

'सचमुच ? चलो, प्रभु ने आखिर कुछ दया तो की। अब मुझे जगत को पढ़ाने की चिन्ता तो नहीं सताएगी। रघुभाई ! आपका यह उपकार मैं कैसे चुका सकूंगी !'

'इसमें उपकार की कौन-सी बात है। मैंने तो अपना कर्त्तव्य-पालन किया है। मैं न करूँ तो और कौन करेगा ?'

'यह तो ठीक है, परन्तु रघुभाई ! आज जेठजी का पत्र आया है। उन्होंने मुझे सूरत आने के लिये आग्रह किया है।' कहकर गुणवन्ती ने पत्र आगे बढ़ा दिया रघभाई ने उसे लिया और कांप उठा। पत्र द्वारा हाथ के स्पर्श से उसके रोम-रोम में विद्युत का संचार हो गया, उसके हृदय का घंटनाद जैसा स्पंद का शब्द कान में गूंजने लगा। तैयार किये हुए सूखे तृण पर अंगारा पड़ गया, वह भभक उठा। शतरंज की बाजी मन में से उड़ गई, एक ही मोहरा रह गया, ठीक है, पीछे उत्तर लिख दूंगा। कहकर वह ऊपर चले गये।

थोड़ी देर पश्चात् गम्भीर विचार में से जैसे जाग्रत होकर जगत बोल उठा—'माँ ! पच्चीस रुपये में तीन आदमी रह सकते हैं या नहीं ?'

'क्यों ?'

'कुछ नहीं यों ही पूछा।'

जगत का छोटा मस्तिष्क कुछ विचार में लीन हो गया था। गुणवन्ती जगत का मतलब आसानी से समझ गई, वह हँसकर बोली—'हाँ, क्यों नहीं ?'

जगत के मन में 'मैं, तुम और माँ इन शब्दों की प्रतिध्वनि हो रही थी।

८

दावानल फट पड़ा—जिससे रघुभाई का गला घुटने लगा। उसकी बुद्धि मानो भ्रष्ट हो गई। 'गुणवन्ती, गुणवन्ती'. की ध्वनि उसके रोम-रोम से निकलने लगी। उसने वस्त्र उतार दिये, बिछौने पर पड़कर आँखें मूंदकर शाँत होना चाहा। किन्तु वह निष्फल हुआ; वह उठा, ज्यों-त्यों भोजन किया। दो-चार चापलूस मिलने आये थे। उन्हें बिदा किया। उन्हें आश्चर्य हुआ कि मीठा, राजनीति निपुण रघुभाई आज इस प्रकार इस नवीन धुन में क्यों है। एक ने कहा—ठीक ही तो है ! यह ज्यों-ज्यों आगे बढ़ेगा त्यों-त्यों बौखलाहट भी बढ़ती ही जाएगी।

सचमुच आज रघुभाई के मन में बौखलाहट थी—लेकिन भिन्न प्रकार की।

काम का बहाना करके रात्रि में रघुभाई लिखने बैठ गया। भोली कमला रमा को सुलाकर स्वयं भी सो गई। दिन का कोलाहल शांत हो गया। घर भर में चारों ओर शाँति थी। कोतवाल साहब इस समय दीवानगिरि के विचार में नहीं थे; बल्कि विकृत मस्तिष्क से गणित में उलझ रहे थे। बीजगणित को अंकगणित समझ कर उल्टा हिसाब कर रहे थे। आज का दिन बड़ा ही शुभ था, गुणवन्ती पर आज उसने उपकार किया था। आज आनाकानी करने में वह जरा सकुचाएगी। रघुभाई उठ खड़े हुए, क्या करे! यह उसकी समझ में नहीं आया।

दूर से कहीं बारह का घण्टा सुनाई दिया। बाहर शाँति थी, केवल रघुभाई के हृदय में ही तूफान उमड़ रहा था। उसकी आँखों में हिंस्र-तेज चमक रहा था। समुद्र ऊपर से शांत दिखाई पड़ रहा था, उसके अन्दर बड़वानल जल रहा था। वह सीढ़ी के पास गया, कुछ देर वहाँ खड़ा रहा। बुद्धिमत्तता ने शिक्षा दी—अस्वीकार करे तब ? लोकनिन्दा हो तब ? सब कुछ अपने हठ से, बुद्धि से वश में करने की रघुभाई की आदत थी। हुजूर वश में हो सकते हैं तब यह क्या है ? एक अस्थिर मन वाली साधारण स्त्री।

धीरे-धीरे वह सीढ़ियों से उतरा। छोटा-सा दीपक पास की कोठरी में जल रहा था। अभी तक गुणवंती सोई नहीं थी, झूले पर बैठी हुई कुछ कर रही थी। जगत बिछोने पर सो रहा था। प्रणय की उष्णतारहित हिमवान हृदयों में एक विशेषता होती है, वहाँ सदैव ठंडक रहती है ; किन्तु जब हिम पिघलने लगा कि बस हुआ सब पानी। रघुभाई को लगा कि उसके हृदय की धड़कन बन्द हो गई। दरवाजे के पीछे वह खड़ा रहा—थोड़ा आगे बढ़ा। धीरे-धीरे झूला पास आता जा रहा था। गुणवन्ती सिर नीचा किये अपने काम में व्यस्त थी। उसके पीछे जाकर वह खड़ा हो गया। प्रायः न देखने पर भी पीछे खड़े हुए व्यक्ति का बोध हो जाता है, वैसे ही गुणवन्ती ने सिर उठाकर ऊपर देखा—झूले से उतर कर सामने खड़ी हो गई।

'क्या है ?' उसने कठोरता से पूछा।

उसके भाव से रघुभाई के मन को गुणवंती ने पढ़ लिया था। दीपक का धीमा प्रकाश गुणवन्ती के स्वस्थ, सुन्दर शरीर पर पड़ रहा था। उस पर उस समय अप्सराओं का दिव्य सौंदर्य उतर आया हो ऐसा रघुभाई को प्रतीत हुआ। उसकी दृष्टि में उसका सौंदर्य सहस्र-गुण-मोहक हो गया। रघुभाई का पूरा शरीर काँप उठा। प्रश्न का उत्तर देने के लिए उसकी जीभ खुल न सकी।

'सिर की दवा···यहाँ है ? ऊपर तो नहीं है।' कठिन संघर्ष के बाद रघुभाई के कण्ठ से स्वर फूटे।

'नहीं, यहाँ नहीं है। ऊपर ही है। चले जाओ।' गुणवन्ती ने कठोर आज्ञा दी। रघुभाई का सिर घूम रहा था। वह तुरन्त आज्ञा का पालन करता पर

शरीर तो हिल ही नहीं रहा था। जड़वत् हो गया था।

गुणवन्ती का अभागा स्वभाव इस समय भी दया नहीं छोड़ सका। रघुभाई की व्याकुलता ने उसे पिघला दिया—'क्या माथा दुःख रहा है ?'

इस दयापूर्ण वाक्य ने अनर्थ कर दिया। रघुभाई का क्षोभ, डर कम हो गया—मन में स्वाभाविक गणना हुई, मानेगी। क्यों न मानेगी ? दो मिनट वे दोनों एक दूसरे की ओर देखते रहे। 'गुणवन्ती !' रघुभाई का स्वर ही बिल्कुल बदल गया था, 'ओ गुणवन्ती ! मैं क्या करूँ ? मेरी समझ में नहीं आ रहा है।'

'क्या ?' क्या उत्तर दे, इस विपत्ति में किस मार्ग का अवलम्बन करे, यह गरीब बिचारी गुणवन्ती को सूझ नहीं रहा था।

'क्या ? अरे गुणवन्ती ! क्या तू समझ नहीं रही है ? मै मर रहा हूँ, तू जानती है ! फिर क्यों मुझे मार रही है। तेरे बिना सब मिट्टी है।' कहकर उसने हाथ बढ़ाया। ऊपर जैसा कह आए हैं रघुभाई भिन्न प्रकार का व्यक्ति था। इस समय जीवन में एक बार अपना जाति-स्वभाव वह भूल-सा गया था; अपनी मनोवृत्तियों पर से लगाम हटा दी थी। यदि इस समय गुणवन्ती ने दबा दिया होता, क्रोध से दो-चार शब्द कह दिए होते तो रघुभाई चला गया होता ; क्योंकि रघुभाई में साहस कम था, लोक-लाज का भय था। इस कारण जिस प्रकार भी होता वह फजीहत रोकने का प्रयत्न करता। किन्तु गुणवन्ती ने उल्टा रास्ता लिया। इस प्रकार वह बोली मानो बिनती कर रही हो—रघुभाई ! इस समय आपका मस्तिष्क ठिकाने नहीं है। क्या कहना चाहिए और क्या नहीं कहना चाहिए इसका भी आपको इस समय ज्ञान नहीं है। जाकर इस समय सोइए।' आँख से देखते हुए भी गुणवन्ती इस समय मनुष्य की अधमता देखने में आनाकानी कर रही थी।

'कैसे सो जाऊँ ? हृदय में अग्नि धधक रही है, उसे शान्त कर दो ! गुणवन्ती ! ओ गुणवन्ती ! मैं तुम्हारा दास हूँ—आओ, आओ !' कह कर रघुभाई पास आया। गुणवन्ती पीछे हट गई।

'यह क्या रघुभाई ! तनिक शर्म करो। किस के साथ बातें कर रहे हो। यह तो सोचो। अपने भाई को याद करो। मैं निराधार हूँ, इससे तुम इस प्रकार का बर्ताव कर रहे हो ?' गुणवन्ती गिड़गिड़ाई।

गुणवंती बहुमूल्य क्षण नष्ट कर रही थी। इन दयापूर्ण शब्दों का रघुभाई पर एक ही असर हुआ। उसकी प्रज्वलित अग्नि कुछ ठण्डी पड़ गई, बुद्धि विचार की सहायता के लिए आ पहुँची। परिणाम में अंक पर अंक जुटने लगे। सवाल हल होने लगा। स्त्री जाति है। उनकी युवावस्था एवं स्वभाव-जन्य अस्थिरता तेरी सहायता करेगी। आज का उपकार भी याद

आएगा और इतना करने के पश्चात् पीछे हटना सब आशा पर पानी फेरना होगा। क्षोभ जाता रहा और वह अधिक स्वतन्त्रापूर्वक बोलने लगा—"मैंने सब विचार कर लिया है। सबका सारांश तुम हो, केवल तुम! तुम्हारे बिना सब कुछ व्यर्थ है। तुम्हें मानना होगा, बेकार की बातों से क्या लाभ! पागलपन छोड़ दो। अब सती-साध्वियों का जमाना बीत चुका है।'

वह फीकी हँसी-हँसा। रघुभाई का स्वभाव धीरे-धीरे साम्राज्य प्राप्त करने के लिए तत्पर हो गया था। गुणवन्ती यह सुनकर घबरा गई। उसे स्वप्न में भी ख्याल नहीं था कि संसार में ऐसे पशु भी मनुष्य के नाम से पुकारे जाते हैं, आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं।

'रघुभाई! रघुभाई!' गुणवन्ती ने व्याकुल स्वर में कहा—'आप क्या कह रहे हैं। आप समझते हैं कि मैं निराधार हूँ, आपके घर में रहती हूँ, इसलिए जो चाहें कह सकते हैं! मैं साध्वी हूँ या नहीं, यह आपके देखने की चीज नहीं है। यही क्या आपकी कृतज्ञता है? आप मुझे माँ के समान मानने वाले थे. यह क्या भूल गये? क्या इसीलिए आप मुझे यहाँ लाए थे?' यह कहते हुए गुणवन्ती की आँखों में पानी आ गया।

ठण्डा पड़ जाने वाले मनुष्य में सामने उसका प्रतिद्वन्द्वी विचलित हो जाय, तब उसे अधिक आनन्दानुभव होता है। रघुभाई कामातुर प्रेमी के स्थान पर—चतुर नीतिनिपुण मात्र रह गया।

'तब और किस लिये? क्या मेरे घर में अन्न भरा हुआ है कि दो व्यक्तियों को मुफ्त भोजन कराऊँ? गुणवन्ती! इस जवानदराजी से कोई लाभ नहीं है। व्यर्थ यह लड़का जाग उठेगा।'

'कैसी नराधमता, कैसा विश्वासघात!' गुणवंती के रोम-रोम में आग व्याप्त गई। चिल्लाकर जगत को जगा देने की इच्छा हुई, फिर विचार करने से यह उसे उचित प्रतीत नहीं हुआ। रघुभाई के इस व्यवहार की इस लज्जास्पद घटना से पुत्र की रक्षा करने की वह इच्छुक थी।

'यह रघुभाई बोल रहे हैं या कोई राक्षस? क्या इसीलिए मुझे यहाँ लाकर रखा था? और क्या आप समझ रहे हैं कि इस प्रकार मैं वशीभूत हो जाऊँगी—आपकी अधम इच्छा के आधीन हो जाऊँगी? तब आपने मुझे पहचाना ही नहीं!'

रघुभाई को अपने उपरोक्त शब्दों के लिए पछतावा हुआ; उसकी अपेक्षा नम्रता दिखाना ही उन्हें अधिक ठीक मालूम हुआ। वह बोला—'पहचानता हूँ गुणवन्ती! पहचानता हूँ। आज चार मास से प्रतिक्षण मेरे सभी विचार तुम्हारे ऊपर केन्द्रित हैं, तुम्हें देख रहे हैं, तुम्हें रट रहे हैं। आओ गुणवन्ती! आओ...' कहकर नाटकीय खूबी से गुणवन्ती को जीतने के लिए वह पास आया। घुटने

टेककर गुणवन्ती का हाथ पकड़ने का उसने प्रयत्न किया। स्पर्श मात्र से गुणवन्ती के मस्तिष्क में दावानल प्रकट हुआ, आँखें क्रोध और धिक्कार से अंगारे के समान चमकने लगीं; रोष से उसके शरीर पर वीर नारी का भयानक रौद्र प्रकट हुआ। रघुभाई के गाल पर उसने एक तमाचा जड़ दिया।

रघुभाई गाल सहलाता हुआ, लतियाये हुए कुत्ते के समान लज्जित, घुड़कते हुए उठा। सामने क्रुद्ध सिंहनी का सौंदर्य देखा, उसकी कामाग्नि को आहुति मिली। दाँत पीसते हुए, लाल-लाल आँखों से कुछ देर तक देखता रहा। उसका निश्चय दृढ़ था, मन शान्त था। तमाचे ने उसका थोड़ा मान भंग कर दिया था। उसका स्वर खोखला और धीमा, पड़ गया था, पीसते हुए दाँत के बीच से शब्द निकले—"और कुछ ? तो तू नहीं मानेगी ? मेरा दासत्व नहीं स्वीकार करेगी ? याद रख, मेरा स्वामित्व तुझे स्वीकार करना ही पड़ेगा। जो कुछ मैं इच्छा करूँ, उसे प्राप्त करने की मेरी आदत है।'

'पापी ! नीच ! चाण्डाल ! जो कुछ तुझ से हो सके कर ! थोड़ी देर भी और रहा तो मैं जोर से चिल्लाऊँगी।'

रघुभाई के मन में सब बातें विद्युत् के समान दौड़ गईं। यदि गुणवन्ती ने नहीं माना तो व्यर्थ ही अपकीर्त्ति होगी, सारी इज्जत मिट्टी में मिल जाएगी। इसकी अपेक्षा जोर-जुल्म से भी यदि वह पाप की साझीदार बन जाय तो कम से कम मुँह तो बन्द रखेगी। कल से न माने तो बल कहाँ गया है ? तुरन्त वह झपटा और गुणवन्ती कुछ समझ सके या सम्भल सके इसके पूर्व उसने उसे अपने बाहुपाश में जकड़ लिया; लिपटा हुआ सर्प डसने के लिए फिरे उसी प्रकार अपना विषदंश देने के लिए गुणवन्ती का मुँह अपनी ओर खींचने लगा।

दुःख और क्रोध से उत्पन्न शक्ति से गुणवन्ती ने उसके पाश से अपने को छुड़ा कर पीछे देखा। खिड़की खुली हुई थी, क्षण-मात्र में कूद कर बाहर जा पहुँची।

कूदने की आवाज से जगत जग पड़ा। कुछ प्रकाश-सा लगा, दूसरे ही क्षण दीपक बुझ गया। उसने सोचा प्रकाश स्वप्न में दिखाई दिया होगा; और पुनः करवट बदल कर वह सो गया।

६

पुराने जमाने में मकान का आँगन जमीन से दस फुट ऊँचा होता था। गुणवन्ती नीचे गिरी, उठकर खड़ी होने पर उसने ऊपर देखा तो कोठरी में अंधकार दिखाई दिया। क्या करे ? वापस जाना तो हो नहीं सकता। जगत को छोड़कर,

भी जाया नहीं जा सकता। चारों ओर अंधकार और अपमान दिखाई दे रहा था। रामकृष्णदासजी याद आए। उनसे मिले बिना निस्तार का दूसरा कोई मार्ग नहीं था। अंधकारमय निर्जनता में, मध्य-रात्रि के समय, भयानक दिखाई पड़ने वाली गलियों में से,सुनसान घरों के सामने से गुणवन्ती दौड़ती हुई निकली, एक सांस में रामचन्द्रजी के मंदिर के पास जा पहुँची और दरवाजा खट-खटाया। थोड़ी देर में चेला उठा और आँखें मलता हुआ तथा अपनी भाषा में अच्छी-से-अच्छी गाली देता हुआ आया तथा दरवाजा खोल कर बड़बड़ाया—'कौन है ?'

चेले ने दरवाजा खटखटाने वाली का चेहरा देखा और पहचान कर लज्जित और चकित हुआ। उसने पूछा—'माताजी ! इतनी रात में ?'

'हाँ, लक्ष्मण ! जरा बाबाजी को उठा दो।'

लक्ष्मणदास ने जँभाई लेते हुए दीपक जलाया मन में अनेक तर्क-वितर्क और कुतर्क करते हुए भीतर जाकर उसने रामकृष्णदासजी को उठाया। गुणवन्ती का नाम सुनते ही 'क्या ?' चिल्लाकर बाबा जी उठ खड़े हुए। बाहर आने पर गुणवन्ती को हांफती देखकर वह सब समझ गए।

'बेटा ! डंडा लाओ।' उन्होंने लक्ष्मण से कहा, 'क्यों बेटी ?' गुणवन्ती को उन्होंने आदेश दिया 'भीतर आ, यहाँ बहुत से कान सुनते हैं।'

क्या कहना चाहिये, इसका अभी गुणवन्ती को ज्ञान नहीं था।

'साले कमजात ने कुछ किया ?'

गुणवन्ती ने सिर हिलाकर हांमी भरी।

'मैं पहले से ही जानता था। अच्छा ! जगत कहाँ है ?'

'वह तो वहीं है। नीच, जगत को मार डाले तब ?'

'अरे राम कह ! वह साला क्या करेगा ?'

बाबाजी ऐसे समय में लाख रुपये के मनुष्य थे। अनावश्यक एक शब्द भी वे नहीं बोलते थे। चुपचाप दोनों व्यक्ति रघुभाई के मकान के पास पहुँच गये।

'बाबाजी इतना देखिएगा कि कोई अपमानकर बात न हो।'

'डर मत बेटी !'

घर के पीछे दोनों व्यक्ति गये। 'तू यहाँ खड़ी रह, मैं अभी आता हूँ।' कह-कर बीस वर्ष के युवक की चपलता से दीवाल लाँघकर बाबाजी भीतर गए। उन्हें मालूम था कि जगत कहां सोया हुआ है; परन्तु उस ओर न जाकर वे बायीं ओर चले और तेजी से ऊपर चढ़ गए। लज्जित अपमान से डरता हुआ, घबराया हुआ रघुभाई 'कल क्या होगा ?' का विचार करता हुआ, विचारों में लीन बिछौने-पर पड़ा-पड़ा अनेक तर्क-वितक व उधेड़बुन के जाल में फँसा था। कभी अपने को फँसा हुआ और कभी बिल्कुल बेलाग समझता था। उसने निश्चय

समझ लिया था कि गुणवन्ती रामकृष्णदासजी के यहाँ गई, परन्तु यह स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि तुरन्त ही बाबाजी यहाँ ऊपर पहुँच जाँएगे। इस प्रकार बाबाजी को अचानक सिर पर आया हुआ देखकर रघुभाई सिर से पैर तक काँप उठा। चिल्लाता है तो अपकीर्ति होती है, इससे चुप पड़े रहकर मरना ही उसने श्रेयस्कर समझा। धीरे-धीरे बाबा जी पास आए। बन्द की हुई आँखों को वे अन्धेरे में भी देख सकते थे। 'हे भगवान् !' मुँह में ही रघुभाई बड़बड़ाया।

वज्र के समान पंजा रघुभाई के गले पर पड़ा लोह-खण्ड के समान अँगूठा और अँगुलियों से दम घुटने लगा। रघुभाई को ऐसा ज्ञात हुआ कि प्राण ही निकल जायेंगे। उठकर बिना बैठे उससे नहीं रहा गया। रामकृष्णदासजी ने कान में 'चुप' की फूँक मारी। रघुभाई को प्राण जितना प्यारा था उतना ही अपकीर्ति का डर भी था। इससे प्राण बचाने के लिए वह चिल्लाए या अपकीर्ति से बचने के लिए खामोश रहे यह निश्चित नहीं कर पाया। डरपोक हृदय की भीरुता से वह एक शब्द भी नहीं बोल सका। अँधेरे में वज्रपाश की मूक आज्ञा के वशीभूत होकर वह उठा, लड़खड़ाते हुए पैर से सीढ़ी के पास खींचकर गया, लुढ़कता-पुढ़कता नीचे उतरा और प्राँगण में पहुँचा। आकाश में तारागण चमक रहे थे। गले में पड़ा हुआ जबरदस्त पंजा उसे खींचकर कुएँ के पास ले गया। 'जरूर यह बाबा अब मुझे जल पिलाएगा।' इसका उसे भय हुआ। इससे पूर्व बाबाजी यदि एक भी शब्द बोले होते, उनके बीच यदि वाद-विवाद हुआ होता, तब तो शतरंज की चाल चल जाती और रघुभाई की बुद्धि सम्भवतः काम दे जाती। किन्तु प्रसंग विचित्र था, विचार करने का उसे अवसर ही नहीं मिला और न कुछ कहने का वह साहस ही कर पाया। एक-दो--बार बोलने के लिए मुँह खोला किन्तु पीछे से ऐसा जोर से गला दबा कि बोलने की अपेक्षा चुप रहना ही ही ठीक मालूम पड़ा। रघुभाई को लगा कि बाबा कुएँ की चकली से रस्सा खोल रहा है, घड़ा फाँसने का फंदा बड़ा कर रहा है। देखते-ही-देखते वह सिर पर आ पहुँचा। क्या फाँसी लगाएगा ? रघुभाई चिल्लाया—परन्तु गले में से पूरी आवाज निकलने के पूर्व ही जोर का एक प्रहार हुआ कि शरीर की नस-नस काँप उठी, मानो जलती हुई लकड़ी पड़ गई हो इस प्रकार पीठ में जलन होने लगी। एक पल में—इस प्रहार का पूरा ज्ञान होने के पहले ही—रस्से का फंदा नीचे आया—रघुभाई की कमर में पहुँच गया। तुरन्त ही वह जमीन से उठ गया और चकली से घड़े के स्थान पर कुएँ में वह लटकने लगा। रस्सी का दूसरा सिरा रामकृष्णदासजी के हाथ में था।

'बाबाजी !' मुँह से निकला ही था कि आकाश अदृश्य हो गया। चारों ओर कूप की घूमती हुई दीवार दिखाई दे रही थी। ऊपर कूप के गोलाकार मुँह में तारागण चमकते हुए दिखाई पड़ रहे थे और वे ही नीचे पानी में भी। रघु-

भाई के होश-हलास गुम हो गए। उसने दो-एक बार चिल्लाया भी परन्तु पानी में से केवल प्रतिध्वनि मात्र सुनाई दी। कोतवाल साहब ने रस्सी में बँधे हुए बन्दर के समान तड़फड़ाना प्रारम्भ किया। रघुभाई गुणवंती को, उसके रूप को, बाबा को, जगत भर को गाली देने लगा; किन्तु ऐसी अवनति में भी डर-पोक को प्राण प्यारा होता है; उसने तड़फड़ाना छोड़ दिया। कारण शायद फंदा ढीला पड़ जाये तब ? अब डर केवल रह गया तो केवल इस बात का कि उसका चिल्लाना सुनकर कहीं कोई चौकीदार कोतवाल साहब की यह अद्‌भुत दशा देखने के लिए आ पहुँचे अथवा प्रातःकाल नौकर पानी खींचने के समय अपने मालिक को खींचकर निकाले तो उसका···?

रस्सा लकड़ी में बांध कर बाबाजी जगत जहाँ सोया हुआ था वहाँ तुरन्त जा पहुँचे। और बिछौने पर से उन्होंने उठा लिया।

'कौन ? माँ ?'

'नहीं बेटा ! मैं हूँ।'

'बाबाजी ! माँ कहाँ हैं ?'

'बाहर है बेटा ! बोलो मत !'

चपल बालक की किसी असाधारण घटना घटने का आभास हुआ, परन्तु बाबाजी पर उसे पूर्ण श्रद्धा थी, इससे वह खामोश रहा। बाबाजी ने दरवाजा खोलकर जगत को गुणवंती को सौंप दिया। जगत आँखें मलकर इधर-उधर देखने लगा; किन्तु कुछ समझ नहीं सका। जब तक बाबाजी एवं गुणवंती उस के पास थे तब तक उसके लिए डर की कोई बात नहीं थी।

'बेटा ! ठहर मैं अभी आता हूँ।' कहकर बाबाजी पीछे प्रांगण में गये। उनका विचार रघुभाई को कूएँ में इस प्रकार लटकता हुआ छोड़ देने का नहीं था ? प्रसंगवशात् बहुत दिनों का एकत्र द्वेश शान्त करने के लिए एवं लज्जा-वश रघुभाई आज की घटना किसी से कहे नहीं, इसी उद्देश्य से यह योजना उन्होंने की थी। वे रस्सा ऊपर खींचने लगे। ऊपर खींचे जाते हुए देखकर रघुभाई के जी में जी आया। स्वयं अपमानित होने की उसे लज्जा नहीं थी। भय उसे केवल किसी के देख लेने का था। अंधेरे में दिए गए तमाचे की भी उसे परवाह नहीं थी। सफेद कपास के समान अर्ध-मृत कोतवाल ऊपर आया। बाबाजी ने उसे एक ओर पटक दिया। रघुभाई मृतवत् पड़ा रहा। जाते-जाते बाबाजी एकलात जमाते हुए बोले—'साला कुत्ता !'

रघुभाभाई ने आगामी प्रातःकाल बाबाजी को राज्य में से निकाल बाहर करने की सौगन्ध ली।

१०

जसुभा के जीवन में दो बड़े दुःख थे। एक तो विलास क्रीड़ा में बैठे हों और शरीर को आराम देने के लिए सोने का मन करे, वह और दूसरे प्रातः-काल की मीठी निंद्रा का त्याग कर उठना पड़े, वह। निंद्रा-भंग होने के पश्चात् भी तुरन्त के देखे हुये स्वप्न का रस पान करने के लिए आँखें बन्द कर थोड़ी देर वह पड़े रहते और लाचार होने पर ही उठते। वे उठे, आँखें खोली; नियमित रणुभा बिछौने के सामने खड़े थे। उनकी आँखें स्नेहपूर्ण दृष्टि से जसुभा का देख रही थीं। जसुभा को दूसरों के द्वारा अपने लिए की जाने वाली सेवा अच्छी लगती थी। वह मुस्कराए।

'क्या है रणु ! क्या सोच रहे हो ?"

जसुभा के ललाट पर दृष्ट-अदृष्ट रेखायें पड़ गईं। 'कैसे जाना ?'

'यह कुछ कठिन नहीं है। आज आपको उठते समय अधिक कष्ट नहीं हुआ।'

'जाने भी दो रणुभा !'सुख के लोभी जसुभा ने 'जहाँ देखो वहाँ दुःख, दुःख, दुःख और दुःख !' कहकर फिर भीतर जाने के द्वार की ओर मार्मिक दृष्टि से देखा।

जिस प्रकार जसुभा को दो बड़ी पीड़ायें थीं उसी प्रकार दो बड़े भय भी थे। पहला भय रेवाशंकर का, वह आकर हिसाब का अथवा राज्य-प्रपंच का अथवा एजेंसी का कोई पारायण लेकर बैठ जाय तो जसुभा बिना भड़के रहने वाले नहीं थे और दूसरा डर उनकी मारवाड़ी पत्नी देवलबा का था। राज्य को सुशोभित करने के लिए जसुभा की माँ अपने ननिहाल की एक निकट संबंधी को ले आई थीं। रूप में राजपूतबाला ठीक ही थी; पढ़ने में क, ख, ग, भी नहीं; रीति-भाँति में पाँचसौ वर्ष पीछे और पहरावे में तो वह राणा साँगा के समय की याद दिलाती थी, उसपर भी एक झगड़ालू राज्य से प्रतिपालित होने से, राज्य के वातावरण को मामूली खटपट, झूठे गप्प एवं तुच्छ दृष्टि के आघात से क्योंकर असह्य बनाया जा सकता हैं इसमें पूर्ण पटु बन गई थी। इस कारण से जसुभा के लहरी, संस्कृत स्वभाव को देख कर देवल बा को भय होता था। प्रायः दोनों अपने अपने रास्ते जाते थे, परन्तु गरीब बिचारे जसुभा का अभाग्य कि कल से ही उसने एक नया हठ पकड़ किया है। बस चंपा को निकालो, चाहे जैसे हो, उसे निकाल बाहर करो।

जसुभा सोचते थे कि चम्पा की चतुराई से दुःख का विचार भी अनुपस्थित रहता है जिस से उसे यहीं रखने का उनका विचार था। किन्तु हुआ बिलकुल

विपरीत। रात्रि भर चम्पा की हृदय वेधक विदाई, देवल बा का क्रोध एवं अपनी निराधारता के अनेक स्वप्न उन्हें आये। आज बहुत दिनों बाद निद्रा का उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक त्याग किया।

'दुःख किस बात का ?'

'अरे उस बात को जाने भी दो।'

'बात ठीक है, मुझे जाने दीजिये न !' कहती हुई चम्पा भीतर आई।

चम्पा ने विरक्ति को अपना शस्त्र बना लिया था। अत्यन्त स्पृहा से-परिश्रम-से, अपने रूप में एक प्रकार की जंगली किन्तु सुन्दर मोहक अस्पृहा वह ले आई थी। उसके बाल भी ठिकाने नहीं थे एवं साधारण सफेद वस्त्र इस प्रकार धारण किए गए थे कि शारीरिक शोभा—देखने की अपेक्षा विचार करने पर अधिक मोहक लगे। उसका सादा रूप, दोष रहित अंग और विरक्ति—ये अद्‌भुत प्रभाव डालते थे। जसुभा के दुःखी मन पर सुख की शीतल छांव पड़ी। रणुभा ने दबाये हुए प्रेम को, अपने तीव्र स्नेह से अपनी छाती पर एकाएक हाथ रख कर उछलते हुए हृदय की धड़कन को शान्त करने का व्यर्थ प्रयत्न किया।

'मुझे जाने दीजिये न ?'

'कहाँ ?'

'बम्बई !'

जसुभा पर तो मानो गाज गिरा। उसने पूछा—'क्यों ?'

'क्यों क्या ? मैं तो आपके ठाठ-बाट से परेशान हो गई हूँ। मुझे तो मेरा घर ही अच्छा है।'

'नहीं चम्पा ! तुम्हें तो अब यहीं घर बसाना है।'

'यहाँ ? इस कूड़े में ? वाह ! आप जितना पैसा मुझे देते हैं उतने में तो आपके लिए मैं वहाँ से पांच भेज दूँगी।'

जसुभा तो उद्वलित हो उठे। 'यह क्या चम्पा ? चारों ओर से दुःख ही दुःख ! मैं तो ऐसे लोगों से परेशान हो गया। प्रतिदिन कोई न कोई रूठता ही रहता है।'

'इसी से तो मैं कह रही हूँ कि मुझे जाने दीजिए।'

'तू तो कह चुकी न ! यदि बम्बई जाएगी तो मुझे भी जाना पड़ेगा।'

'तू यहाँ से गई कि जसुभा को अर्ध-मृत समझ ले। उसके लिए तो चारों ओर अँधेरा ही हो जाएगा। तू गई कि सब उसे काटने दौड़ेंगे।'

'किसे काटने दौड़ेंगे ?' बगल के दरवाजे में से आवाज आई। चिक हटी एवं रौद्र स्वरूप धारण किए हुए दुर्गा के समान देवल बा आई। जसुभा के शब्दों का कुछ मर्म समझ कर तुरन्त ही एक ही वार से दो टुकड़े कर देने के लिए वह आई थी। चम्पा को हँसी आ गई ! बेचारे जसुभा को तो दो योग-

माया के बीच अपनी मृत्यु ही दिखाई पड़ने लगी। देवल बा का भय एवं चम्पा के वियोग का दुःख इन दोनों के बीच किसे पसन्द करे, यह उन्हें सूझ नहीं पड़ा। इस प्रकार की घटना न घटने देने का वे यथाशक्ति प्रयत्न करते थे। इसी से यह बेचैनी थी। बहुत बड़ी, एक कठिन समस्या सामने आ खड़ी हुई। इस बेचैनी से कैसे छुटकारा मिले ?

सद्भाग्य से देवल बा के मारवाड़ी घाघरे का छोर चिक में फँस गया। उसे छुड़ाने में कुछ समय लग गया। 'वाटरलू' के रणक्षेत्र में पराजय से बचने के लिए वेलिंगटन जिस प्रकार ब्लूचर की राह देख रहा था, उसी प्रकार जसुभा इधर-उधर नजर दौड़ाने लगे कि उनकी दृष्टि रणुभा पर जा पड़ी। रणुभा की आँखों में और मुख पर चम्पा के प्रति प्रेम झलक रहा था। उसका वश चलता तो वह उसके पैरों में भी गिर पड़ता। आत्यधिक समय से दबाया गया प्रेम ऐसा ही होता है। रणूभा के गुप्त प्रेम को जसुभा जानते थे और एक खेल के समान उसे विनोद से देखा करते थे। घड़ी भर आनन्द मानने के अतिरिक्त चम्पा में और कोई रस उन्हें नहीं था। अतः दूसरा कोई चम्पा को किसी भी दृष्टि से देखे, इस की उन्हें तनिक भी चिन्ता नहीं थी। उनके मन में कोई विचार आया और एक मार्ग सूझ गया।

'किसको क्या ?' इसी को तो जसुभा ने उत्तर दिया।

'इसी को ?' आँखें फाड़कर देवल बा ने चम्पा की ओर संकेत किया।

'देखती नहीं हो, तुम कह रही हो कि चम्पा को निकाल बाहर करो, और चम्पा भी जाने को तैयार बैठी है परन्तु यह तुम्हारा रणु मानता ही नहीं।'

'रणुभा को इससे क्या मतलब ?' रणुभा पर रानी की स्नेह-दृष्टि थी। उसने सोचा कि अपनी इच्छा छिपाने के लिए जसुभा उसके सिर मढ़ना चाहता है।

'कब से यह सिर खा रहा है कि चम्पा को जाने दीजिये, तब मैं क्या करूँ ? किस-किस की बात मानूँ।'

चम्पा राजा की चतुराई समझ कर हँसी। रणुभा को मनमानी मुराद मिल गई। उसका हृदय जोर से धडकने लगा।

'क्यों रणुभा ? क्या यह सच है ?'

'सच बात है माता जी ! चम्पा के चले जाने से तो मेरे लिए चारों ओर अन्धकार ही हो जायगा।' राजा की बात का समर्थन करते हुए उसने कहा। वास्तव में उसके लिए यह बात बिलकुल सत्य थी भी।

रानी दाँत पीसने लगी। उसकी समझ में ही नहीं आ रहा था कि इस में क्या रहस्य है, क्या बात है। इसी से यह समझ बैठी कि सब मिलकर उसे बना रहे हैं।

कुर्सी पर लेटते हुए जसुभा बोले—'कहो अब मैं क्या करूँ ? रणुभा ने

कभी याचना नहीं की है, और आज जब कुछ माँगने के लिए तैयार हुआ है तो क्या उसे अस्वीकार किया जा सकता है ? जाओ, स्वीकार है। रणुभा ! चम्पा और तुम दोनों आनन्द से रहो।'

'एक शर्त होगी !' देवल बा ने कहा, 'चम्पा को रणुभा के पास रहने की आज्ञा दीजिये, यहाँ नहीं।'

जसुभा ने देखा कि यह मारवाड़िन पक्की निकली परन्तु वह यह भी जानते थे कि अब यह हठ छोड़ने वाली नहीं है। स्वीकार कर लेना ही उन्हें अधिक बुद्धिमत्त पूर्ण जान पड़ा।

'हाँ, हाँ !'

'अभी !'

'हाँ, अभी।'

'रणु जाओ, चम्पा को अपने कमरे में ले जाओ।'

रणुभा का निवास महल के दाहिनी ओर एक अलग कमरे में था। रणुभा को तो जैसे जगत का वैभव मिल गया। वह यही तो चाहते थे। चम्पा की ओर देखा। चम्पा भी नहीं चाहती थी कि इस प्रसंग को लेकर राजा-रानी में अधिक वाद-विवाद चले। उसने रणुभा के कन्धे पर हाथ रख दिया। रणुभा के तो रग-रग में बिजली-सी दौड़ गई।

'रणुभा ! चलो मुझे रास्ता दिखाओ।' चम्पा बोली।

रानी गर्व से इस गर्वीली दिखाई पड़ने वाली स्त्री की ओर देखती रही चम्पा जरा हँसी, थोड़ा झुकी और आँख पर आई हुई एक लट हटाती हुई वहाँ से चल दी।

११

पहले सदैव यह नियम था कि राजा को प्रातःकाल उठते ही कोतवाल से नगर सम्बन्ध में बातचीत करनी चाहिये। इस पुराने नियम के स्थान पर राजा के शयनागार में से निकलते समय कोतवाल का केवल अब सवेरे कोर्निस बजाना मात्र रह गया।

इस नियमानुसार रघुभाई बाहर खड़े थे। रघुभाई को कूप-यात्रा किए हुए आज पन्द्रह दिन हो गये, अब वह गुणवन्ती तथा अपने हुए मान-अपमान को भुला कर राज्य की खटपट में फिर प्रवृत्त हो गये थे।

आज उसने रणुभा के कन्धे पर हाथ रखे हुए चम्पा को निकलते देखा। रात के झगड़े के सम्बन्ध में थोड़ा बहुत सुना था, जो कुछ न सुन सका था उसे

उसने अपनी कल्पना से इस दृश्य को देखकर पूरा कर लिया।

रणुभा के खिले हुए चेहरे की ओर देखकर रघुभाई जरा मुस्कराए। उसने समझ लिया कि चम्पा की सत्ता पूर्णरूप से जम गई है, राज्य में जल्दी से कोई कार्य करते हो तो वह मार्ग चम्पा द्वारा ही मिलेगा। इस उदय होने वाले सूर्य की पूजा के लिए कौन-कौन-सी सामग्री की आवश्यकता पड़ेगी, इसका वह विचार करने लगा।

'चम्पा!' सीढ़ी चढ़ते हुए रणुभा ने कहा—'आज मेरा अहोभाग्य है।'

'क्यों? रामजनी को घर ले आये, इसीसे?' हँसते हुए चम्पा बोली।

'चम्पा! संसार के लिए तू रामजनी भले ही हो; परन्तु मेरे लिए तो···।'

'शिsss इस प्रकार की बातें मत करो। तुम सब एक समान हो। हम खिलौना हैं क्यों? किन्तु दिन भर यह कहने में तुम लोगों को न जाने क्या आनन्द मिलता है?'

रणुभा ने गहरी आह भरी। बातचीत करते समय चम्पा उसके साथ जुदाई से—अन्तर से ही बर्ताव करती। उसका तथा अपना हृदय पास लाने के रणुभा के सब प्रयत्न निष्फल ही हुए।

राजमहल का स्वरूप पत्थर के एक महान वन के समान था। चार-पाँच सौ वर्ष पूर्व महल की नींव पड़ी थी; प्रत्येक राजा ने अपनी रुचि और आवश्यकता के अनुसार उसमें परिवर्तन भी किया था। असंख्य कमरे वर्षों तक बन्द पड़े रहते जिनमें चिमकादड़ निडरतापूर्वक निवास करते थे। हजारों व्यक्ति भी यदि प्रयत्न करते तो उन्हें ढूंढ निकालने में असमर्थ थे। तीसरे खंड में दाहिनी ओर रणुभा का निवास था। किनारे पर एक कमरे में वृद्ध नायक पड़ा रहता था। बीच में दो-तीन कमरे साफ किए जा रहे थे; ऐसा लगता था मानो चम्पा के स्वागत की तैयारी हो रही है।

रणुभा में वाक्चातुर्य नहीं था इसलिए जरा भी विचार में पड़ने से उसके बोलने की शक्ति नष्ट हो जाया करती थी। दोनों चुपचाप रणुभा के पहले कमरे के निकट आए।

'चम्पा!' भयभीत हो रणुभा ने कहना प्रारम्भ किया।

'क्या?'

'यह सब अपना ही समझना।'

'यह भी क्या कहने की बात है? मैं तो दुनियाँ में सब कुछ अपना ही समझता हूँ।'

भीतर घुसते ही कोई बैठा हुआ दिखाई दिया। अनन्तानन्दजी एक विचित्र गौरव के साथ वहाँ बैठे हुए पुस्तक पढ़ रहे थे। रणुभा ने उन्हें देखा और उसके मन में उबलती हुई अग्नि शान्त पड़ गई। कुछ लज्जा प्रतीत हुई। चोरी कर

के काजी के पास जाने वाले की स्थिति का अनुभव हुआ। स्वामीजी का गेरुआ वस्त्र और सफाचट सिर देखकर चम्पा ने नाक चढ़ाई। अपने स्वभाव से धर्म तथा उसके प्रतिनिधि को वह तिरस्कार एवं घृणा से देखती थी। इस समय घण्टे-आध-घण्टे रणुभा को चिढ़ाने की आशा से आई हुई चम्पा को जरा तनिक निराशा हुई।

रणुभा स्वामीजी के पास चले गए। चम्पा दरवाजे के पास एक कुर्सी पर बैठ गई।

'रणुभा! आज इतनी जल्दी कैसे आ गये? तुम तो नौ बजे प्रतिदिन ऊपर आते हो।'

कुछ स्वर में, कुछ शब्द में नवीनता देखकर विरक्त चम्पा जरा चैतन्य हो कर स्वामी की ओर ध्यान से देखने लगी। थोड़े शब्दों में—अपना प्रेम छिपा कर—प्रातःकाल की घटित घटना रणुभा ने कह सुनाई। जब-जब चम्पा का नाम आता, तब-तब स्वामीजी उसकी ओर देखते। चम्पा स्वामी की ओर आतुरता से देखने लगी। 'वे मन में क्या सोचेंगे।' इस विचार में वह चिन्तामग्न हो गई।

'तब अब तुम्हारा राज्य शुरू हुआ; क्यों?' यह सुनकर चम्पा जरा चैतन्य हुई। 'तुम अब राज्य कैसे चलाना चाहती हो?'

'मैं कौन-सा राज्य चलाने वाली थी?'

'तब कौन चलाने वाला है? राजा को शोक, योग्य दीवान की कमी, रणुभा को भय! इस प्रकार राज्य-तन्त्र चलाने की किसी को भी परवाह नहीं पड़ी है। जब किसी को परवाह ही नहीं है तब कहा किससे जाय?'

'रणुभा भीतर आऊँ क्या?' रघुभाई की आवाज दरवाजे पर से सुनाई दी। नीचे काम सौंप कर उदीयमान सूर्य को अर्घ्य देने के लिए वह ऊपर चला आया था। उसने सोचा था कि रणुभा और चम्पा दो ही होंगे किन्तु इस अविज्ञाप्य स्वामी की उपस्थिति से वह चौंक पड़ा। एक प्रकार से हर्षित भी हुआ। यह स्वामी रेवाशंकर पर क्रुद्ध हुआ है, इसे भी अपना एक साधन बनाया जाय तो क्या बुरा होगा। अनुसन्धान से स्वामी का थोड़ा-सा इतिहास और लोकप्रियता का उसे ज्ञान हो चुका था। अनुसन्धान से यह भी पता चला कि स्वामी सर्वत्र घूमता है, एवं रेवाशंकर के कार्यों से उसे क्या-क्या हानि पहुँची है, इसका पता लगा रहा था। यदि वह राज्य में एक भिन्न पक्ष खड़ा करता हो तो उस का नेता बनने के लिए रघुभाई तैयार था। इसलिए यदि वह हाथ पर चढ़ जाय तो बहुत अच्छा हो, ऐसी उसकी प्रबल इच्छा थी।

'कौन, स्वामी महाराज?' नम्रता में परिहास का पुट देते हुए रघुभाई बोला—'रेवाशंकर और आप में झगड़ा होने के पश्चात् आपसे यहाँ भेंट होने

की मुझे आशा नहीं थी।'

'आशायें सभी परिपूर्ण नहीं हुआ करतीं, अभी से ही क्यों उतावले हो रहे हो ?'

अन्तिम शब्दों का कुछ मार्मिक अर्थ है, इतना तो रघुभाई समझ गया था—किन्तु वह क्या है यह उसकी समझ के परे था।

'महाराज ! उस दिन तो मेरा कलेजा मुँह को आने लगा था। आप जैसा व्यक्ति आकर याचना करे और वह स्वीकार न हो, यह कितनी बुरी और राज्य के लिए लज्जास्पद बात है। यों हजारों रुपये व्यय किए जाएँ पर आपके लिए कोर कसर की जाए।'

जरा हँसकर स्वामीजी बोले—'इसमें भी तो दोष तुम्हारा है।'

'मेरा ?'

'तुम्हारा और रणुभा जैसे राजसेवकों का तथा चम्पा जैसी राज्य-सखी का !'

'इसमें मैं क्या कर सकती हूँ ?' चम्पा ने धीरे से पूछा।

रघुभाई और रणुभा दोनों ने उसकी ओर देखा। यदि दोनों स्वामीजी की बात-चीत में दत्तचित्त न होते तो देख सकते कि चम्पा व्यवस्थित होकर आदर और ध्यानपूर्वक उनकी बातें सुन रही थी।

'तुम ! तुम सब कुछ कर सकती हो। संसार में सब कुछ करने वाला यदि कोई है तो वह स्त्री ही है, तुम्हारे आधार से ही सब तरते या मरते हैं।'

'रणुभा जी ! हजूर आपको बुला रहे हैं।' एक सेवक ने सूचना दी।

'महाराज ! मैं अभी आता हूँ, आप रहियेगा न ?'

'नहीं, मैं फिर आऊँगा। सच्चिदानन्द, बेटा ! बहन ! अधमता में रहते हुए भी कुछ तो उद्धार करो।'

'चलिये महाराज ! मैं भी आपके साथ चलता हूँ।' रघुभाई ने कहा।

उसकी ओर देखकर स्वामीजी ने हँसकर स्वीकृति दी—'अच्छी बात है।'

दोनों व्यक्ति बाहर निकले और बगल में सीढ़ी थी उससे उतरने लगे। कुछ सीढ़ियाँ तो वे चुपचाप उतर गए। रघुभाई ने यही अवसर स्वामी को वश में करने के लिए निश्चित किया था और बड़े ही उमंग से बात करने के लिए वह तैयार हुआ था ! उसने कहा—'आप पर देख-रेख रखने का काम मुझे सौंपा गया है।'

'हो सकता है !'

'आपके सम्बन्ध में मुझे कुछ जांच-पड़ताल करनी पड़ी थी।'

'हूँ !'

रघुभाई स्वामीजी की इस लापरवाही से जरा चिढ़ गया—'आप रेवाशंकर जी को भगाने का प्रयत्न कर रहे हैं। यह बात मुझे हजूर से कहनी पड़ेगी।'

'तब कहते क्यों नहीं ?'

'आपके कारण !'

'मेरे और तुम्हारे बीच कोई विशेष स्नेह नहीं है।' फिर स्वामीजी ने धीरे-से कहा—'और यदि नहीं कहते हो तो उसका कारण भी तुम्हारा स्वार्थ ही होगा।'

'मेरा क्या स्वार्थ है ?' रघुभाई डरता-डरता बोला।

'दीवान होने का !'

'रघुभाई की तो बोलती बन्द हो गई। उसने देखा कि स्वामी उसके समान ही विलक्षण मस्तिष्क का है। स्वामी को दबाने के बदले उसे स्वयं ही दबना पड़ गया।

'देखो रघुभाई ! मेरा नियम तो बिल्कुल स्पष्ट है। मैं क्या करता हूँ अथवा क्या करना चाहता हूँ इसकी छान-बीन करने वाला मुझे पसन्द नहीं है। तुम्हें यदि अपना श्रेय-साधना हो तो मेरे साथ आओ और जैसा मैं कहूँ उसे वैसा करो; वह पद जो तुमने स्वप्न में भी न पाया होगा तुम्हें यथार्थ में प्राप्त होगा। तुम्हारी महत्वकांक्षा पूर्ण होगी। यदि दबाकर, डरा-धमकाकर तुम अपना काम निकालना चाहते हो तो तुम्हारे लिए वह रास्ता भी खुला है। यदि फिर कभी तुमने मेरे काम में दखल देने का साहस किया तो तुम्हारी क्या दशा होगी यह भगवान् ही जाने। अभी मैं तुमसे उत्तर नहीं चाहता। परसों नये अंग-रक्षक चुने जाने वाले हैं। उनका चुनाव तुम्हारे हाथ में है। यदि तुम्हें मेरे साथ रहना हो तो जिन व्यक्तियों को मैं बताउँ उन्हें नियुक्त करना। नहीं तो समझ लूंगा कि तुम विपरीत मार्ग ग्रहण करना चाहते हो।'

रघुभाई कुएँ में जितना तड़फड़ाया था उससे कहीं अधिक वह इस समय विचलित हो उठा। उस्ताद के भी उस्ताद होते हैं, यह उसने आज पहली बार जाना।

'किन को नियुक्त करना है ?'

स्वामी ने नाम बताए और रघुभाई को वहीं छोड़कर वह चले गए। रघुभाई कुछ देर तक वहाँ इस प्रकार खड़ा रहा मानों जमीन में समा गया हो; इतने में जिस तरफ स्वामी गये थे उसी तरफ से आने वाली कल्याण नायक की आवाज ने उसे चौंका दिया। ८० वर्ष का निराधार वृद्धत्व उसके प्रत्येक अंग में व्याप रहा था। वह बहुत दिनों से रणुभा वाले खण्ड में बाएँ तरफ रहता था और यह पीछे की सीढ़ी का उपयोग करता था। इस समय कोई अचानक दुःख टूट पड़ा हो, इस प्रकार वह काँप रहा था। उसके दन्तहीन जबड़े बड़ी शीघ्रता से हिल रहे थे।

'मेरे अन्नदाता ! आप इस प्रकार ? अरे भगवान् !'

रघुभाई के कान में ये शब्द पड़े; उसने समझा कि स्वामी के लिए ही यह शब्द उच्चारित हुए होंगे, पर साधारणतया वे अर्थ-विहीन मालूम पड़े। राज्य में कल्याण नायक के लिए अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित थीं। राजमाता के समय में उसका इतना मान था कि बहुतों का ऐसा अनुमान था कि साधारण नायक की अपेक्षा उसका मूल्य कहीं अधिक होगा। रघुभाई को कुछ सन्देह हुआ।

'अन्नदाता कौन हैं, कल्याण नायक ?' उसने मिठास से पूछा।

उसका स्वर सुनते ही कल्याण नायक ने अपने निर्बल, व्यथित अंगों पर नियन्त्रण किया। उसने सन्देह से रघुभाई की ओर देखा 'कौन ? नए कोतवाल साहब ? हजूर साहब ! आपके सिवा दूसरा और कौन अन्नदाता हो सकता है ?' सलाम कहकर लाठी ठोंकता, सिर हिलाता, कल्याण नायक चला गया।

विचार-मग्न रघुभाई अपने घर की ओर चल पड़ा।

१२

रघुभाई के मन में विचारों की उथल-पुथल चल रही थी। किस लिए अनन्तानन्द राजकीय मामलों में इतनी दिलचस्पी लेते हैं ? कोई बात अवश्य है नहीं तो बिना मतलब अपने आदमियों को राजा के पास भला क्यों कोई रखने का प्रयत्न करेगा ? किस लिए अनन्तानन्द को कल्याण नायक अन्नदाता पुकारेगा ? शिकारी कुत्ते के जैसी तीव्र घ्राणेन्द्रिय से रघुभाई को कोई गम्भीर और अगम्य रहस्य की गन्ध आई।

मस्तिष्क में किसी बात के आते ही उसका निर्णय करने की रघुभाई को आदत थी। कोई भी बात अधूरी रहने देना उसे अच्छा नहीं लगता था। घर पहुँचकर वह अपनी कोठरी में गया, दरवाजा बन्द कर, एक कोने में पड़ी हुई पेटी खोलकर उसमें से उसने एक फाइल निकाली। सम्पूर्ण फाइल पुराने फटे हुए पत्रों एवं दस्तावेजों से भरी हुई थी। प्रत्येक कागज के पीछे एक अच्छा मजबूत कागज चिपकाया हुआ था और प्रत्येक कागज के सिरे पर उस पत्र के विषय में कुछ सुन्दर अक्षरों में लिखा हुआ था। राज-कुल के गुप्त रहस्यों के पढ़ने के शौकीनों को इन कागजों में लिखे हुए इतिहास को पढ़कर बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त हो सकता था। इन कागजों को एकत्र करने में रघुभाई को कितनी बुद्धि खर्च करनी पड़ी और किस प्रकार सामान्य नीति के नियमों को एक कोने में रख देना पड़ा था, इसे यदि ये कागज प्रकट कर सकते तो अवश्य ही रघुभाई की कार्य-दक्षता एवं धूर्तता की प्रशंसा किए बिना कोई भी नहीं रह सकता था।

फाइल में से उसने एक कागज निकाला। जैसा कि अन्य लोग समझते थे यह कागज रायसाहब की जेब में से बहुत वर्ष हुए खो गया था, केवल रघु-

भाई जानता था कि वह कहाँ पड़ा हुआ है। मानसिंहजी—जसुभा के पिता—मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए थे, उस समय रेवाशंकर ने यह पत्र नीलकंठराय को लिखा था। उस पर दृष्टि डालते ही कुछ वाक्यों ने उसका ध्यान आकृष्ट किया। बार-बार उन वाक्यों को अपनी आँखें फाड़-फाड़ वह इस प्रकार देखता रहा मानो वह उन्हें आत्मसात कर लेना चाहता हो। वाक्य निम्नलिखित थे—

'...महल में क्या चल रहा है, यह कुछ समझ में नहीं आ रहा है। राजमाता, वह साधु तथा कल्याण नायक हमेशा हजूर पर पहरा देते रहते हैं। हजर मुझसे बातें करना चाहते हैं, उनकी आँखों में कुछ कहने की उत्कण्ठा दिखाई देती है किन्तु राजमाता के भय से कोई शब्द नहीं निकलता। कुछ सुझाई नहीं दे रहा है। कुछ गड़बड़ अवश्य है, किन्तु अब हुजूर अधिक दिन नहीं चल सकते। आप कब वापस आवेंगे ?'

इस पत्र को जब इसके पूर्व पढ़ा था तब रघुभाई को उसमें किसी भी रहस्य की बात का आभास नहीं मिला था। अब तक तो रेवाशंकर द्वारा उच्चारित स्वार्थी उद्‌गारों के कारणवश ही इसे रख छोड़ा था किन्तु यह लिखावट अब उसे महत्वपूर्ण दीख पड़ी।

रेवाशंकर को इस भेद का पता नहीं था, इस पत्र से ऐसा प्रतीत होता था। बहुत विचार करने पर भी समस्या का कुछ हल नजर नहीं आया। साधु कौन ? रामकृष्णदासजी या कोई और ! कैसा भयंकर भेद है उसका पता लग भी जाय तो स्वार्थ-साधन में वह कितना उपयोगी होगा !

रघुभाई उठा, फाइल यथास्थान रख, पेटी बन्द कर और पुनः कपड़े पहन कर वह नीचे उतरा। नौकर रमा को खिला रहा था उसकी ओर उसने देखा तक नहीं और वह चौक की ओर चला गया।

'कहिये वैद्यराज जी ! कैसे हैं ?' कहते हुए वह एक राजवैद्य की दूकान पर चढ़ गया। वल्लभराम पुराने राजवैद्य थे। बम्बई से आए हुए डाक्टरों ने इन की बहुत कुछ आय कम कर दी थी—फिर भी ऐसा लोगों का ख्याल था कि कई दुष्ट व्याधियों पर इनकी औषधियों का पूर्ण साम्राज्य था, कुछ लोग पुराना समझकर इन्हीं के यहाँ से दवा लेते थे एवं राज्य की ओर से भी कुछ वार्षिक मिलता था; जिससे इस धन्वन्तरि के अर्वाचीन प्रतिनिधि के दिन चैन से कट रहे थे। सवेरे ही ताकिया लगाकर गद्दी पर बैठ जाते। आने-जाने वाले लोगों से प्रणाम आशीर्वाद करते एवं साढ़े तीन पुड़िया के प्रताप से अनेक श्रद्धालु स्त्री-पुरुषों को उनका रोग जड़-मूल से दूर कर देने का वचन देते। कभी-कभी तो इनकी दूकान छोटे 'टाउनहाल' का काम करती एवं लोगों की कठिनता तथा प्रतिष्ठित व्यक्तियों की प्रतिष्ठा का अन्त करने का प्रशंसनीय प्रयत्न वहाँ पर वाणी द्वारा होता।

रघुभाई को चढ़ते हुए देखकर बल्लभराम के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा।

'कौन कोतवाल साहब ? अहा हा ! धन्य भाग मेरी दूकान का ! देखिए, भला बिना वैद्य क्या किसी का काम चल सकता है ? दीन-वत्सल ! आपके ऐश्चर्य की बढ़ती हो, किन्तु मैं तो आपकी गाय के समान ही हूँ।'

'अरे ! यह भी कहने की बात है ! जरा नाड़ी देखिए, तबियत कुछ भारी मालूम पड़ रही है।'

वैद्यराज अँगरखे की अन्तिम आस्तीन ऊपर चढ़ाकर रघुभाई की नाड़ी पर अँगुली रखी। मुँह पर अत्यधिक गम्भीरता का भाव लाकर वह बोले—'रघुभाई ! आप भी ऐसी भूल करते हैं ? तबीयत इतनी बिगड़ जाय और आप चुपचाप बैठे रहें ? कृपानिधान ! यह तो कहिए कि आप समय रहते मेरे पास आ गए।'

'भाई मेरा तो यह नियम है कि आपके हाथ मरना अच्छा लेकिन दूसरे के हाथ का अमृत भी मुझे विष है।'

'बेशक !' मानो रघुभाई ने कोई अत्यधिक सद्गुण-वाचक बात कही हो इस प्रकार सिर हिलाते हुए वैद्यजी बोले।

थोड़ी ही देर में बल्लभराम चंग पर चढ़े, तब रघुभाई आवश्यक बात निकालने का प्रयत्न करने लगे। मानसिंहजी की मृत्यु के समय बल्लभराम के पिता दवा करते थे, उस समय या तो वह वहाँ दवा कूटते थे अथवा इधर उधर घूमा करते थे। बल्लभराम इस प्रकार डींग हाँकने लगे मानों उन्होंने ही मानसिंहजी को मृत्यु-शय्या पर से उठाकर खड़ा किया हो। वह कहने लगे—'उस समय मेरे पिता एवं एक साधु दो ही मुख्य थे और उन दोनों की सलाह से ही मानसिंहजी की दवा चलती थी।'

'साधु कौन ? रामकृष्णदासजी ?' उछलते हृदय से रघुभाई ने पूछा।'

'अरे नहीं मेरे मेहरवान ! साधु का तो नाम ही कुछ और था। ठहरिये मैं—अरे-अरे--' कह कर सिर खुजलाते हुए नाम याद करने का वैद्यजी ने प्रयत्न किया। 'धत् तेरे की ! याद ही नहीं आ रहा है। कुछ दूसरा ही नाम था। मोंघा या सोंघा ऐसा ही कुछ था।'

'अरे जाने भी दीजिये। नहीं याद आता तो न सही।' तिल में से और तेल निकलने की आशा न देख कर रघुभाई बोला, 'अब आज्ञा दीजिये, यह आपकी दवा का दाम है।'

'रखिये, रहने दीजिये ! भला आपसे पैसा लूँगा ?' कहकर वैद्यराज ने अपनी अनिच्छा प्रकट की। रघुभाई उसे अच्छी तरह पहचानते थे; अतः हठ कर के दवा का दाम देकर घर लौट।

घर पहुँचते ही उसने एक पत्र लिखकर दफ्तर भेजा। आधे घण्टे में ही उस

का उत्तर आ गया। तुरन्त ऊपर जाकर दरवाजा बन्दकर वह पत्र पढ़ने लगा। पत्र निम्नलिखित था।

श्रीमान् रघुभाई साहब,

श्री राजमाता के समय में वारत के करुणानन्दजी को वार्षिक वृत्ति दी जाती थी, साथ ही दरेसाल के स्वामी अमोघानन्द को मिलती थी। प्रतिवर्ष छः सौ रुपये दिये जाते थे। इसके अलावा और जो कुछ काम-काज हो लिखने की कृपा कीजियेगा।

भवदीय—चुन्नीलाल

'अमोघानन्द—मोंघा सोंघा—'रघुभाई ऊँघता हो, इस प्रकार बोल उठा।

१३

चम्पा एक अल्हड़ सुन्दरी, समाज द्वारा नायिका कही जाने वाली चम्पा—तीन दिन से विचित्र भावों का अनुभव कर रही है। जिस सृष्टि पर तिरस्कार की दृष्टि डालना उसने बचपन से सीखा था, जिसके विषयों से पापों से क्षणिक स्थूल सुख प्राप्त करना उसने सीखा था, वह सृष्टि अब उसके पैर के नीचे से खिसकती प्रतीत हुई। जसुभा आते और जाते; रणुभा प्रसन्न होते, रिसियाते और मनाते। थोड़े समय के लिए, सदैव की भाँति, वह नायिका बनती और स्थूल देह बेचकर अपना पालन करती। फिर भी अनिर्धारित विचार जिस समय उसके मन में आते मन की स्थिति विचित्र होती। इस वय में सर्वप्रथम उसे बेचैनी हुई। प्रथम बार उसे गम्भीर विचार की आवश्यकता दिखाई दी। पहले पहल वह अपने जीवन की तुलना करने बैठी। पहले तो उसे कुछ समझ नहीं पड़ा, केवल दूर से खड़ाऊँ की खटखटाहट एक दण्ड की आवाज गगन की गर्जना के समान उसके हृदय में घबड़ाहट पैदा कर देती। उसकी कृत्रिम विरक्त जाती रही। नवोढ़ा में दिखाई पड़ने वाली लज्जा—जिसकी ओर तिरस्कार से वह अब तक देखा करती थी—उसी की वह भोग बन जाती।

प्रतिदिन दिन में दो-तीन बार अनंतानंद जी रणुभा के कमरे में किसी न किसी से मिलने के लिए आते। शायद ही कभी चम्पा उनको सामने देखते हुए नमस्कार कर सकती। किन्तु उसके एवं रणुभा के कमरे के बीच एक बन्द दरवाजा था; बहुत दिनों से इस बन्द दरवाजे में एक छोटा-सा छेद तक नहीं फिर भी वह हमेशा वहाँ बैठती और दूसरे कमरे में से आने वाली आवाज को ध्यान से सुना करती। उसमें एक आवाज—प्रत्येक श्रोता को द्रवीभूत करने वाला, दृढ़, प्रसंगवशात् परिवर्तित स्वर—उसके हृदय में अगिर्वाच्य रस भर देता। उसे सुनकर—उसकी प्रतिध्वनि स्मरण कर—वह जीवित रहती। जसुभा

के सुसंस्कृत शब्दों में, रणुभा की स्नेह पूर्ण बातचीत में भी अनंतानन्द के प्रभावशाली शब्दों की ही विचित्र ध्वनि सुनाई देती।

आज प्रातःकाल चम्पा बैठी बाट देख रही थी। किसकी? यह बताना उसके लिए कठिन था! प्रतीक्षा के प्रति उठने वाले रस का, भाव की सूक्ष्म लहरी की परम्परा का आज चम्पा विचित्र रसपूर्ण अनुभव कर रही थी। बाट देखते समय की उर्मियों में अकल्पित कविता का माधुर्य—अकथ्य एवं अस्फुट माधुर्य—छलक रहा था।

इतने में किसी के पैर की आवाज सुनाई दी—हृदय धड़कने लगा; आवाज पास आई। चम्पा के हृदय में निराशा का अन्धकार छा गया। आने वाली आवाज जूते की थी, खड़ाऊँ की नहीं। निराशा से भरी हुई असह्य वेदना का ऐसा ही प्रत्येक प्रणयी अनुभव करता है। चम्पा ने निःश्वास लिया। साथ ही दूसरा विचार भी आया, 'मैं चम्पा नायिका हूँ, मुझे यह कैसा रोग लग गया?'

'चम्पा!' रणुभा ने आते ही पूछा, 'क्या सोच रही हो?'

'कुछ भी नहीं!'

'बड़ी गम्भीर लग रही हो!'

बड़ी कठिनता से स्वस्थता प्राप्त कर चम्पा बोली—'आप कह नहीं रहे थे कि चम्पा तू गम्भीर बन? अब मैं आप के कथन का पालन करने का प्रयत्न कर रही हूँ।'

'चम्पा! मैं बहुत कुछ कहता हूँ, और तू उसे करती है; पर क्या मेरे प्रेम का प्रतिदान नहीं करेगी?'

'आपको तो दिन भर यही बात है? मैंने आप से एक बार तो कह दिया कि यथा-शक्ति चाहूँगी। अब क्या करूँ? मैं धोखा देना नहीं चाहती। रणुभा! आप पर मुझे अत्यधिक दया आती है। किन्तु जो मेरे पास नहीं है उसे कैसे दूं? प्रेम और मेरे बीच में शत्रुता है।' कह कर चम्पा ने अनजाने ही गहरी ठंढी साँस ली।

'जो कुछ तूने कह दिया है उसके लिए मैं तेरा आभारी हूँ।' कहकर रणुभा ने चम्पा के कन्धे पर हाथ रखा।

चम्पा ने हाथ हटा दिया। अभी-अभी अपने पापी जीवन पर उसे घृणा हो रही थी। जो कुछ उसके प्रतिदिन के अनुभव थे उसकी ओर आज वह स्वयं तिरस्कार की दृष्टि से देखने को विवश हुई।

रणुभा का असन्तोषी स्वभाव दुःखी हुआ। उसकी ओर उलाहने की दृष्टि से देखकर वह बोले—

'चम्पा तुझ में तीन गुण, रूप, रंग और बास'

दूसरी कड़ी चम्पा ने अपने सुसंस्कृत, मधुर स्वर से जोड़ दी, बाता-

वरण में उसका स्वर काँप उठा। किसी अकथ्य निराशा का भाव उसके स्वर से व्यक्त हुआ—

'अवगुण तुझ में एक है, भ्रमर न-आवे···'

पद अधूरा ही रहा।' 'पास' शब्द नहीं निकला। पिछली सीढ़ी का दरवाजा खुला और अनतानंदजी आये। चुपचाप खाते हुए लड़कों के पकड़े जाने पर जो दशा उनकी होती है वही दशा इन दोनों की हुई। चम्पा लजा गई और अपना वस्त्र ठीक करके वह उठी। उसके मुख पर लाली दौड़ गई। उसने काँपते हुये हाथ से नमस्कार किया।

'रणुभा! अंगरक्षकों में कौन-कौन चुना गया?'

रणुभा ने नामों की सूची दे दी, वही नाम थे जिन्हें स्वामीजी ने रघुभाई को दिया था।

'ठीक। अरे रणुभा! मुझे स्वप्न में भी विश्वास नहीं था कि तुम दोनों में पटेगी। तुम्हारे विचार एवं तुम्हारी शिक्षा देखते हुए यह परिणाम तो अचिंत्य ही कहा जायगा।' थोड़ा हँसकर व्यंग करते हुए स्वामी ने कहा।

रणुभा को स्वामीजी के सम्मुख हृदय खोलकर रख देने का स्वभाव था। अतः उसने सीधा-साधा उत्तर दिया—'महाराज! आप भी कहेंगे? आपको अनुभव न हो पर आप समझ तो सकते ही हैं। मेरा हृदय शून्य था, अब वैसा नहीं है। अब तक मैं अकेला था, अब हृदय ने जोड़ी ढूंढ़ निकाली है। महाराज! आपके आर्शीवाद भर की देर है।'

मूर्ख पुत्र की भूल देखकर जैसी हँसी पिता के मुख पर आती है वैसी ही हँसी इन शब्दों को सुनकर स्वामीजी के मुख पर छा गई। शब्द की अपेक्षा रणुभा का चेहरा, उनकी आँखों में चमकने वाला तेज, उनके हृदय के भावों को पूर्ण रूप से व्यक्त कर रहे थे।

'चम्पा! तुम्हारे सिर पर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व आ पड़ा है। एक ओर रणुभा और दूसरी ओर जसुभा। अब दोनों का जीवन उत्कृष्ट करो; यदि न किया तो तुम जानो।'

चम्पा को पैर पकड़ने की इच्छा हुई, स्वामीजी का शरीर स्पर्श कर शाँत होने की मन में तीव्र अभिलाषा हुई, परन्तु साहस न संजो सकी। उसका मन विभ्रान्त हो गया था।

'मैं कहाँ से करूँ? मैं स्वयं ही अधम···?

'नहीं! फिर कभी ऐसा मुँह से मत निकालना, उच्चता स्वीकार करो, उच्च बन जाओगी। सृष्टि में अधमता मान लेना ही पागलपन है।' कहकर मुसकराते हुए स्वामीजी वहाँ से जले गये।।

थोड़ी देर तक दोनों एक दूसरे की ओर देखते रहे।

'चम्पा ! मैंने कहा नहीं था कि स्वामी जी सबसे भिन्न हैं। नहीं तो हमारी-सी भूलें कौन क्षमा करेगा ?'

चम्पा ने उद्विग्नता से सिर घुमा लिया।

रणुभा ने चम्पा में होने वाले परिवर्तन को देखा और स्वामीजी की संगति से वह सुधरती जा रही है, ऐसा उसे लगा। कुछ समय में चम्पा स्थिर हो जायगी, सदैव के लिए अधमता छोड़कर वह मेरी हो जायगी, इस प्रकार की कल्पना मात्र से वह पुलकित हो उठा।

चम्पा मन में कह रही थी, 'सृष्टि में कोई अधम नहीं है। क्या यह सच है ?'

१४

'रणुभाई ! अभी से यात्रा करने की इच्छा ! तुम्हें यह भूत कहाँ से लग गया ?' रेवाशंकर ने पूछा।

'बहुत दिनों से मेरा मन है। फिर इस समय यहाँ कोई विशेष काम भी नहीं है। पहले आबू जाऊँगा, वहाँ से हो सका तो गयाजी श्राद्ध करने जाऊँगा। साथ ही इस समय मेरी तबियत भी ठीक नहीं है।'

'अच्छी बात है ! लेकिन हो सके तो महीने भर में लौट आना।'

'जैसी आपकी आज्ञा ! एक बात और है। रास्ते में मुझे दुर्गापुर भी जाना है। हुजूर साहब का ननिहाल है, इसी बहाने देख आऊँगा। परिचय-पत्र दें दें तो कृपा हो।'

'हाँ, हाँ ! उसका प्रबन्ध हो जायगा।'

जब कोई काम करने का निश्चय रघुभाई करता था तब उसे शीघ्रता से पूर्ण भी कर देता था। कमला एवं रमा को एक मित्र के यहाँ छोड़कर तुरन्त वह दुर्गापुर पहुँच गया। दुर्गापुर में रत्नगढ़ के लिए बड़ा मान था जिससे वहाँ के कोतवाल की हर प्रकार खातिर की गई। जब कार्यकर्तागण दूर विदेश जाते हैं तब ज्यों-ज्यों स्वदेश से अन्तर बढ़ता जाता है त्यों-त्यों सत्य से भी अन्तर बढ़ता जाता है। यह गुण रघुभाई ने बहुत अच्छी तरह सीखा था। यहाँ उसने ऐसा जाल फैलाया कि सम्पूर्ण दुर्गापुर उस में फँस गया; किन्तु इससे उसका अर्थ सिद्ध नहीं हुआ।

उसने राजमाता और अमोघानंद के संबन्ध में यथाशक्ति पूछ-ताछ की। राजमाता ने जिस प्रकार रत्नगढ़ में आँतक फैलाया था वैसे ही अविवाहिता-वस्था में भी दुर्गापुर भी एक स्मारक छोड़ गई थी। जब वे यहाँ आतीं तब सभी भय से काँप उठते। युवावस्था में भी उनका स्वभाव इतना उच्छृंखल था कि उनके संबंध में अनेक दन्तकथायें प्रचलित थीं। ऐसा लोगों का कहना था कि वे

केवल अमोघानन्द से ही वश में रहती थी। जिस समय जसुभा का जन्म हुआ उस समय तथा उसके पश्चात् भी जब कभी वे आतीं, तब दरेसाल में ही रहतीं। दरेसाल दुर्गापुर से सात मील दूर था ; राजमाता के माँ-बाप को भी उनका दूर रहना ही ठीक लगता था। रघुभाई को विश्वास हो गया कि यहाँ कुछ पता चलना नहीं है, जिससे दरेसाल के स्वामी के पास सन्देसवाहक भेजकर स्वयं भी वहाँ जाने के लिए वह निकल पड़ा। थका-माँदा पैर घसीटता हुआ रघुभाई दरेसाल पहुँचा। उस समय बिल्कुल अन्धेरा हो गया था। संध्या के मद्धिम प्रकाश में एक बड़े खण्डहर का आभास दिखाई पड़ा। सामने एक लैम्प जल रहा। रघुभाई की गाड़ी आई। पुराने चालकी अहमदाबादी पगड़ी पहने हुए एक वृद्ध गृहस्थ आगे आया।

'कौन मुनीम जी ?' रघुभाई ने पूछा।

दोलाशा ने सिर हिलाया। जहाँ कार्य बढ़ाना हो, मालिक का पैसा पचाकर जेब भरना हो, वहाँ गुजरात के अनेक स्थानों के लोगों ने संसार भर में प्रसिद्धि प्राप्त की है। दोलाशा भी इसी वर्ग का था, साथ ही बड़ा बातूनी और गप्पी भी !'

'हाँ ! भइशा ! हाँ भइशा ! आप ही रघुभाई हैं ? मेरा धनभाग्य ! पधारिये भइया[1] ! पधारिये ! आप कहाँ के हैं ? श्युरत[2] के ? हो हो, क्या कहा आपने ?'

बहुत वर्षों से मारवाड़ में रहने पर भी दोलाशा ने अपनी भाषा अशुद्ध होने नहीं दी थी। यह देखकर रघुभाई थोड़ा हँसा और यह संदिग्ध निमन्त्रण स्वीकार कर मठ में गया। भीतर गद्दी पर भगवा वेश में एक वृद्ध बैठा हुआ हुक्का पी रहा था। उसकी आँखें नशे में डूबी हुई थीं। ऐसा मठाधिपति देखकर रघुभाई को आश्चर्य हुआ। जिस मठ में करुणानन्द का साकापन एवं अनन्तानन्द की भव्यता प्रस्फुटित हुई, उसका स्वामी यह ! उसे पता नहीं था कि अमोघानन्द वारत में मर गये जिससे उत्तराधिकारी वरण करने का उन्हें बिल्कुल समय ही नहीं मिला।

रघुभाई की आवभगत करने का भार दोलाशा को सौंपकर स्वामी महाराज थोडी देर पश्चात भीतर चले गये उनके जाने के बाद दो-तीन स्वामी आकर वारत का हाल-चाल पूछने लगे। रघुभाई को समझने से देर न लगी कि अनन्तानन्द यहाँ अनेक मित्रों के पूज्य भाव छोड़ गये हैं उनमें अपनी भव्यता का कुछ अंश भी भर गये हैं। दोलाशा को भी अनन्तानन्द के प्रति पूरा प्रेम था और जब बहुत खुश हो जाता तब अपने और अनन्तानन्द की मित्रता में

१. भाई साहब। २. सूरत

चमन को पेश करता जो अहमदाबाद परचून की दुकान करता था।

रघुभाई को अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ा। उसने ऐसा भाव दिखाया मानो उसमें अनन्तानन्द में अटूट मित्रता है और वह उन्हें ईश्वर से भी अधिक मानता है।

आखिर दोलाशा उन्हें ऊपर ले गया और जहाँ वह स्वयं सोता था वहीं रघुभाई के सोने का प्रबन्ध कर दिया। रघुभाई चाहता भी यही था। उसने दोलाशा की खूब प्रशंसा की। बात पर बात चली। राजमाता यहाँ कहाँ पर उतरती और कहां रहती थी। जसुभा को किस प्रकार रखती आदि सभी बातें मालूम करने के बाद अनन्तानन्द के बचपन की बात रघुभाई ने छेड़ी, पर बात फेरकर अहमदाबादी चतुराई से निद्रा का बहाना कर दोलाशा सो गया।

रघुभाई ने रात भर विचार किया। एक तो राजमाता का भेद था और दूसरा अनन्तानन्द का। एक भेद के दो भाग हो गए। दोलाशा की चालाकी तो वह समझ गया किन्तु वह बात जिसे दोलाशा छिपाना चाहता है, क्या है यह नहीं समझ सका।

प्रातःकाल उठने पर दोलाशा जरा दूर ही रहा परन्तु उसकी चपल जीभ रघुभाई की वाणी मिठास के आकर्षण के सामने ठहर नहीं सकी। दिन भर रघुभाई ने दोलाशा की खुशामद की और रात्रि में जब सोने के लिए आया तब तक तो दोलाशा पिघल कर पानी हो गया था।

'दोलाशा ! अब मैं कल जाऊँगा। याद कीजिएगा न ?'

'अरे क्या भइशा ? आपको अवश्य लिखता रहूँगा भइशा ! अहमदाबाद जाना तो पतासा की पोल है न ? वही चमन से मिलना, मैं भी उसे लिख दूँगा।

'यह तो ठीक है दोलाशा ! पर मैं यहाँ किसलिए आया हूँ, पता है ?'

'जी नहीं !'

'मुझे स्वामी जी ने तुम्हारे लिए ही भेजा है।'

'भइशा ! मैं क्या कह नहीं रहा था ? शामी जी किसी दिन मुझे या चमन को भूल नहीं सकते।' अनन्तानन्द ने याद किया इस हर्ष में आँखें मटकाते हुए दोलाशा बोला।

'मुझ से कहा है कि दरेसाल जाकर मेरे परम मित्र दोलाशा से एक बात मालूम कर जाओ।'

सन्देह से दोलाशा ने अपने आस-पास देखा, 'कौन सी बात ?'

रघुभाई धीमी आवाज में कहने लगा। दीप के मद्धिम प्रकाश में ऐसा लग रहा था मानो दो-चार आपस में सलाह कर रहे हैं।

'दोलाशा ! यही तो। स्वामीजी ने कहलाया है पुरानों में अब तुम्हीं, रह गये हो और तुम्हारी नमकहलाली दिखाने का प्रसंग भी अब आ गया है

इसलिए जो बातें हों वह मुझे बता देना। रघुभाई गप्प-पुराण का पृष्ट खोलते हुए बोला। बनिए के मन में फिर कुछ सन्देह हुआ कि यह कोई कूटमीतिज्ञ न हो किन्तु रघुभाई के जादू का असर उस पर पूर्ण रीति से हो गया था। उसका विश्वास पुनः दृढ़ हो गया।

'शामी जी को क्या काम है ?'

इतना भी नहीं समझते ? राजकीय समस्यायें है और क्या !' कह कर दोलाशा का उसने हाथ दबाया। दोलाशा का सन्देह दूर हो गया, उसकी जीभ खुल गई और निर्दोष हृदय से उसने सब बातें बता दीं। सावधानी से रघुभाई ने थीरे-धीरे सबको उगलवा लिया। उसके आश्चर्य का ठिकाना नही रहा। उसके हृदय में भेद के ज्ञान से हर्ष हुआ ; भेद के भार से थोड़ा-बहुत डर भी पैदा हुआ।

'किन्तु इसका प्रमाण क्या है ?'

'दोलाशा क्या कच्चा है भइशा ? थोड़े बहुत कागज पत्र हैं।' कहकर वह उठा और एक भण्डरिया खोल कर उसमें से एक छोटी पौटली निकालकर धूल झाड़ कर दो-तीन पत्र तथा एक जन्मपत्र का पुलिन्दा उसने बाहर निकाल कर पढ़ा—और रघुभाई को दे दिया।

दूसरे दिन विजय की नाद रघुभाई के कान में गूँजने लगा और उसने वहाँ से विदा ली—दो दिन वह दूसरी खोज में दुर्गापुर में रहा। अन्त में यात्रा की बात भुलाकर रत्नगढ़ जाने की वह तैयारी करने लगा। उसका हर्षित हृदय उछलने लगा मन में स्वच्छ महत्वाकाँक्षी विचार आने लगे। अपने भविष्य के सामने सर टी० माधवराज का जीवन भी उसे तुच्छ जान पड़ा।

१५

'चम्पा !' जसुभा ने उबासी लेते हुए कहा—'तू दिनों-दिन बिगठ़ती जा रही है।'

"कैसे ?'

'अब तो तू गम्भीरता का स्वाँग भरने लगी है !'

'यह आपने कैसा समझ लिया ?'

'हाँ जब से ऊपर रहने लगी है तब से पहले की अपेक्षा तेरी प्रफुल्लता कम हो गई है। इसका कारण ?'

धीरे से चम्पा ने ठण्डी उसाँस भरी। अकथनीय और अतुल भार उसके मन

पर रखा हो ऐसा प्रतीत हुआ। उसे ऐसा लगा मानो दूसरों को प्रयत्न करने वाली नायिका का लक्षण उसमें से जाता रहा। बड़े परिश्रम से उड़े जाते हुए विचारों को स्थिर कर, अपनी बची हुई मानसिक शक्ति को उसने एकत्र किया। उसके इसी अल्हड़पन की विशेषता के कारण जसुभा उस पर आसक्त थे। अब जब चम्पा के नवीन भाव उसे इस स्थल पर रहने के लिए विवश कर रहे थे, तब उस भाव से उत्पन्न गाम्भीर्य जसुभा को कंटकित कर रहे थे। अभी भी उसकी मोहिनी के पाश से जसुभा छूटे नहीं थे। बची हुई मोहनी को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करना चाहिये, चम्पा की धारणा थी।

'क्या करूँ, जब मैं गम्भीर न रहती तब भी आप रुष्ट थे और अब कुछ सुधर गई तब भी मेरा दुर्भाग्य ! राजा की चाकरी से तो सूखी रोटी भली !'

'तब कल से सूखी रोटी का प्रबन्ध कर दूँ ?'

'अर्थात् चाकरी और रोटी दोनों का कष्ट है ?' यथाशक्ति कृत्रिम वाचालता से चम्पा ने कहा, 'तब यह बुलबुल अपने गुल के साथ उड़ जायगी ?'

'तेरा गुल कौन ?'

'गुल ? रणुभा ! मैं जाऊँगी तो वह यहाँ नहीं रहेगा ?'

'वह मुझे छोड़कर न जाय तब ?'

'यह तो समय आने पर पता चलेगा।' चम्पा ने कहा।

इतने में बाहर रणुभा जा रहे थे, उन्हें जसुभा ने देखा।

'रणु !'

'जी !'

आज की डाक में नये नावेल आये हैं क्या ?'

'जी हाँ ! अभी पार्सल खोलकर आपकी मेज पर रखे आ रहा हूँ।'

'अच्छी बात है। चम्पा ! इस समय तो मैं जाता हूँ। रणुभा ! देखना तुम और चम्पा भाग मत जाना, समझे !'

रणुभा तनिक हँसे, चम्पा भी हँसने वाली थी कि दूर से खड़ाऊँ की आहट उसके कान में पड़ी और उसका हृदय धड़क उठा। उसके होठों से हँसी जाती रही। जसुभा ने बाहर से आवाज दी—'जरा यहाँ आओ रणु ! कुछ काम है।'

चम्पा को छोड़ने से दुःखित होता हुआ रणुभा आज्ञाधीन हुआ। जाते-जाते एक दृष्टि उसने चम्पा पर डाली; देर लगे तो अनन्तानन्द का स्वागत करने का अर्थ भी उसमें निहित था। जसुभा और रणुभा वहाँ से चले गये।

चम्पा खड़ी रही। हृदय रणुभा के बैठक की ओर आकृष्ट हो रहा था, उड़ा जा रहा था। दृष्टि वहाँ बैठे हुए व्यक्ति का रूप, गौरव देख रही थी, स्थूल शरीर वहाँ जाने के लिए—पैर पकड़ने के लिए आतुर हो रहा था। प्रेमी हृदय की शंका, लज्जा और घबराहट उसे रोक रही थी। जीवन भर तरसने

के बाद जब अन्त में साध्य के समीप जाने का अवसर मिलता है तब ठीक उसी समय हृदय दगा देता है; पैर को उठने से मना कर देता है। ऐसी स्थिति का किसे अनुभव नहीं है ? चम्पा-लुक-छिपकर अतंदानंद को देखती; बहुत से लोग उपस्थिति रहते तो एक कोने में बैठकर चोरी से उनकी कान्ति निहारती। विचार की स्पष्टता का तेज न पड़ सकने वाले अंतर की गम्भीरता में उनसे मिलने के लिए कुछ कर डालने की प्रबल उत्कंठायें उत्पन्न होतीं। फिर उत्कण्ठायें जहाँ की तहाँ लय हो जातीं। अनन्तनन्द की अलोकिक भव्यता देखकर सभी स्वार्थी विचार शान्त पड़ जाते। बहुतों के हृदय की आराध्य मूर्तियाँ, सत्य की दृष्टि से देखने पर, पत्थर की निकल जाती हैं। जिस मूर्ति को हृदय में रखकर चम्पा अपना प्रेम अर्पण कर रही थी, वह बाहर अस्पर्श्य, अलभ्य, सहस्र गुण अधिक स्वर्गीय लगती, उसके और अपने बीच में असीम अन्तर देखकर काँप उठती—निराश होती। निराशा अग्नि पैदा करती है जिससे दिनों-दिन अधिकाधिक जला करती। एह दृष्टि-विंदु से वह अपने को तुच्छ मानती। नायिका की स्वच्छन्दता एवं स्वस्थता निज स्वभाव में से जाती हुई देखकर उसे घबराहट होती नवीन प्रलय-समुद्र की गगनचुम्बी तरंगें इन किनारों को कभी का तोड़ चुकी थीं। चम्पा का हृदय अरक्षित हो चुका था।

बहुत दिनों बाद आज अकेले मिलने का अवसर मिला था। मिलूं क्या करूँ ? अन्यमनस्क भाव से वह निकली, अस्थिर से पगों से वह आगे बढ़ी। रणुभा के कमरे के दरवाजे तक गई, घबराई और पीछे लौटी। जाऊँ ? क्या करूँ ? यह निश्चय करने के लिए पर्याप्त समय चाहिये। अभी सभी शक्तियाँ मन्द पड़ गई थीं। इतने में अनायास अनंतानन्द घूमते हुए दरवाजे के पास आये और चम्पा को देखकर जरा हँ।

'कहो चम्पा, कैसी हो ?'

स्थिति स्वयं सुलझ गई, परन्तु वह क्या करे यह उसे सूझा नहीं।

'जी, ठीक हूँ।' कहकर वह भीतर चली गई, पर अब बात क्या करे ? मन में कहने के लिये तो बहुत कुछ था, लेकिन वह कहे कैसे !

'चम्पा तुम दिनों-दिन बदलती जा रही हो।'

दोनों व्यक्तियों का—जसुभा और अनन्तनन्द का एक ही अभिप्राय !

'किस प्रकार ?'

'कुछ-कुछ तुम में गाम्भीर्य का भास हो रहा है।'

चम्पा ने अचिंत्य निःश्वास ली और बात हँसी में उड़ाने का प्रयत्न करते हुए कहा—'गाम्भीर्य ! मैं गम्भीर थी कब ?'

अनन्तानन्द के बड़े-बड़े तेजोमय नेत्रों में से अमृत बरस रहा था। आनन्द-

विह्वला पागल चम्पा उसका पान कर रही थी।

'अब तक मैंने सब देखा, परन्तु तुम अपनी जाति के साथ अत्यधिक अन्याय कर रही हो। तुम से मुझे बहुत कुछ आशा है। तुच्छ जीवन में रहते हुए भी अपना स्वभाव शुद्ध रख सकी हो, इतना ही क्या कम है; पर अब उसमें विकास की आवश्यकता है।'

'महाराज ! क्या बदलूँ, मेरा दुर्भाग्य ? सैकड़ों बाधायें और रुकावटें आकर खड़ी हो जाती हैं।'

'बाधाओं को दूर कर डालो।'

'दूर नहीं होतीं, स्वामी जी ! नहीं होतीं !' जरा अपनी दबी हुई ऊर्मियों को उभाड़ते हुए बोली—'आप तो दैवी पुरुष हैं, महात्मा हैं, मैं क्षुद्र हूँ। कभी-कभी तो ऐसा मन होता है कि आत्महत्या कर लूँ।'

इस निराशा, इस स्पष्टवादिता पर स्वामी के सात्विक स्नेह का जल-सिंचन हुआ—यह भी आनन्द की बात है। अब तक तू मोह में पड़ी थी, तेरे स्वभाव में जड़ता फैली हुई थी अब बरफ पिघलेगा और निर्मल पानी बहेगा। तेरे अंतः-करण में इस समय जो अग्नि जल रही है उसी आग से पहले की स्थूलता जाती रहेगी। तमोगुण नष्ट करने के लिए रजोगुण की आवश्यकता है। जरा भी घबराना मत। इस समय जो जल रहा है वही निराशा एवं क्रोध है वे ही तुझे बचने का मार्ग दिखावेंगे। अग्नि में गिरने पर ही उसमें से निकलने का मार्ग दिखाई देता है।'

चम्पा के हृदय में कुछ-कुछ बोलने की इच्छा हो रही थी। अनन्तानन्द उसका इतना ध्यान रखते हैं, यह देखकर वह गद्‌गद् हो गई। मन में जो कुछ हो रहा था उसे कह देने की इच्छा हुई किंतु अनन्तानन्द के शब्दों में ऐसी अस्पर्श्यता थी, उनके गौरव में इतना अन्तर था कि शब्द होंठ पर आकर रुक जाते थे। हिमाच्छादित गोरीशंकर जैसे व्योमचुम्बी शिखर की शीतलता भव्य होती है, जाने-अनजाने में हम उसकी प्रशंसा करते हैं; परन्तु घर के छप्पर पर तो खपरैल ही रखा जा सकता है, हिमालय नहीं।

'न जाने कब दिखाई देगा ? अभी तो कुछ सूझता नहीं है।'

'सूझेगा, सूझेगा !'

इतने में रघुभाई आ गया। उसकी पदोन्नति हो गई थी। एक-दो बार स्वामी के पास संदेश कहलाया था किंतु दुर्गापुर से आने के पश्चात् आज ही पहले-पहल उनसे मिला था। उसने जब आकर इन दोनों को एकान्त में बात करते हुए देखा तो उसके मुँह पर हँसी छा गई। गुणवन्ती ने जो अनुभव से कराया था वह उसे याद था और दुनियाँ को वह अपने ही पापो हृदय के माप से मापता था। आज अनन्तानन्द का स्वरूप उसे भिन्न ही लगा, उसका विचार वह स्वयं

समझ सकेगा, ऐसा उसे विश्वास हो गया। अब यह बाबा बहुत बुद्धिमानी नहीं बघारेगा क्योंकि अब वह उसका भेद पा गया था।

'कहिये महाराज ! अच्छी तरह तो हैं ?' बड़ी नम्रता से उसने पूछा।

स्वामी का रूप बदल गया। थोड़ी देर पूर्व जहाँ स्नेहमय पिता का उलछता हुआ स्नेह चमक रहा था, वहाँ कठोरता एवं परिवर्तन दृष्टिगोचर हुआ। इस परिवर्तन से रघुभाई का द्वेष और भी अधिक हो उठा—'यह घमण्ड कब दूर होगा कि जिससे मुझे शान्ति मिले।' वह मन में बोला।

'हाँ, वायु-परिवर्तन के लिए गए थे क्या ? लेकिन तुम तो पहले से भी अधिक कमज़ोर हो गए !'

'इसी से लौट आया, मुझे कहीं आराम नहीं मिला।'

'अरे रघुभाई ! तुम रामकृष्णदासजी को क्यों तंग कर रहे हो ?'

'अरे जाने भी दीजिये महाराज ! यह बाबा इतना पाजी है कि इसे यदि राज्य से निकाल दिया जाय तब भी पाप नहीं लगेगा।'

'रघुभाई, बाबा तो मैं भी हूँ; क्यों ?'

'अरे आप ?'

'रामकृष्णदासजी को राज्य से बाहर करने के पूर्व तो बहुतों को राज्य से बाहर निकालना पड़ेगा।'

रघुभाई ने दाँत पीसे। उसका पासा तो ठीक पड़ ही नहीं रहा था। उसने सोचा कि यदि दिन भर अनंतानन्द का कहा करता रहूँगा तो अपना स्वार्थ कभी भी न उठेगा।

'जो भी हो पर मैं तो अपना निश्चय पूरा ही करूँगा। हम सबका अपना अपना उद्देश्य होता है। मुझे रामकृष्णदास को ठीक करना है।'

यह शब्द रघुभाई ने अनंतानन्द को चौंकाने के लिए कहे थे पर उसका प्रयत्न निष्फल गया। अनंतानन्द ने रघुभाई को इस प्रकार तरेरकर देखा मानो कोई बड़ी मूर्खतापूर्ण बात मुँह से निकाल दी हो। रघुभाई बोल तो गया परन्तु पीछे पछताने लगा।

'रघुभाई ! जब रामकृष्णदासजी को मैं रखना चाहता हूँ तब वे रहेंगे ही, उन्हें कोई निकाल नहीं सकेगा। यह असम्भव है। वैसे अपना हाथ पैर पटकने के लिए तुम स्वतंत्र हो।' धीरे-धीरे भाग्यदेवी की निश्चल भयंकरता की तरह स्वामी बोले। अनजाने में ही रघुभाई काँप उठे।

स्वामी चम्पा की ओर घूमे—'तुम रामकृष्णदासजी को जानती हो न ?'

'जी नहीं, कौन हैं वे ?'

'सीधे-सादे, संतोषी और हरीभक्त सज्जन हैं, रत्नगढ़ के गुप्त रत्न हैं। यहाँ जो रामचन्द्रजी का मन्दिर है उसी के वह महन्त हैं।'

'अरे ! जहाँ आप रहते हैं वहीं न ?'

'हाँ, मैं वहीं ठहरता हूँ ।'

'रघुभाई के विस्मय का ठिकाना नहीं रहा । इस बाबा के साथ काम करते समय आज्ञा देना तो दूर रहा सदैव आज्ञा-पालन ही करना पड़ता था । दूसरी बार दाँव में वह हारा और हार की खीज से दुनिया भर को शाप देता हुआ, वह वहाँ से उठा ।

'रघुभाई ! थोड़े ही दिन में तुम्हें लाभ होगा ।' स्वामी ने कहा !

'क्या ?'

'नायब दीवान की जगह रिक्त होने वाली है ।'

'जी हाँ, परन्तु महाराज तो बाहर से किसी को बुलाने वाले हैं !'

'घबराना नहीं, अपना भी हाथ है न ? उस स्थान पर तुम्हीं जाओगे ।'

रघुभाई हँसा, उसका दबा हुआ जोश फिर उछल पड़ा, कोई बात नहीं, निर्धारित निशान पर पहुचूँगा अवश्य । पहली सीढ़ी ही अनन्तानन्द की मदद से चढ़ने में समर्थ हुआ यह उसे अच्छा नहीं लगा । रघुभाई के लिए यह बात कष्ट-कर थी क्योंकि कब और किस प्रकार यह बाबा इस कृपा का मूल्य माँग बैठेगा. यह उसकी समझ से बाहर की बात थी ।

१६

अनन्तानन्द ने दूसरे दिन रामकृष्णदासजी से सब बातें पूछीं । बाबाजी से सारांश में ही सुन कर स्वामीजी सम्पूर्ण वस्तु-स्थिति स्वयं समझ गए । संध्या समय बारत से पत्र ले कर एक आदमी आया । पत्र पढ़ते ही स्वामी ने बारत जाने का अपना निश्चय प्रकट किया ।

'रामकृष्णदासजी ! वहाँ कुछ काम है । मैं शीघ्र ही आ जाऊँगा ।'

'अच्छा महाराज ! शीघ्र ही आइयेगा ।'

अनन्तानन्द के चले जाने के थोड़ी ही देर बाद गाड़ी में बैठकर चम्पा और रणुभा आ पहुँचे ।

'लो यह मन्दिर आ गया, हुआ ?' रणुभा ने पूछा ।

चम्पा आज दूसरी ही लग रहीं थी । पाउडर के लाली की शोभा उसने छोड़ दी थी । प्रत्येक अंग तथा मुँह पर चिन्ता की स्पष्ट झलक दिखाई पड़ रही थी । शरीर पर फीकापन कुछ अधिक दिखाई दे रहा था ।

उसने मन्दिर देखा—मन्दिर के चारों कोने में दृष्टि डाली । मन्दिर था किन्तु उसकी आत्मा अदृश्य थी ।

'अनन्तानन्दजी कहाँ हैं ?' बड़ी कठिनता से उसने पूछा।

'अभी शहर गए हैं, कल जाने वाले हैं।'

'कहाँ ?' चम्पा और रणुभा दोनों एक साथ बोल उठे।

'वारत। वहाँ से एक पत्र आया है जिसे पढ़ कर जाने का निश्चय भी कर लिया है।' चम्पा के हृदय का दीपक मानो बुझ गया, श्वाँस रुँधती हुई-सी मालूम पड़ने लगी।

रणुभा ने पूछा—'कब जाने वाले हैं ?'

'कल प्रातःकाल।'

दोनों वापस लौटे। रणुभा जरा खिन्न हो गए और चम्पा को तो प्राण ही निकलता-सा मालूम पड़ा। आज कितने ही दिनों से उनके शब्दों की प्रतिध्वनि, उनके मुख की स्मृति पर ही वह जी रही थी; शून्य बने हुए संसार में इतना ही उसके साथ था। चित्त को बड़ी कठिनता से वश में रख कर, स्वामी को देखने, स्मरण करने, स्वप्न में देखने में ही उसका जीवन सीमित था और इस प्रकार वे चले जा रहे हैं! भेंट तक नहीं की! हाय! हाय! कैसे सहन होगा? अनेक वर्षों की कुटिलता से प्राप्त लज्जाहीनता छोड़ कर, अपने एवं स्वामी के बीच का अन्तर भुला कर, अपनी ढलती हुई जवानी का विचार त्याग कर, चम्पा प्रेम विह्वल हो गई। स्वामी को दूर से ही देख कर भजने का संकल्प नष्ट हो गया। अपनी स्थूलता छोड़ कर स्वामी द्वारा निर्दिष्ट किए हुए मार्ग पर चल कर अपना जीवन प्रस्फुटित करने का उसका स्वप्न धूमिल हो गया। चम्पा के हृदय में ज्वाला प्रज्वलित हो उठी, मन, बुद्धि और विवेक सभी पर से संयम जाता रहा।

वह घर गये। स्वामी वहाँ एक पत्र छोड़ चले गये थे।

चिरञ्जीव रणुभा।

'आशीर्वाद! मैं कल जाने वाला हूँ; यदि नायक दीवान की जगह खाली हो तो ऐसा प्रयत्न करना कि रघुभाई नियुक्त हो जाय। चम्पा से कहना, वह चाहेगी तो काम हो जायगा।'

—अनन्तानन्द

रणुभा ने उसे पढ़कर चम्पा को दे दिया। चम्पा की छाती एक हाथ ऊँची हो गई। अनन्तानन्द चम्पा को इतना उच्च स्थान दें, उनकी बुद्धि एवं कला पर इतना विश्वास करें, इससे अधिक गर्व करने का कारण और क्या हो सकता है ? भले ही गोवर्धनधारी स्वयं गोवर्धन उठायें, पर विक्षिप्त गोपियाँ तो तुच्छ लकड़ी का सहारा देकर ही हृदय में आनन्दित होंगी। प्रेम ही सहजीवन और सहकारिता की सीमा है। चम्पा हर्ष से उन्मत्त हो गई।

रात हुई। रणुभा मन बहलाव करने के लिए आये। चम्पा ने सिरदर्द का बहाना कर उसे विदा किया। बेचारा रणुभा चला गया और बिछौने पर पड़कर

निर्दोष निद्रा के आधीन हो गया। चम्पा का मन इस समय घुड़दौड़ लगा रहा था, नगर के बाहर रामचन्द्रजी के मन्दिर में। स्वामीजी के जाने के विचार ने उसे पागल बना दिया था, मन की सभी वृत्तियाँ व्याकुल हो उठीं। उनसे मिले बिना, उसे देखे बिना वह जा रहे हैं? सब शरीर तड़प रहा था। हृदय व्याकुल था किस लिए? वह निर्णय नहीं कर सकी। नायिका-जीवन का स्वभाव छोड़ कर, त्यागी जीवन का अन्तर भूलकर, सच्चे मानुषी स्वभाव के प्रेम का आनन्द और अधिकार प्राप्ति के लिए—भोगने के लिए वह उत्सुक हो रही थी।

पानी से उसने मुँह धोया। दावानल क्या पानी से बुझ सकता है? उसने उठकर कपड़े पहने, कुछ निश्चय किया। जाऊँ मिल लूँ। एक बार भेंट कर हृदय ठंडा करूँ; सिर काटना हो भले ही काट डालें। एकबार तो उनकी गोद में उसे रख दूँ। दूसरे क्षण मन पूछता—'चम्पा! तू यह क्या कर रही है?' पर उत्तर मिलने के पहले ही अनन्तानन्द आँखों के आगे आ जाते और अज्ञान पतंगे के समान दीपक पर वह नाचने लगती।

चम्पा नीचे उतरी, बाग के पीछे के रास्ते से आगे बढ़ी। भय जैसी वस्तु उसके हृदय में थी ही नहीं। संसार के निम्नतर कोटि का अनुभव होने से स्त्री-जाति के स्वभाव के कितने ही भाग उसमें थे ही नहीं। जिस बाजार से गुणवन्ती कुछ दिन पूर्व लज्जा से दौड़ती हुई गई थी, उसी रास्ते से बाघिन के समान प्रेम-क्षुधा से व्याकुल चम्पा निर्भयता से चली जा रही थी। अर्ध-रात्रिका समय था, रात अँधेरी थी। तारागण के चमकने से क्षण-सा प्रकाशमात्र था।

रामचन्द्रजी का मन्दिर दिखाई पड़ा। चम्पा और तेजी से चलने लगी। उसे ऐसा लगा मानो कुछ चोरी करने आई हो। उसने अनन्तानन्दजी के सोने का स्थान पहले से ही पूछ लिया था, वह उसी ओर गई।

रामकृष्णदासजी आधी रात के समय उठे, तम्बाकू खाने की इच्छा हुई, खाने पर थूकने की आवश्यकता पड़ी। खिड़की के पास आकर आँखें मलने लगे—'यह क्या?'

दूर से एक स्त्री तेजी से चली आ रही थी। उन्हें कुछ सन्देह हुआ। इस समय राजा की रखेली इस प्रकार अकेली यहाँ क्यों? कैसा अत्याचार! अनन्तानन्द जहाँ सोये हुए थे उस ओर वह बढ़ी। बाबाजी आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगे। प्रश्न उठा—'दुनिया पागल हो गई है अथवा मैं स्वप्न देख रहा हूँ? अनन्तानन्द और यह स्त्री! राम! राम!!'

अधिक जानने की मन में आकांक्षा हुई जिससे वे उस खिड़की से उठ कर दूसरी खिड़की के निकट जा बैठे। उसके नीचे ही चबूतरे पर अनन्तानन्दजी सोये हुए थे। वृद्ध ने सिर हिलाया—'दुनिया भी क्या है! हे राम!'

१७

पूर्व दिशा में कृष्ण-पक्ष का देर से प्रकट होने वाला लाल-चन्द्र उदय होने की तैयारी कर रहा था। वह चबूतरे के नीचे खड़ी रही, कांप उठी, थोड़ी देर रुकी, कान खोलकर सुना, इधर-उधर देखा—चारों ओर शान्ति थी। तेजी से वह सीढ़ी चढ़ गई, ठोकर लगी खड़ी होगई। उसके माथे में तोप के धड़ाके का शब्द हो रहा हो ऐसा लगा। उसने हाथ से सिर दबाया, छाती दबायी। कलेजा धड़क रहा था, श्वांस की गति भयंकर थी उसे लगा कि सब देख रहे हैं पीछे लौटने से तो प्राण जाते हैं। अतः वह जहाँ की तहाँ खड़ी रही।

वह और पास पहुँची। प्रेम की, काम की, धधकती हुई, सृष्टिसंहारक इच्छा उसके अंग-प्रत्यंग को भस्म किए दे रही थी इंच-इंच कर स्वामी की शय्या के निकट पहुँची। दुनियाँ का जो चाहे हो, इस समय तो अपनी इच्छा पूर्ण किए बिना लौटना उसके लिए असम्भव था।

वह खड़ी रही। उसने आसपास देखा। कृष्णपक्ष का नवमी-दसवीं का लाल चन्द्र आकाश में चढ़ा, सृष्टि पर बोझिल-सा लाल प्रकाश छा गया। अनंतानंद का शरीर, उनका भव्यमुख स्पष्ट दृष्टिगोचर हुआ। अकेले में शान्ति से स्वामी-जी सो रहे थे। अपना मस्तिष्क विशाल ललाट के तेज से चमकता हुआ उन्नत भाल अपने हाथ पर टेके हुए थे। मुख पर शान्ति और सुख था। वहाँ सत्ता की शान्ति तृप्ति का सुख नहीं सच्चिदानन्द स्वरूप की प्रत्यक्ष झाँकी थी। योगियों द्वारा प्राप्त, वर्णित आनन्द का शान्त गौरव वहाँ विराज रहा था। इसी शान्ति द्वारा मनुष्याहारी पशुओं को पुरातन ऋषियों ने वश में किया था। इस शान्ति से चम्पा के हृदय का तूफान भी शान्त पड़ गया।

चम्पा ने यह भव्यता आज ही अच्छी तरह देखी थी। चम्पा पराजित हुई। वासना, प्रेम, काम की प्रबल इच्छायें सब नष्ट हो गयीं। पूज्य भाव प्रकट हुआ। चम्पा स्त्री से भक्त बन गई। जिन विचारों से आयी थी उनमें निर्मलता ही अवशेष रह गई। हृदय धुल गया—पवित्र बन गया।

बहुत देर तक वहाँ खड़ी रही। अनन्तानंद का मुखारविंद एक टक वह देखती रही। चन्द्र की साधारण लालिमा में उनके चेहरे की रेखायें देखती रही, पढ़ती रही। फिर वह किसी विचार में तल्लीन हो गई। धीरे-धीरे वह नीचे झुकी, बैठ गई। अनंतानंद के पैरों पर अपना सिर नवाया, अपना मस्तक उनकी उँगलियों पर रखा।

स्पर्श से स्वामी जाग पड़े। अद्भुत नेत्रों का पूर्ण तेज चम्पा के कम्पायमान शरीर पर डाल। हाथ जोड़ कर मानो प्राण की याचना कर रही हो इस प्रकार चम्पा चुपचाप स्वामी की ओर देख रही थी। प्रसंग को समझ न सकने

के कारण स्वामी विस्मय से उसकी ओर देख रहे थे; मानो याचिता रूपी धारा की ओर तपभ्रष्ट प्रजापति देख रहे हों।

क्षणमात्र में स्वामी सब समझ गये—'चम्पा! तू इस समय यहाँ कहां से?'

'महाराज, स्वामीजी, शरणागत का तिरस्कार न करें!' करुण स्वर में चम्पा ने कहा।

'चम्पा! घबरा मत, तेरा दुःख मैं समझता हूँ। इस समय तू निष्कलंक हो गई है यह भी मैं समझ गया हूँ। मैंने तुझ से क्या कहा था? तमोगुण रजोगुण से ही नष्ट होगा। अब रजोगुण का सत्व से संहार होगा। आज से तेरा उद्धार प्रारम्भ हो गया। अब तू मनुष्य रूप में देवी होकर रहेगी। इस समय तू मुझ से मिलने आई है, समय पाकर तू अपना जीवन भी मुझे अर्पण करने आएगी। मैं उसे लूंगा, तुझे खरीदूंगा, तेरी वासनाओं को लेकर तुझे शान्ति और सुख दूंगा।'

'प्रभो! स्वामीजी! मेरी समझ में कुछ भी नहीं आ रहा है। आपके शब्द मेरे कानों में जाते तो हैं, पर ज्ञान न होने से आपकी बातें समझ नहीं पाती हूँ।' निराशा से छाती की ओर अपना माथा झुकाते हुए चम्पा बोली।

'आज तेरा पुनर्जन्म हुआ है, अब सब कुछ समझ में आ जाएगा। ज्ञान-तप करेगी तभी प्रेममय एवं तन्मय होगी। तभी मेरे में जिसमें मैं समाया हुआ हूँ उसमें—समाएगी। तभी ज्ञान होगा कि तू चम्पा, मैं अनंतानंद भिन्न नहीं हैं। 'तू' और 'मैं' यही भ्रम है। हम विश्व हैं उससे भिन्न नहीं हैं। हमारे कर्म हमारे नहीं हैं बल्कि विश्व के अचल कार्यक्रम के अंश हैं। तू मुझे चाहे मैं तुझे चाहूँ; यह प्रेमी की अधम भूमिका है। हम प्रेम सागर के बिन्दु हैं, सदा के सम्बन्धी हैं। अपना बिन्दुत्व छोड़ कर शाश्वत्-सम्बन्ध को अधिक स्पष्ट करना—यही प्रेम की पराकाष्ठा है।'

अन्तिम शब्द बोलते समय स्वामी के अंग-अंग फड़कने लगे। किसी सत्य परम पदारूढ़ी योगी महात्मा के समान कोई सिद्धार्थ विश्व-निर्माण के महावाक्य का उच्चारण करता हो उसी प्रकार अत्यन्त सरलता से अनंतानंद ने यह प्राचीन तत्वज्ञान आज रात्रि की कृत्रिम नायिका से कहा. समझाया। जीभ से निकला हुआ रसविहीन यह ज्ञान शुष्क नहीं था—सिद्ध था। जीवन अंग-अग में पूर्ण रूप से व्याप्त था।

स्वामी ने चम्पा को उठा कर कहा—'चम्पा! रात अधिक हो गई, अब जा।'

'जी हाँ महाराज जाती हूँ।'

अनन्तानन्द स्वगत बोले—

वीत राग भय क्रोध मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञान तपसा पूता मद्भावमागताः॥

ऊपर खिड़की में रामकृष्णदास जी हतप्रभ हो कर खड़े थे। उनके नेत्रों में मुँह पर आश्चर्यमिश्रित पूज्य-भाव विराज रहा था। अनन्तानन्द के अन्तिम शब्द सुनकर उनकी आँखें डबडबा आईं। बहुत देर तक उन्हें निद्रा नहीं आई। उनका स्वच्छ हृदय स्वामी की पूजा करने के लिए व्याकुल हो गया।

१८

जब रामकृष्णदास जी द्वारा दी गई शिक्षा की थकावट रघुभाई मिटा रहा था। उस समय सूरत में हुकमतराय जी हुक्का गुड़गुड़ा रहे थे। सफेद मूछों पर अनजाने में ताव दे रहे थे और एक रसिक की कला से मुँह से धूएँ का चक्र छोड़ रहे थे। देखने वाले सोचते थे कि रायजी विचार में होंगे किन्तु जो लोग इन्हें अच्छी तरह जानते थे उन्हें विश्वास था कि उनका मस्तिष्क ऐसा शक्ति-शाली था ही नहीं कि गम्भीर विचार तक पहुँच सके। यदि होता भी तो उसका उपयोग करने का उनका तनिक भी स्वभाव नहीं था। थोड़ी देर बाद हुक्का रखकर, झोला खोल पान तम्बाकू तैयार करने में लग गए।

'क्यों, बैठे-बैठे क्या विचार कर रहे हैं।' महाकोर आते ही बोल उठीं, 'मना करते-करते मेरी जीभ घिस गई परन्तु आपको तो मेरा नीलकंठ, मेरा नीलकंठ को छोड़ दूसरा कुछ है ही नहीं, ले अब बला गले लगी न! अपना बोझा कुछ कम था! क्यों?'

स्वभाव से अच्छी तरह परिचित अनुभवी पति के समान शान्तिपूर्वक बड़े रायजी ने सिर हिलाया और मुँह में पान रखते हुए बोले—'बच्चू लेने गया है?'

'अरे हाँ जी! सब्र करो न। बच्चू की बहू को बुलाना है, इधर कीकी बेटी का कुछ ठिकाना नहीं है, उस पर यह!'

'भाई! मैं तो तुम्हारे तानों से तंग आ गया हूँ। कैसे जान लिया कि गुणवन्ती एक बला सिद्ध होगी?'

'नहीं जी! वह तो मेरा उद्धार कर देगी, देखूँगी न!'

बड़े रायजी जरा हँसकर बोले—'लो गाड़ी आ गई। देखो आये क्या?

गाड़ी खड़ी हुई। बच्चू ने निकलकर नौकर को पुकारा और आइए चाची जी' कह कर वह आगे बढ़ा। भारी हृदय और डबडबाई आँखों से गुणवन्ती ने अनेक वर्षों पश्चात् फिर श्वसुरालय में पैर रखा था। जिस जीवन-मुकुट के साथ उसने संसार में पैर रखा था उन्हें खोकर वैधव्य की निराधारता में पराश्रित रह कर दो मुट्ठी अन्न के लिए गुणवन्ती जेठ के यहाँ आई अश्रुपूर्ण आँखों को नीचा किए हुए वह भीतर चली गई।

बड़े रायजी उठे। उनमें छोटे भाई की विधवा को ढारस देने का साहस बाकी नहीं रहा। साठ वर्ष का जीर्ण हृदय पुत्रवत् छोटे भाई की अकाल मृत्यु याद करके द्रवित हो गया। झुर्री पड़े हुए गालों पर आँखों से दो बड़े आँसू ढलक पड़े। स्वागत करने की मुस्कराहट मुँह पर थी परन्तु मुँह के कोने अनजाने में तन गए, जो बबे हुए प्रेम की प्रबलता सूचित कर रहे थे।

पश्चात् जगत आया। रायजी ने उसे बुलाया; वृद्ध की आवाज बंधी हुई मालूम पड़ रही थी।

'बेटा जगत पहचानते हो ?'

नीलकंठराय एवं गुणवन्ती की बातचीत से जगत ताऊ को इतने आदर से देखता था कि इस प्रकार के सम्बोधन से उसका तो होशहवाश ही जाता रहा। शरमाता हुआ घबराया-सा वह खड़ा रहा।

रायजी ने उसका हाथ पकड़ कर अपने पास खींच लिया और उसके माथे पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया—बेटा ! शतायु हो, बाप का नाम रखना जाओ बेटा ! भीतर जाकर कपड़े बदल डालो।'

जगत भीतर गया। महाकोर भोजन बनाने के लिए सामग्री निकाल रही थी।

'यह तुम्हारा लड़का है ? ठीक !'

बहुत देर तक माँ-बेटे चुपचाप बैठे रहे। नवागन्तुक बेचारे क्या बोलें ? बहुत देर तक दोनों यों ही बैठे रहे ; न किसी ने कपड़ा बदलने के लिए कहा और न कुछ खबर ही पूछी। गुणवन्ती का हृदय फटा जा रहा था। उसने सोचा कि हमारा आना महाकोर को पसन्द नहीं आया। लेकिन जायें कहाँ ? संसार में दूसरा ठिकाना भी तो नहीं था। इतने में बच्चू—गुणवन्तराय आया।

'अरे चाची जी ! इस प्रकार क्यों बैठी हैं ? ऊपर चलिये, ऊपर। चलो दोस्त, जगत, ऐसे ढीले क्यों पड़ गये हो ?' कहकर जगत को ऊपर ले गया। बच्चू सोलह वर्ष का, लाड़-प्यार से बिगड़ा हुआ, भावार्थी, भोला एवं कुछ मन्द बुद्धि बालक था। उसमें एवं उसकी माँ में खड़ाष्टक योग था, केवल पिता के क्रोध से वह काँपता था किन्तु बड़े रायजी इतने उदासीन रहते कि काँपने का कभी प्रसंग आने ही न पाता।

वे दोनों ऊपर गये और बच्चू ने शोरगुल के साथ बक्स रखवाया और दो-एक खूँटी भी खाली कर दी।

'चाची ! मैं एक बात कहूँ ? देखिये माँ से आप कुछ मत कहियेगा, जो कुछ सेवा हो मुझे बताइयेगा, नहीं तो वे जान ही ले लेंगी।'

गुणवन्ती ने इसका कुछ उत्तर नहीं दिया; केवल कृतज्ञता से हँसकर कहा 'बेटा ! जगत तुम्हारे हाथ में है, समझे। इसे सब कुछ नया-सा लगेगा।'

'अरे कोई परवाह नहीं है ! दो दिन में ही सब ठीक हो जायगा, जरा इधर तो देखो, क्यों दोस्त !' किसी बिगड़े रईस मित्र से यह रसिक वार्ता सीख आया था जिसका यदाकदा उपयोग करने में वह बड़ी बहादुरी समझता था।

'बच्चू भाई ! क्या पढ़ते हो ?'

'पढ़ूँ क्या ? छठे दर्जे में फेल हो गया।'

'अँग्रेजी ?'

'हाँ हाँ' बच्चू ने हँसकर उत्तर दिया, 'अँग्रेजी किस लिए पढ़े ? यों कहो न कि यहाँ तक किसी प्रकार पहुँच गया।'

'क्यों तुम से अधिक तो जगत पढ़ा है।'

'गुणवन्ती बोली।'

'इसमें मेरा क्या दोष ? साले फेल ही कर देते हैं।' इस प्रकार बोला मानो उसमें उसका कोई दोष ही नहीं था।

'तुम पढ़ते ही नहीं होगे !'

'नहीं चाचीजी ! पढ़ता तो बहुत हूँ।' उसने धीमें स्वर में कहा 'पर मैं क्या करूँ पिताजी को सिफारिश करनी आती नहीं और साली हर वर्ष बराबर मास्टर के सामने मेरी ही सीट लगती है; सभी नकल करते हैं और मैं ही अभागा रह जाता हूँ।'

गुणवन्ती को दुःख में भी हँसी आ गई। इतने में नीचे से बुलाहट हुई 'बच्चू-बच्चू ! हाय-हाय, ऊपर क्या होम-जप कर रहा है ?'

'तीसरे पहर जगत और बच्चू बातचीत कर रहे थे; गुणवन्ती नीचे महाकोर के पास बैठी थी। इतने में खिड़की के नीचे सीटी बजी। तुरन्त उठकर बच्चू ने सीटी बजाने वाले को उत्तर दिया 'ऊपर आओ रमण, मेरा भाई आया है।'

फटाफट सीढ़ी चढ़कर एक लड़का ऊपर आया। ४५ अंश का कोण बनाती हुई टेढ़ी टोपी में से तर बाल उसके ललाट पर लटक रहे थे। उसके चेहरे से अवारापन टपक रहा था. अंग पर पुराना जैकेट और कोट था जो किसी समय फैशनेबुल रहा होगा; साथ ही महीन लहरी छटा से पहनी हुई धोती और पुराना पम्प शू शोभा दे रहा था। पन्द्रह-सोलह वर्ष के लड़के में यह शौक, यह कपड़े देखकर जगत तो चकित ही हो गया।

'कौन दिस१ ?' कहकर जगत की ओर रमण ने ऊँगली से संकेत किया। 'किन्तु रमण ! यह तो 'सेवेंथ' में है।'

'कौन, दिस किड२ ?' कहकर एक तिरस्कार पूर्ण दृष्टि जगत पर उसने डाली।

---

१. यह। २. लड़का।

पहले तो जगत को सूझा ही नहीं कि वह क्या उत्तर दे। फिर उसने धीरे से पूछा 'आप किस कक्षा में हैं ?'

'हा हा हा बंदा तो फिफ्थ में है। पढ़े सो गधा।' कहकर रमणलाल ने अपना बचाव किया।

जगत को चाल-ढाल, यह बोली एवं अन्त में रमण द्वारा निकाली हुई सिगरेट इतनी अधिक विचित्र लगी, गुणवन्ती की शिक्षा के इतनी विरुद्ध जान पड़ी कि वह चुपचाप बैठा ही रह गया। थोड़ी देर में बच्चू एवं रमण घूमने चले गए। रमणलाल एक लक्षाधिपति का इकलौता पुत्र था और हर एक फन में पटु था।

इसी प्रकार समय बीतने लगा। गुणवन्ती ने धीरे-धीरे जेठानी को भी वश में कर लिया। दो महीना भी व्यतीत नहीं हुआ कि सम्पूर्ण घर का भार उसने स्वयं उठा लिया। बड़े रायजी ने देखा कि घर में स्वच्छता, शान्ति और कार्य-कुशलता बढ़ गई है। इसे गुणवन्ती के प्रभाव का परिणाम समझा। लड़के भी माँ की अपेक्षा गुणवन्ती के प्रति अधिक स्नेह प्रदर्शित करते। जगत का भी मन धीरे-धीरे लगने लगा। मूर्ख बच्चू अपने भाई की बुद्धि पर प्रसन्न होता और उसकी प्रशंसा करने में ही अपना बड़प्पन समझता, साथ ही एक नमक-हलाल कुत्ते की वफादारी के समान जगत को प्रसन्न करने का प्रयत्न करता। रमणलाल भी अपने बड़प्पन के शिखर से उतरकर जगत की ओर देखने लगा। फिर भी प्रायः वह व्यसन-विहीन जगत को तिरस्कार से देख कर उसे 'लड़की' का खिताब देने से नहीं चूकता था।

जगत बढ़ा—शरीर और बुद्धि में। विनयशील, बुद्धिमान, परिश्रमी एवं भावार्थी जगत सब की प्रशंसा का पात्र था किन्तु इस प्रशंसा का अभिमान किये बिना वह अपने मार्ग पर बढ़ा चला जा रहा था। कभी-कभी वह उदास हो जाता, तनमन का मुख उसके सामने आकर उसे विह्वल कर देता, उसके जीवन में असन्तोष-सा आ जाता। वह एक कोने में अकेले बैठ कर उसका स्मरण करता और अज्ञान में आँसू बहाता; परिश्रम कर जीवन को सार्थक बना कर तनमन को प्राप्त करने की आशा से वह अपने अभ्यास में लग जाता। गुणवन्ती ऐसे पुत्र को पा कर फूली न समाती।

परन्तु माँ-बेटे के बीच एक अन्तर पड़ गया था। रघुभाई के यहाँ से निकल भागने का कारण किसी को बताने के लिए गुणवन्ती ने उसे मना किया था। ज्यों-ज्यों जगत बड़ा हुआ त्यों-त्यों सच्ची घटना का आभास उसे होने लगा था। परन्तु गुणवन्ती से पूछने पर वह बात उड़ा देता। इस कारण संदेहवश रघुभाई को वह शत्रु समझने लगा।

दो-तीन वर्षों में ही यमराज का पदार्पण हुआ। बच्चू की छोटी बहन

पहले गई। उसके पश्चात् व्याकुल, घबराई हुई, गाली देती हुई महाकोर, किसी को भी कुछ विशेष कष्ट दिये बिना चली गई। तत्पश्चात् दो वर्ष बाद बड़े रायजी, जैसे जीमन में थे वैसे ही प्रतिष्ठा, स्नेह और सम्मान के साथ स्वधाम पधारे। अंकुश के हट जाने पर २१ वर्ष की वय में आठवीं कक्षा में ही रहकर बच्चू भाई ने सरस्वती देवी को प्रणाम किया। वह बड़े घमण्ड से कहता कि 'एक घर में दो भाइयों के पढ़ने से क्या लाभ ?' उसने बाप-दादा के साधारण जमीन-जायदाद का लगान वसूल करने के भगीरथ कार्य के पीछे अपना जीवन अर्पण कर देने का उच्च निश्चय किया। बड़े रायजी गाड़ी रखे हुए थे, उसे उसने बेच दिया परन्तु शहर में साक रखने के उद्देश्य से एक छोटा सा एक्का, और बकरे जितना बड़ा बैल रखा और इस राष्ट्रीय वाहन में विराज कर, भीड़-भाड़ से बचकर सुनसान किले के बाजार में फिरने में अथवा रानी के बाग में निष्पुष्प सूखे वृक्षों की हवा खाने में या बहुत हुआ तो सिविल लाइन्स के खाली बंगले तक घूम आने में ही बच्चूभाई अपने जीवन की सार्थकता समझने लगे। एक साधारण सूरत-निवासी के दृष्टि-बिन्दु से उसने अपना जीवन देखना प्रारम्भ किया।

पेरिस निवासी कहते हैं कि पेरिस के बाहर कुछ सीखने के लिए है ही नहीं। सूरत गुजरात का रमणीय पेरिस और बच्चभाई उसके निवासी थे। इसलिए इस भोले-भाले नागरिक की भी ऐसी ही धारणा हो तो कोई नवीनता नहीं।

१६

और.....दिन पर दिन बरस बनकर बीतते गये। गुणवन्ती जगत को यहाँ छः वर्ष हो गये। पहले का छोटा जगत इस समय कालेज में पढ़ रहा था। कालेज में छुट्टियों में वह सूरत आया। बच्चूभाई उसे लेने के लिए स्टेशन गया।

'क्यों भाई ! कैसे हो ?'

'अच्छी तरह हूँ, माँ तो सकुशल है न !'

'हाँ !'

सामान लिवाकर दोनों आगे बढ़े और सेकेण्ड क्लास के पास आकर रुक गये।

'हलो, डियर जगत !' कहकर तपाक से रमणलाल ने हाथ मिलाया बच्चू बीबी ! कैसी हो ! वह विनय-भ्रम पारसी मित्रों का साथी है इसका प्रत्यक्ष प्रमाण देते हुए उसने अपना स्नेह प्रकट किया 'आनन्द से तो हो न !'

रमणलाल बम्बई में कुछ व्यापार करता था, व्यापार क्या था यह तो कोई कह नहीं सकता था परन्तु लोगों की धारणा थी कि वह लाखों का वारा न्यारा करता है और उसके रहन का तरीका भी लोगों में ऐसे ही विचारों की पुष्टि करता था।

'मैं डुम्मस जाता हूँ, बुड्ढा वहीं है। एक महीना वहीं आराम करेंगे।' रमण ने अपना कार्यक्रम प्रकट किया।

'अच्छी बात है। यहाँ कितने दिन ठहरोगे ?'

'एक-दो दिन। तुम्हारा शहर कितना भद्दा है। यहाँ भला क्या अच्छा लगेगा ? पर जगत, बच्चू ! माई ओल्ड क्वाएज[1] तुम भी चलो न। बुड्ढा भी खुश होगा। तुम पर तो वह फिदा है जगत !'

'नहीं भाई ! तीन महीने में तो घर आ रहा हूँ और फिर घूमता फिरूँ ?'

'हत्त तेरे की, तू तो निरा चूल्हा-पोतना निकला ! अच्छा चलो, मेरी गाड़ी आई होगी, तुम्हें घर पर उतारता जाऊँगा ?'

घर पहुँच कर रमण ने गुणवन्ती से कहा—'चाचीजी, यह रहा आपका चूल्हा-पोतना। परन्तु इस बार तो इसे मैं डुम्मस अपने साथ ले ही जाऊँगा। बुड्ढे को अच्छा नहीं लगता होगा, जिससे उसके हाथ एक बढ़िया खिलौना लग जायगा।'

माधवलाल उसके पिता हैं जिन्हें आदर की दृष्टि से देखना चाहिये, इस बात को रमणलाल अपनी लच्छेदार बातचीत में हमेशा भूल जाता था।

'अच्छा भाई। पीछे बात होगी, दोपहर को आना।'

माँ-बेटे मिले, दोनों ने एक दूसरे का कुशलक्षेम पूछा। दोपहर में रमणलाल आ उपस्थित हुआ। उसके मन में जो धुन समा जाती थी वह कभी निकलती ही नहीं थी।

'नहीं चाची ! उस जगत को भेजना ही होगा। बच्चू को तो लगान उगाहना है, पर जगत को क्या करना है ? हम लोगों का जीवन तो यों ही बीता चला जा रहा है।'

'नहीं जी, मैं रोकती नहीं, जाकर पन्द्रह दिन घूम-फिर आवे। जा जगत ! शरीर भी कुछ सुधर जायगा।'

रमण की जीत हुई, जगत डुम्मस जाने की तैयारी करने लगा। जाने के पहले, रात में माता और पुत्र बैठे हुए थे।

'माँ। जाने के पूर्व एक बात पूछूं; बुरा तो न मानोगी ?'

'क्या ?' जरा हँस कर गुणवन्ती ने पूछा।

---

१. मेरे पुराने मित्र।

'तुम्हारा स्वास्थ्य दिनों-दिन गिरता जा रहा है। तुम इस ओर कुछ ध्यान क्यों नहीं देतीं ?'

'नहीं बेटा ! तुझे यों ही दिखाई पड़ रहा है।'

'नहीं क्या ? कपास के समान सफेद पड़ गई हो, जरा अपना मुंह तो देखो, बिलकुल बुड्ढ़ी जैसी हो गई हो !'

'अब मुझे करना ही क्या है ? तू बड़ा हो गया, अब तेरी बहू आ जाय तो मेरी आँख ठण्डी हो, फिर मौत भले ही आवे !'

'अभी तो मरने में बहुत देर है ?' जगत ने उत्तर दिया। दिनों-दिन बहू लाने की इच्छा गुणवन्ती में बढ़ती जा रही थी, परन्तु जब वह बात करती तब जगत की छाती फटने लगती, गला रुँधने लगता; कान में शब्द प्रतिध्वनित होते, 'मैं, तुम और माँ।'

२०

रमणलाल ने हाथ में रास सँभाली और गाड़ी चल पड़ी। वह इस प्रकार तेज हाँकने लगा मानो उसके पहुँचने पर हजारों व्यक्तियों का जीवन अवलंबित हो; सभी गाड़ियों को पीछे छोड़कर रमणलाल जगत को लेकर डुम्मस पहुँचा।

जगत प्रथम बार इस ओर आया था। डुम्मस की मीठी, ठंडी हवा का, उसकी शाँत, मद बरसाने वाली सन्ध्या को देखने का अनुभव पहला ही था। उसकी आत्मा रसिक थी; उसे कविता का चाव था, और उसके बचपन के जीवन की दो-एक सुन्दर घटनाएं ऐसी थीं कि जिनका स्मरण उसमें अनेक मीठे स्फुरण उत्पन्न कर देता था। उसे वहाँ आने से सचमुच आनन्द हुआ।

समुद्र के किनारे से होता हुआ रमण अपने बंगले पर पहुँचा। बंगले के बरामदे में माधवदास बैठे हुए अपने किसी मित्र से वार्तालाप कर रहे थे। उन्होंने अपनी आँखों के सामने हाथ रख कर ध्यानपूर्वक देखा और पूछा—'तुम्हारे साथ कौन है रमण ?'

'आपके मित्र मिस्टर जगत !'

'कौन ? जगत ! आओ, आओ, कैसे हो ? कालेज से कब आये ?'

'तीन दिन हुए, चाचाजी ! आप अच्छी तरह तो हैं ?'

'यह क्या नीलकंठ का पुत्र है ?' पास में बैठे हुए उनके मित्र ने पूछा।

जगत ने उनकी ओर देखा और उन्हें पहचान कर उछलते हुए हृदय से पूछा : हरिलाल चाचा ? ओह !'

'हाँ, मैं ही हूँ। पाँच-छः वर्ष में कैसा बढ़ गया है रे ? तुम्हारा मैट्रिक पास

होना तो मैंने सुना था। तनमन तुम्हें बहुत याद करती है।'

पहचानते ही उसके सम्बन्ध में जगत की पूछने की इच्छा थी, अब उसने साहस किया : 'वह कहाँ है चाचाजी !'

'कौन तनमन ! अपनी माँ के पास बैठी होगी। पास ही के बंगले में हम रहते हैं। बुलाऊँ ? रामा ! जा, जरा बीबी को बुला तो ला।'

रत्नगढ़ से जाने के पश्चात् हरिलाल पर यथेष्ट धन और लकवा का रोग दोनों की ही कृपा हुई थी। पेंशन लेने के पश्चात् वह यहाँ आकर रहने लगे थे और एक प्यारी पुत्री एवं नई पत्नी इन दोनों में ही अपना समय व्यतीत कर रहे थे।

'मणि कहाँ हैं ?' माधवदास की ओर देखते हुए जगत ने पूछा।

'मणि भी वहीं होगी।' माधवदास ने कहा। मणि उनकी पुत्री थी।

जगत का मन किसी दूसरे ही विचार में मग्न था। छः वर्ष पहले का अनुभव, उसका मीठा संस्मरण, फिर से ताजा हो गया था। इन दो वृद्ध गृहस्थों के साथ बात करते समय उसका मन रत्नगढ़ के राम मन्दिर में था। उसके कान पास के बंगले से आने वाली पगडंडी पर थे। थोड़ी ही देर में उसके आतुर कानों में पैर की आवाज पड़ी, उसका हृदय धड़क उठा। पीछे घूमकर देखने का भी साहस वह न कर सका।

'कहिये पिताजी ! क्या काम है ?' माधुर्य की वर्षा करता हुआ स्वर सुनाई दिया। इस स्वर से जगत के अन्तर के कुछ तार झंकरित हो उठे।

'जरा इधर तो आ, अपने पुराने साथी को भी भूल गई ? हत् तेरा भला हो !'

जगत की आँखों के सामने अँधेरा छा गया, उसी धुंधले प्रकाश में उसने तनमन को देखा। वह किस दुनिया में है इसका उसे ज्ञान नहीं रहा। जवान हो गया है, यह भी भूल गया। उसे छोटी लड़की देखने की आशा थी। उसके बदले में यह वह छोटा सा मुख आज आने वाले यौवन की प्रभा को प्रकाशित कर रहा था, उन नटखट छोटी आँखों में आज विश्रुत की रसमय दीप्ति थी। वह आठ वर्ष की हँसती-कूदती हरिण के समान बालसखी से विलग हुआ था; आज उसकी 'देवी' रतिरूप में फिर मिलेगी इसकी उसे स्वप्न में भी सम्भावना नहीं थी। इस परिवर्तन से उसके मन में जरा भय का संचार हुआ। यह उसकी 'देवी' क्या वैसी ही होगी ? सोचा कि यदि इस रूपगर्विता बाल-सखी से भेंट न हुई होती तो अच्छा था। पहले के सम्बन्ध की स्मृति तो बनी रहती।

जगत को क्षोभ ने परास्त कर दिया। तनमन के निर्मल मुख पर समझ में न आने वाली लाली दौड़ गई। स्वच्छ वस्त्र से सुशोभित सुडौल शरीर अद्भुत छटा से चमक रहा था।

'कैसे जगतकिशोर ?' दोनों में तनमन ही अधिक स्वस्थ थी।

'अच्छा हूँ।'

'हत् तेरे की, कल तो दोनों एक-साथ खाते-पीते और सोते थे और आज ऐसा मालूम होता है मानो एक-दूसरे को पहचानते ही नहीं। जाओ, जरा पुरानी जान-पहचान ताजा करो।' हरिलाल ने कहा।

हरिलाल में यह बहुत बड़ी कमी थी। उन्हें इस बात का बिलकुल विचार न रहता था कि भाड़-प्यार में पली हुई उसकी पुत्री में हिंदू संस्कार के प्रभाव से 'स्त्रीत्व' के मधुर अंकुर धीरे-धीरे प्रकट होते जा रहे हैं। वे स्त्री-स्वातन्त्र्य एवं देर से विवाह से करने के पक्षपाती थे। इसलिए हिंदू-शास्त्र के अनुसार जब अन्य लड़कियों को माँ बनने का सौभाग्य प्राप्त होता है उस समय भी वह तनमन को छोटी बालिका ही समझ रहे; और जिस तरह एक बच्चा निरंकुश मौज उड़ाता है वैसी ही ही स्वतन्त्रता तनमन को थी। नई बहू की बुद्धिमत्ता भी इस सम्बन्ध में काम नहीं देती थी और कोई बहुत ही योग्य वर के बादल में से टपकने की आशा में उसके विवाह का विचार अभी तक स्थगित ही था। उनके सद्भाग से तनमन की निर्दोषिता उसके रूप को भी लज्जित करने वाली जैसी थी, उसकी शिक्षा, उसका स्वतन्त्र स्वभाव और केवल पिता की संगति—इन सब कारणों से अपने वय वाली दूसरी लड़कियों का संगति-दोष उसमें नहीं आया था। ईश्वर के नियमाधीन होकर ही वह पढ़ती, गाती और बढ़ती—बचपन में ही वृद्धाओं का अनुभव करने का हिंदू स्त्रियों का सांसर्गिक दूषण उसमें लगा नहीं था। जमीन और जलवायु की स्वाभाविक कृपा से वह बनलता बढ़ रही थी। पवन के मीठे थपेड़े से, स्वतन्त्रतापूर्वक नृत्य करने में वह झुकी नहीं थी। कभी झुकेगी, ऐसा भी नहीं लगता था।

हरिलाल के कहने से तनमन जाने लगी।

'चलिए, मैं अभी कपड़े बदल कर आता हूँ।' जगत ने कहा। साथ जाने का उसका मन था किन्तु स्वस्था प्राप्त करके के लिए समय की आवश्यकता थी। उसने भीतर जाकर कपड़े बदले। बदलते समय बहुत से विचार उत्पन्न हुए। खेल में कही हुई 'देवी' सच्ची देवी हो गई। तब, अब कैसा व्यवहार करना चाहिए ? इस वय में पहले का रीति-व्यवहार कैसे काम देगा ? इस प्रकार के अनेकानेक विचार करता हुआ वह बंगले के पीछे गया। एक नौकर से पूछकर तनमन जिधर गई थी उधर ही चला।

माधवदास और हरिलाल के बंगलों के बीच आम्र-निकुञ्ज था, जिससे होकर जाना पड़ता था। जहाँ दोनों की सीमा मिलती थी वहाँ पर एक बेंच पड़ी हुई थी, उस पर दो व्यक्ति बैठे हुए थे। जगत हंकुचित होता हुआ वहाँ गया। लावन्य की मूर्ति के समान तनमन उठकर खड़ी हो गई और नीची दृष्टि

किये हुए खड़ी ही रही। नमित पलकों के बीच से दो तारे चमक रहे थे। यदि जगत तनिक अधिक ध्यानपूर्वक देख सकता तो साफ देख लेता कि तनमन का चेहरा रक्तिम हो उठा था और उसके वक्षस्थल का चढ़ाव-उतार इतना तीव्र था मानो ज्वार उठ रहा हो।

जगत ने देखा कि अब बिना बोले छुटकारा नहीं है पर इतनी बड़ी लड़की के साथ इतने वियोग के पश्चात् किस प्रकार बात प्रारम्भ की जाए ?

'क्यों तनमन बहन, आप दहचानती हैं ?'

जरा लज्जा ने, थोड़े मजाक में, तनमन का मीठा स्वर कूक उठा : मैं तो पहचानती हूँ परन्तु आप कहाँ पहचानते हैं ? 'देवी' का 'तनमन बहन' और 'तुम' का 'आप' हो गया। फिर मुझ से ही पूछ रहे हैं ?' कहकर तनमन हँसी। हँसना मन्दाकिनी की कलकल-सा था अब उसमें रस और माधुर्य अधिक आ गया था। इतना ही अन्तर उसमें दिखाई पड़ा।

वैसा हीं हँसना, वही कटुक्ति के साथ बोलने की रीति—वर्षों का अन्तर जरा दूर होता नजर आया। एक ही वाक्य में सब अन्तर दूर कर तनमन ने असली सम्बन्ध प्रारम्भ कर लिया।

जगत ने मुस्करा कर कहा—'अब आप बड़ी जो हो गईं।'

'और आप छोटे ही बने रहे, क्यों ?' जरा मजाक से उसने कहा। उसकी आँखों में प्रेम झलक रहा था। 'मैंने तो समझा कि मेरा किशोर आया लेकिन आप तो बड़े पाण्डित्य के भण्डार बन कर आये हैं।'

वही तनमन, वही 'देवी'—जगत को विश्वास हो गया।

'तनमन ! मुझे जरा भय लगा। मैंने सोचा शायद तू भूल न गई हो।' कहकर जगत और तनमन दोनों बेंच पर फैठ गए।

'तनमन को आपकी अपेक्षा अधिक अच्छी तरह वचन पालन करना आता है।'

'यह तो मुझे सब खबर है। व्यंग करने में तुम तो पटु हो ही ! क्यों ठीक है न ?'

'व्यंग ? अच्छा बताइये कितनी बार आप मुझे स्मरण करते थे ?' जगत के कन्धे पर हाथ रखते हुए तनमन ने पूछा।

'बहुत बार।'

'नहीं, ऐसे नहीं ! दिन में कितनी बार ?'

जगत ने अपराध स्वीकार किया। वह प्रतिदिन स्मरण नहीं करता था।

'तुम में और मुझ में यही अन्तर है। मैं प्रतिदिन दो बार याद करती रही हूँ।'

'यह तो झूठी बात है। क्या गिन कर याद करती रही ?'

'और नहीं तो क्या ? सवेरे उठता थी तब और रात को सोने जाती थी

तब वही भजन गाती थी और आपको याद करती थी।'

'कौन—पिया, तैं कहाँ गयो नेहरा लगाय—वाला !'

'हाँ, याद है न ?' नयनों से अमृत वर्षा करते हुए तनमन ने कहा।

जगत के हृदय में स्नेह की अजीब-सी बिजली-सी दौड़ गई। मानो उसका अन्तर 'देवी' का सत्कार करने के लिए दौड़ रहा हो, ऐसा उछलने लगा। जगत ने अपने कन्धे पर पड़े हुए तनमन के हाथ को अपने हाथ में ले लिया—दबाया, दब गया। तनमन जरा हँसी।

थोड़ी देर बाद हरिलाल नौकर के कंधे पर हाथ रखे हुए वहाँ आये। खड़े रहने पर वे अधिक निर्बल मालूम पड़ते थे।

'क्यों बच्चों ! बात पूरी हुई या नहीं ? चलो अब बाकी कल करना।'

जगत वहीं खड़ा रहा। सूर्यास्त के मन्द प्रकाश में जाती हुई प्रिय बालसखी का रम्य स्वरूप वह देख रहा था। जैसे वह स्वर्ग की सीढ़ी पर चढ़ गया हो, जीवन के सभी सम्बन्धी उसे हल्के लगे, उन्हें पदभ्रष्ट किया; केवल एक ही अलौकिक प्रेमिका को हृदय-साम्राज्य का सिरताज पहनाया।

रात भर जगत को निद्रा नहीं आई, उसे लगा मानो वह स्वर्ग में घूमता रहा। वहाँ अप्सराएँ अधिक नहीं थीं; एक ही थी। उषाकाल के समय स्वप्न स्वर्ग तुच्छ जान पड़ा। उससे सहस्रगुण सुखमय अनुभव निश्चित आशा के क्षितिज में छिपा था।

२१

जड़ता के अवतार अचल पर्वत निश्चित पड़े रहते हैं, उन पर मुनिगण निवास करते हैं, प्राणी आते-जाते हैं परन्तु उनमें से एक को भी इस बात का ज्ञान नहीं होता कि किसी समय ये जड़ता के अवतार भी एक क्षणमात्र में बदल जायेंगे। ऐसे ही किसी पर्वत से कभी-कभी हजारों वर्ष से दबी हुई, भयंकर प्रलय-अग्नि प्रकट हो जाती है और सम्पूर्ण जड़ता इस अग्नि की ज्वाला में अदृश्य हो जाती है; इन ज्वालाओं की अग्निसरिताएँ पर्वतों से निकल पृथ्वी पर नृत्य करने लगती हैं; समस्त जीवित विश्व को जला देती हैं, बहुतेरे गाँवों में अपनी भयानक विनाशक शक्ति से हाहाकार मचा देती हैं। मनुष्य की परिस्थिति भी किसी अवस्था में ऐसी ही होती है। जगत को आत्म-निरीक्षण का व्यसन था। वह अपने स्वभाव को बुद्धि-प्रधान मानता था। कितने ही मित्र उसे भावहीन, एकान्तवासी मानते थे। कितने ही रमणलाल उसे नीरस और बुद्धू समझते थे। किसी को पता नहीं था कि इस सलज्ज एवं एकान्तवासी

मनुष्य के मन के शान्त मनोराज्य के नीचे ज्वालामुखी धधक रहा है और फटने की तैयारी पर है। अभी उसका ज्वालामुखी फटा नहीं था, जरा-सा कल धुँआँ निकला था, इसे उसने विशेष महत्व नहीं दिया।

माधवदास, रमण और जगत चाय पी रहे थे।

रमण मेज के बिलकुल कोने पर बैठा हुआ था हाथ में नवीनतम 'स्टाइल, का प्याला लिए हुए था, उसने पूछा : क्यों पिता जी! अब यहाँ हमारा अचार पड़ेगा क्या ?'

'क्यों ?'

'क्यों क्या ? यह भी कोई जगह में जगह है ? अब यहाँ किया क्या जाय ?'

'जो सब मनुष्य करते हैं। खाओ, पियो और मौज करो।'

'यह तो जानता ही हूँ। हलो मिस्टर चूल्हा पोत! कब्रिस्तान देखने चलते हो ? बड़ी बढ़िया जगह है। वहाँ का लाइट-हाउस भी देखने योग्य है।'

'मैंने तो यह सब देखा ही नहीं है।' जगत बोला।

'क्या देखा नहीं है ? चलिए मैं दिखलाऊँ।' कहती हुई तनमन आ कर गृहणी की तरह जगत की कुर्सी के पीछे दोनों हाथ रख कर खड़ी हो ही गई।

'कब्रगाह तू भी भी चलेगी ? तब तो जरूर कुछ दाल में काला है।' रमण ने कटाक्ष किया।

तनमन चाहे जिन स्वतन्त्रता से बोले-चाले किन्तु उसका गौरव अस्पर्श्य था। रमण की चाल-ढाल को वह तिरस्कार की दृष्टि से देखती थी और दो एक बार उसे फटकार भी चुकी थी।

'रमणलाल ? इसकी तुम्हें क्या पंचायत है ? मैंने तुम से क्या कहा था ? मुझे तुम्हारा मजाक नहीं सुनना है। सुनना होगा तो बता दूँगी ?' उसने इस प्रकार डाँटा कि रमण की बोली बन्द हो गई।

जगत के लिए यह नया अनुभव था। गर्व से तनमन का गौरव और दर्प देखा। किस के साथ किस प्रकार बातचीत करनी चाहिए, इसकी अधिकारिणी वह स्वयं थी। यह देखकर वह मन में जरा प्रफुल्लित हुआ।

'जगत भाई, तुम चलोगे ? तनमन ने गम्भीरता से पूछा।

'हाँ! विचार तो है। तुम भी चलोगी न ?'

'हाँ, तब तो मैं भी जरूर ही चलूँगी॥

'ठीक, तब दोपहर को चला जाय। मल्लाहों को कहलवा दूं।' कहकर रमणलाल चला गया। माधवदास बारहों मास प्रातःकाल मोटे ऊन के मोजे एवं सदरी पहन कर किनारे पर वायु-सेवन के लिए जाया करते थे, इसलिए वह भी साथ चलने के लिए प्रस्तुत थे। उन्होंने स्वयं धनोपार्जन किया था, इसलिए प्रत्येक वस्तु पर वह निगाह रखते थे।

'तनमन !' जगत से कहे बिना रहा नहीं गया, मुझ पर भी ऐसे ही रौब गाठोगी क्या ?'

तनमन झूठे क्रोध से दाँत पीसने लगी। रोष में उसका सौन्दर्य अधिक आकर्षक लगता था। फिर उसने हँस कर कहा, 'किशोर ! तुम पर ? पागल तो नहीं हो गए हो ?' कह कर जगत के कन्धे पर मुक्का मार कर तनमन वहाँ से भाग गई। जगत ने मीठी मार खाई नहीं थी। जब वह किशोर कह कर पुकारती तब स्नेहवर्द्धक 'तुम' भी निकल ही जाता था।

'अरे, इधर तो आओ' कह कर वह भी उठा।

सब लोग रवाना हुए। गर्मी के दोपहर का ताप समुद्र के ठंडे पवन में प्रतीत नहीं होता था। सभी प्रफुल्लित थे। जगत और तनमन पास-पास बैठे, हँसे—बोले। यात्रा के आल्हाद में रमण की दो-एक परिहासोक्ति भी तनमन ने सहन कर ली। कब्रगाह की एकान्त रमणीयता में वे दौड़े और कूदे। प्रकृति की गोद में बैठने के लिए ही सम्भवतः ऐसे स्थल निर्मित हुए होंगे। अधिक समय जगत और तनमन दोनों को चुपचाप चलने में ही आनन्द आया।

धीरे-धीरे वह लोग लाइट-हाउस पर चढ़ने लगे। सबसे पहले मणि को कन्धे पर लिए हुए एक नौकर, उसके पीछे रमण सिगार पीता हुआ और सबसे पीछे तनमन तथा जगत चढ़ रहे थे। बीच में एक छोटी खिड़की थी जिसका कुछ भाग समुद्र की ओर पड़ता था। तनमन उछलती-कूदती हुई वहाँ गई। उसके पहुँचते ही एक चमगादड़ चौंक कर फड़फेड़ करता हुआ उड़ा और तनमन के चेहरे से जा टकराया। तनमन घबड़ा उठी, उसका होश-हवास गुम हो गया।

'ओ किशोर !' वह पुकारती हुई भय से चीख पड़ी। धीरे-धीरे चलते हुए जगत ऊपर पहुँच गया था। चीख सुनते ही वह एक छलाँग में वहाँ जा पहुँचा। तनमन भय से काँप रही थी, उसका चेहरा बिल्कुल पीला पड़ गया था।

'क्या है देवी ?' जगत ने पूछा। पर जगत के पूछने के पूर्व ही उसका हाथ तनमन ने जोर से पकड़ लिया। खिड़की की ओर देखने से भय का कारण दोनों को मालूम हो गया।

'यह तो चमगादड़ है, कुछ नहीं जरा शान्त रह, अपना मुँह तो देख। ऐसा सफेद पड़ गया है जैसे मुर्दा !'

'ओह मैं तो बहुत डर गई किशोर ! मेरा हृदय तो जैसे बिल्कुल बैठ गया।'

'अरे मैं सब ठीक कर दूँगा।' जगत कह तो गया परन्तु उसे अपने ही शब्दों में कुछ रहस्य-सा प्रतीत हुआ। उसे ऐसा जान पड़ा मानो उसने कोई पाप किया हो। डरते-डरते उसने तनमन की ओर देखा। दोनों की नजर मिलते ही रस-सागर लहरा उठा। प्रकृति के अनिवार्य रस-वाक्यों से तनमन

की आँखें कुछ कह रही थीं, जगत की आँखों ने, हृदय ने कुछ सुना और स्वीकार किया।

थोड़ी देर में दोनों ने रमण को पकड़ लिया। अब तनमन जगत के कन्धे पर हाथ रखे हुए सीढ़ियाँ चढ़ रही थी।

२२

भारत की जलवायु भारतीयों को, उनके हृदय को, बुद्धि को समय से पहले ही परिपक्व कर देती है। जिस वय में अन्य देशों में बाल-चेष्टाएँ होती रहती हैं, उस वय में यहाँ गम्भीर भाव उत्पन्न हो जाते हैं, जबकि पाश्चात्य युवक-युवतियाँ निश्चिन्त ही खेलते-कूदते रहते हैं, उस समय हमारे युवक-युवतियाँ उत्तरदायित्व से दबे रहते हैं। ग्रीष्म-प्रधान देशों का वातावरण जीवन-वृक्ष पहले ही बढ़ाता है, पुष्पित करता है, पतन करता है। जगत एवं तनमन के विचार एवं भाव वयस्क मनुष्यों को सुशोभित करने वाले जैसे थे। रसिकता का मोह-पूर्ण भंडार, जीवन कला के अगम्य भेद, उनके हृदयनेत्र के समक्ष शनैः-शनैः आने लगे थे। धीरे-धीरे कोई शक्ति उन्हें विचित्र मार्ग पर ले जा रही थी।

अगले दिन हरिलाल, माधवदास और जगत बैठे हुए शिक्षित युवकों के सम्बन्ध में बातचीत कर रहे थे। रमणलाल बीच-बीच में बराबर अपना मंतव्य प्रगट कर शिक्षा के सम्बन्ध में कटु टीका कर रहा था। थोड़ी देर में तनमन आई, वह भी बारम्बार कटूक्ति करने लगी। शिक्षित पुरुष अपनी पत्नी की परवाह करते हैं या नहीं, इस विषय में चर्चा चली। थोड़ी देर में नौकर बुलाने आया. जिससे दोनों वृद्ध चले गये।

'तुम सब 'एजूकेटेड' पागल-हो-पागल!' अशिक्षित होने के अभिमान से रमण ने कहा : 'अपनी पत्नी को नहीं पढ़ा सकते तब और क्या करोगे?'

'किस लिए पढ़ावें?' जगत ने उत्तर दिया 'हमारे जीवन की सार्थकता स्त्री का शिक्षक बनने में ही सीमित नहीं है। हमें कुछ महान आदर्शों का भी पालन करना होता है। अपने जीवन का रस निकालकर अपनी भावनाओं के लिए भी मरना है। उसमें यह पीड़ा क्यों मोल ली जाय? एक मूर्ख स्त्री को पढ़ाने में जितना प्रयत्न करना पड़ेगा उतने से तो गाँव भर का भला होगा। माँ-बाप विवाह करने के लिए तो तड़पते हैं परन्तु पढ़ाते क्यों नहीं? यह लाभ क्या मुफ्त में मिलता है?'

'माँ-बाप किस लिए?' तनमन ने हास्यजनक बनावटी निर्दोषता से पूछा, 'पंडित महाराज क्यों नहीं? सच पूछा जाय तो वे ही विवाह कराते हैं।'

यह सुनकर सभी हँस पड़े।

'पर मेरा कथन—'रमण ने कहा।

'भैयाजी ! बाबूजी बुला रहे हैं।' नौकर ने आकर कहा। रमण को इस माय पच्ची से छुटकारा मिला ; जिससे बात अधूरी ही छोड़कर वह चला गया। तनमन ने बात आगे बढ़ाते हुए कहा—आपके कहने का क्या अर्थ है कि स्त्रियों को सुरक्षित बनाने लगें तो पुरुष कोई महत्वपूर्ण काम कर ही नहीं सकेंगे।

'नहीं मैं यह नहीं कहता। लेकिन अशिक्षित स्त्रियाँ प्रायः अपने पतियों का गला घोटने वाली होती हैं।'

लेकिन सच पूछा जाय तो' बात का भिन्न रूप देते हुए तनमन ने कहा : 'पढ़ी-लिखी स्त्री को विवाह करना क्यों अच्छा लगने लगा ? हमारे पास बम्बई में एक मनुष्य रहता था, वह प्रतिदिन अपनी स्त्री को पीटता था। वह बेचारी इतनी बुद्धिमत्ता थी कि कुछ कहने की बात नहीं। मानो हम लोग मार खाने के लिए ही पैदा हुई हैं, क्यों ?' छोटी-सी नाक फुलाते हुए उसने पूछा। पर उसकी आँखों में स्नेहपूर्ण मादकता नाच रही थी।

'यह किसने कहा और तुम्हारे समान तो अवश्य नहीं।' जगत ने हँसते हुए कहा।

'अच्छा किशोर ! तुम्हें कैसी पत्नी चाहिए ?' बात को फिर नवीन रूप देते हुए तनमन ने पूछा।

'अरे वाह ! यह प्रश्न कहाँ से उठ गया ? मुझे ऐसा पत्नी चाहिए जो मेरे सभी प्रयत्नों, आशाओं, मेरी भावनाओं की भागीदार बन सके।'

तनमन चुपचाप अपने रसाल होंठ बन्द कर धीरे-धीरे सीटी बजाने लगी।

'ऐसी स्त्री को आप एक मिनट भी नहीं रख सकेंगे। यदि प्रत्येक बात में आपकी भागीदार हो जायेगी तो आपका यह रौब वह जरा भी चलने नहीं देगी। बुद्धिमान होगी तो आपको कुछ गिनेगी ही नहीं, समझते हैं ?' आँखें नचाते हुए तनमन ने कहा।

'आज मुझ पर इतनी अधिक नाराजगी क्यों है ?'

'नाराजगी नहीं यह तो अधिकार का प्रश्न है। आप में स्वयं कितना क्रोध है ? देखिए न, कल लौटते समय, मामूली बात पर बेचारी मणि को धमका दिया। मेरे जैसी हो और ऐसी साधारण हँसी पर कोई ऐसा नखरा दिखावे तब मैं तो उसकी ओर आँख उठाकर भी न देखूँ।'

नौकर बुलाने आया।

जगत कुर्सी पर से उठते हुए बोला—'तनमन ! यदि मैं अपने पसन्द की स्त्री के साथ विवाह करूँगा तो उसे प्रसन्न रखना अपने जीवन का सर्वप्रथम

कर्त्तव्य समझूंगा ।' उसकी आवाज में—शब्दों में कुछ अलौकिकता की झंकार थी ।

'अच्छी बात है, अब जाती हूँ । देखना, ऐसी मिल जाय तो अपने क्रोधी स्वभाव···!' कहते हुए परिहास से रुमाल का गेंद बनाकर तनमन ने जगत पर फेंका । कहे हुए शब्दों की अपेक्षा बिना कहे हुए शब्द उसके भाव अधिक स्पष्ट रूप से व्यक्त कर रहे थे ।

रस-सागर में यह अनुभवहीन प्रेमी-युगल बहा चला जा रहा था । किस स्थान पर, कौन से तीर पर वह लगेंगे, इसे कोई नहीं बता सकता था, भविष्य की अगम्य आशा पर श्रद्धा रखकर उन्होंने तो अभी गोता ही लगाया था । इन सागर की तरंग में नहाते, खेलते, हँसते हुए दिन गुजर रहे थे । वे अपने निःशंक मन समझ रहे थे कि जीवनक्रम का स्वाभाविक मार्ग यही है ।

× × ×

जगत, तनमन और मणि तीनों बैठे हुए थे । इस निर्जन तट पर अधिक लोग नहीं आते थे । समुद्र गर्जन कर रहा था । अस्ताचलगामी सूर्य का प्रतिबिंब पानी में पड़कर, अस्त होने के पूर्व मानो कुछ विचार करता हो, इस प्रकार सामने खड़ा था । पवन में विचित्र मादकता थी । ऐसी ममता थी मानो प्रकृति बालकों को लाड से खिला रही हो । दोनों धीरे-धीरे कुछ वार्तालाप कर रहे थे और मणि शंख सुन रही थी ।

उनकी बातचीत में सदैव अकथनीय विषय का अधिक समावेश रहता था । उनके विचार न तो भविष्य के होते थे और न भूत के । वर्तमान का आनन्द और सृष्टि का सौंदर्य, सुहृद-समागम का आनन्द—वे हमेशा अनुभव करते थे । समुद्र तट पर अथवा आम्र-निकुञ्ज में बेंच पर बैठे हुए इस प्रकार वह घण्टों बातचीत किया करते । कभी-कभी तनमन रुष्ट हो जाती, जगत के साथ खूब झगड़ती और फिर मीठे समाधानों की शरतें निश्चित करने में ही प्रायः समय व्यतीत होता ।

प्रायः संसार की नई-नई वस्तुओं और जगत की बड़ी-बड़ी आशाओं की बातें होतीं । सहजीवन दैवी है, स्थूलता का जीवन कभी भी सुखद नहीं होता । ऐसा सहजीवन ही मनुष्य-जीवन के विकास का परिचायक है ।

जगत रेत पर लेटा हुआ था, इतने में दूर से एक केवट का लड़का दौड़ता हुआ आया । उसके पीछे दूसरा पकड़ने के लिए दौड़ रहा था । पहला पानी में चला गया, दूसरा भी दौड़ा । पहला बालक जगत के पैर के पास ही पानी से निकला, छींटा उड़ा और जगत के पैर से ठोकर खाकर वह वहीं गिर पड़ा । पानी और कीचड़ से जगत के कपड़े खराब हो गए । वह आपे से बाहर हो उठा । वह रेत पर गिरे हुए बालक को छड़ी से पीटने लगा । यह देख तनमन

का चित्त दुःखी हुआ।

वह बोल उठी—'जगत ! यह क्या ? छोटे बालक के साथ यह क्या कर रहे हो ?'

जगत में सहनशीलता की कमी थी। जरा-सी बात से उसका खून खौल उठता और उस समय उसमें आगा-पीछा सोचने की भी शक्ति न रहती।

'है क्या ? इसे तो—'कहकर उसने फिर छड़ी उठाई।

'बस हो गया, शर्म तो नहीं आती ? तुम इससे बड़े हो, इसलिए इस गरीब बेचारे को मार ही डालोगे क्या ?'

जगत की व्यग्रता शान्त न हुई, उलटे तनमन की व्यंग्योक्ति से कुछ बढ़ ही गई। उसका स्वभाव ऐसा नहीं था कि किसी की सत्ता सहन कर सके।

'तू क्यों बीच में बोल रही है ? तेरा इसमें क्या जाता है ?' जगत बोला। उसका चेहरा लाल हो गया था। परन्तु जगत को क्रुद्ध देखकर तनमन को बड़ा आनन्द आता था। उसे चिढ़ाने की आदत पुरानी थी।

'मेरा ? अभी कल तक तो समान अधिकारों के उपदेशक बन रहे थे।' अपने कामदेव के धनुष के समान होठों पर तिरस्कार लाकर तनमन ने कहा। 'और आज इस बेचारे को अधमुरा कर डाला।'

एक का क्रोध बढ़ता गया, दूसरे ने शान्त पर तीक्ष्ण बाणों से उसे बेध डाला। पाँच मिनट में ही रंग का भंग हो गया। थोड़ी देर में तीनों चुपचाप बंगले पर लौट आए। क्रोध के कारण जगत झुँझला रहा था। जगत के अन्याय, अत्याचार निरर्थक क्रोध एवं अपनी सलाह के अमान्य किये जाने से तनमन दुःखी हुई। मणि बेचारी तो झगड़े से दिग्मूढ़ ही बन गई।

'तनमन आज तुम्हारा मुँह कुछ उतरा क्यों है ?'

'नहीं तो गुलाब चाची !' तनमन चौंक पड़ी।

'गुलाब चाची' अर्थात् तनमन की विमाता ने 'तब' कुछ नहीं कहा। तनमन को मन में अधिक खेद हुआ। जगत को उसने क्यों चिढ़ाया ? पहले तो तनमन को आशा थी कि जगत सदैव की तरह मनाने आयेगा किन्तु वह तो उल्टा हो गया। यह विचित्र समस्या किस प्रकार हल होगी ? जगत क्या रूठा ही रहेगा ? अब कब मिलेंगे ? तनमन के सिर पर तो दुःख का पहाड़-सा टूट पड़ा। उसके निर्दोष, सुखी बाल-जीवन में प्रथम चिन्ता, प्रथम दुःख चारों ओर से उमड़ आया। जगत क्या मनाने नहीं आएगा ? तब मैं ही क्यों जाऊँ ? इसी प्रकार के विचार में वह मग्न थी कि हरिलाल आ पहुँचा। सबने भोजन किया और सोने की तैयारी होने लगी। हरिलाल संगीत के शौकीन थे इससे सूरत से गायक उन्होंने बुलाया था। दूसरे दिन संध्या समय संगीत होने वाला था जिसकी तैयारी करने के लिए माँ-बेटी जल्दी ही उठने वाली थीं, इसलिए सब जल्दी

सोने चले गए।

परन्तु तनमन को निद्रा ही क्यों आने लगी। वह सोचने लगी 'जगत बिना कैसे चलेगा ? वह कैसा क्रोधी है ? नहीं, नहीं मैं स्वयं ही दोषी हूँ। उसे क्यों चिढ़ाती हूँ ? यदि चिढ़ाया न होता तो और दिनों की तरह आज भी हम लोग आनन्दपूर्वक विदा हुए होते। जगत मुझ से अगाध प्रेम करता है। अपने उग्र स्वभाव को कितना दबाता है। बड़ी हुई, किन्तु मेरी मूर्खता अभी नहीं गई। जगत यदि रूठा रहे तब ? यदि वह चला जाय तब ? हे भगवान ! तब क्या होगा ?' तनमन की आँखों से अविरल अश्रुपात होने लगा। 'नहीं, कल तड़के ही उठकर जगत के पास जाऊँगी—मिलूँगी और मिलकर सब समाधान कर लूँगी। किशोर तू ऐसा कैसे हो गया ?' तनमन बड़बड़ाई।

इस प्रकार विचार करते-करते अन्त में सवेरे होते-होते निद्रा आई। स्वप्न आया यही कहना ठीक होगा। सभी स्वप्न में जगत और उसका अन्त दुःख मय। एक में जगत डूब गया, दूसरे में स्वयं कहीं भटक गई, तीसरे में दोनों गिर गये। उषाकाल होने पर निद्रा भंग हुई, नीचे उतरी और झूले पर बैठकर झूलने लगी। सूर्योदय होने पर निराशा कुछ कम हुई। 'अभी जाकर हो आऊँ' सोच रही थी कि गुलाब चाची ने उसे काम करने के लिए बुला लिया। दाँत पर दाँत बैठाकर, कलेजे पर पत्थर रखकर तनमन आज्ञानुसार घर के कामों में लगी।

जगत ने भी रात्रि ऐसे ही व्यतीत की। प्रातःकाल होने पर निराशा कुछ कम हुई और थोड़ा अभिमान आया। तनमन रूठती है तो मैं तुरन्त माफी माँगता हुआ जाता हूँ। इस बार वही क्यों न आये ? फिर विचार आया 'बीती ताहि बिसार दे। अभी आयेगी तो तुरन्त बुलाऊँगा।' घंटा बीता, दो घंटे बीते। एक ओर दुःख, दूसरी ओर तनमन की अनुपस्थिति से क्रोध, 'आई क्यों नहीं ?' फिर विचार आया 'बीमार तो नहीं पड़ गई ? नहीं ! वह तो अपना मतलब साधने में होगी। अच्छी बात है, मैं भी बैठता हूँ मुझे क्या पड़ी है; उसे गरज हो तो आवे।' मन व्याकुल था फिर भी कोई रास्ता दिखाई नहीं दे रहा था। दोपहर हुई फिर भी तनमन का कहीं अतापता नहीं था। दोपहर बाद वह जाने के लिए निकला तब रमण ने उसे बुला लिया। ज्यों-ज्यों देर हो रही थी त्यों-त्यों उसकी खीझ बढ़ती ही जा रही थी।

दो बजे के करीब तनमन मणि को पुकारती हुई आई। दूर से उसे आते हुए देखकर जगत ने ऐसा ढोंग रचा मानों वह क्रोध से भरा हुआ है। वह देख रहा था कि तनमन का दीप्त चेहरा आज निस्तेज है। मणि को बुलाकर उसने कुछ बातें कीं। दोनों ने बोलने का प्रयत्न तो किया परन्तु कुछ तो लज्जावश और कुछ अभिमान में दोनों ही चुप रहे। इतने में गुलाब चाची ने फिर बुलवाया

जिससे तनमन चली गई।

सन्ध्या समय था जगत की बेचैनी बढ़ी। रात्रि के जागरण एवं चिंता से उसका सिर-दर्द करने लगा। सोचने लगा—शाम को संगीत में जाऊँ या नहीं। अन्त में उसने जाने का निश्चय किया। अवश्य ही तनमन का मन उससे फिर गया है, पहले का स्नेह अब वह भुला देगी; मन की ऐसी अनिश्चित स्थिति में तनमन का सुख देख-देखकर ही सन्तोष कर लेने की इच्छा से वह हरिलाल के बंगले पर गया। दालान में कुछ स्त्रियाँ बैठी थीं। सुन्दर तनमन इधर-उधर कार्यवश आ-जा रही थी। सफेदी स्वच्छ वस्त्र के भीतर से उसका सुन्दर शरीर झलक रहा था। प्रकाश में—वह कपड़े से छनता हुआ उसका अवयव-लावण्य देख रहा था—कल्पना कर रहा था। संगीत आरम्भ हुआ। जब-जब चित्त अन्यमनस्क रहता है तब कुछ भी अच्छा नहीं भाता। उसका सिर बहुत दुखने लगा। धीरे से वह उठा सीढ़ी उतरकर अपने बंगले पर जाने लगा। वह इतना व्याकुल हो गया था कि यदि किसी ने जरा भी छेड़ दिया होता तो रो देता। नीचे चबूतरे पर आकर वह खड़ा हो गया। नीचे कोई नहीं था और बाहर बिल्कुल अँधेरा था। हाथ पर माथा टेककर वह दीवाल के सहारे खड़ा हो गया और दूर उछलती हुई समुद्र की तरंगों को देखने लगा। ऊपर से गाने की झंकार आ रही थी, सारंगी उसे विलाप करती प्रतीत हुई। दुखी बनाने की सभी सामग्रियाँ थी, कुछ समझ में नहीं आ रहा था कि क्या करे। यदि तनमन से भेंट नहीं हुई तो जीवित रहना व्यर्थ-सा मालूम पड़ा।

स्वप्न में कोई पुकारता हो ऐसी पीछे से आवाज आई 'किशोर!'

जगत ने सुना, वह सचेत हो गया, उसने पीछे घूमकर देखा। रक्तहीन मुख एवं डबडबायी हुई आँखों से तनमन वहाँ खड़ी थी—कुछ काँप रही थी। वह वास्तविक नहीं थी—स्वप्नवत्-सी प्रतीत हो रही थी। तारागण के साधारण प्रकाश में स्वर्ग से अवतरित किसी देवी सुन्दरी के समान दिखलाई पड़ रही थी। जगत इसे भी सच मान नहीं सका और मूक खड़ा रहा।

हाथ फैलाकर दयापूर्ण रुँधे हुए स्वर में तनमन ने कहा 'किशोर! क्षमा नहीं करोगे!'

इस आवाज में मृदुता थी, शोक था एवं दबे हुए प्रेम का प्रकंपन था।

जगत का हृदय फट-सा गया। एक क्षण पूर्व ऐसा मालूम होता था कि हृदय का धड़कना बन्द हो जायेगा, अब महासागर उछल रहा हो ऐसा जान पड़ा। दुःख वाले सिर में सुख की ऊर्मियाँ उछलने लगी, रग-रग में तार झंकृत हो उठे। वह पृथ्वी पर है या नहीं, इसका भी ज्ञान न रहा। उसके गले से आवाज भी न निकल सकी, बड़ी कठिनता से बोला 'तनमन! प्यारी!'

भगवती प्रकृति के चमत्कार की सच्ची घड़ी आ उपस्थित हुई। अनजान

में, होश में अथवा बेहोशी में जगत ने हाथ बढ़ाया और वह बढ़ गया। दूसरे ही क्षण तनमन और जगत के उछलते हुए हृदय एक साथ मिल गये। अनन्त संगम पर चिरस्मरणीय मुहूर्त में दो सरितायें मिलकर एक हो गईं। क्षण मात्र में युगों का दुःख दूर हो गया, सम्पूर्ण रात्रि के असह्य दुःखों का उपचार हो गया। यह पूछने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी कि दोष किस का था। स्वाभाविक स्नेह के मार्ग का उन्होंने अवलम्बन किया। जहाँ हृदय में पाप नहीं है, वहाँ हृदय में प्रेम की परिचर्या सदा पवित्र ही रहती है।

तनमन की आँखों में पानी था, चेहरे पर स्नेहपूर्ण मुस्कराहट थी।

जगत ने हँसते हुए कहा—'ऊपर चलो संगीत नहीं सुनोगी ?'

जरा आँखें मटकाकर तनमन बोली—'ऊपर ! और यहाँ क्या हो रहा है ?'

सृष्टि-क्रम के भव्य संगीत का स्वर उनके हृदय में झंकरित हो रहा था; तब दूसरे संगीत की उन्हें आवश्यकता ही क्या थी ?

२३

इस प्रकार दुख-सुख में रूठने मनाने में एक सप्ताह व्यतीत हो गया। तार पाकर रमणलाल सूरत चला गया। जगत और तनमन एक साथ पढ़ते, वार्तालाप करते, घूमने जाते। कभी-कभी तनमन के हारमोनियम पर दोनों एक साथ ही गाते मनुष्य ने अपना स्वभाव न बिगाड़ा होता तो देवों के लिए भी दुर्लभ यह संसार क्या ऐसा होता ? हजार पाप अपने हाथ से करके एवं सहस्र पापों पर आँखें बन्द करके पानी डालकर संसार में बुद्धिमान कहे जाने वालों की बुद्धिमत्ता यह सम्बन्ध देखकर भड़क उठती तथा किसी पाखण्डी द्वारा बनाई हुई, ढोंगी द्वारा प्रचारित और मूर्खों द्वारा मानी गई कोई कहावत कहकर इन निर्दोष बालकों के स्वप्न को भी अज्ञात पापों का अधिकारी बना कर बैठा देती किन्तु ऐसे सम्बन्ध का निर्दोषतम हृदयों ने अनुभव किया है, श्रेष्ठतम कवियों ने इसकी प्रशंसा की है, बुद्धिमान-से-बुद्धिमान पुरुषों ने इसे श्रेष्ठ समझा है। इसकी निन्दा करना घृणित है, द्रष्टा की अधमता से कोई दृश्य अधम नहीं बन जाता।

गुलाब ने दुनिया देखी थी, वह पक्की थी। उसकी दक्ष आँखों से तनमन की सांसारिक स्थिति छिपी नहीं रह सकती थी। इस पर हरिलाल का तनमन के प्रति प्यार उसे और भी जलाता था। घर में पुत्री की चतुराई के सामने विमाता को कोई कुछ समझता ही नहीं था, फलस्वरूप वह उसका दर्प चूर करने की चिंता में अवसर की प्रतीक्षा में बराबर रहती। तनमन भी दबने वाली नहीं थी। जहाँ गुलाब ने उसके मन के विरुद्ध कोई बात उठाई कि वह शोर

मचाने लगती। गुलाब को चुप हो जाना पड़ता, और पराजित हो कर वहाँ से उसे हट जाना पड़ता। बार-बार वह तनमन का ब्याह कर देने के लिए कहती किन्तु हरिलाल की आँखें खुलती ही नहीं थीं। जाति में ढूँढने पर वर साढ़े तीन ही मिले। एक बम्बई में बन्दर पर काम करता था, दूसरा कचहरी में अहलमद था और तीसरा बाप-दादा का धन फूँककर, जायदाद को गिरवी रख कर अपना काम चलाता था। एक वर ५० वर्ष का था जिसका चौथा ब्याह था और जिसके उत्पात से परेशान हो कर सरकार उसे पेंशन देने वाली थी। इनमें से तनमन किसे भाग्यशाली बनाएगी? स्नेहमय पिता का साहस कहाँ तक काम देगा।

'किशोर' आम्रवाटिका में बेंच पर बैठते हुई तनमन ने कहा 'आज मेरे भाग्य-निर्णय के बारे में विचार-विमर्श हो रहा है।'

'क्या?'

'मेरा भाग्य निर्णय! अरे ये जो मेरी विमाता हैं न, वही मेरे विवाह की बात कर रही हैं' उसकी बातों से कटाक्ष स्पष्ट रूप से प्रकट हो रहा था।

'विवाह की?' जगत ने जरा विचार में पड़ कर पूछा। उन शब्दों ने कुछ विचार गाम्भीर्य पैदा कर दिया। तनमन ने उसे देखा और उसे चिढ़ाने का मन हुआ।

'क्यों इसमें नवीनता क्या मालूम पड़ी? क्या समझते हो तुम, सभी कुछ होगा विवाह होगा, बरात निकलेगी, वर राजा आवेगा, मैं उसके घर जाऊँगी।'

उसने यह ऐसे भाव से कहा कि किसी दूसरे अवसर पर जगत ठहाका मार कर हँस पड़ा। परन्तु इन शब्दों में ऐसी कल्पना-दृष्टि खड़ी कर दी कि जगत घबरा उठा। उसने भर्राई हुई आवाज में पूछा—'कब विवाह होगा?'

'अरे यह बात तो पीछे निश्चित होगी। परन्तु विवाह में स्त्रियाँ गीत गावेंगी, पीछे मेरे पतिराज पीली हल्दी रंगे हुए, महान् राजा के समान ऐश्वर्यशाली बनकर, सुनहला जामा पहनकर आवेंगे और उनके सिर पर गगरी जैसा डव्वाशाही पगडी होगी!'

'तनमन! तू मुझे चिढ़ा मत। जहन्नुम में गया तेरा पतिराज और जहन्नुम में गई तेरी डव्वाशाही पगड़ी। तुझे सीधे से बात न करनी हो तो ले 'यह मैं चला!' निराशा से जगत बोला।

तनमन ने हाथ पकड़ कर उसे बैठाया 'हाय-हाय रे मेरी भैया! ऐसा भी कहा जाता है? मेरा पति जहन्नुम में जाएगा तो मैं क्या करूँगी?' जरा हँस-मुख चेहरे से रोनी सी आवाज बना कर तनमन बोली।

'तू तो जैसी की तैसी रही। ओफ्!' कर जगत उठा।

'मेरी शपथ जो जाओ तो किशोर !'

'तब मजाक करना छोड़ । तुझे तो हँसी सूझी है और मेरा दम निकला जा रहा है ।'

'नहीं-नहीं, परन्तु इतना क्यों बिगड़ रहे हो ?'

तनमन मनाये और जगत रूठा रहे, यह कैसे हो सकता था ? जगत फिर बैठ गया । उसके उत्तर से मानो संसार का दुःख शान्त हो जाएगा, इस प्रकार जगत ने पूछा—'तुम्हारा विवाह कब होगा ?'

'तुम जब कहो ?'

'मैं ? किस के साथ ?' जगत अर्ध विक्षिप्त-सा हो रहा था ।

तनमन की आँखें पुनः नाच उठीं—'एक व्यक्ति के साथ ।'

'यह तो मैं समझता हूँ, पर वह है कौन ?' जगत का स्वर काँप रहा था ।

'बता दूँ ? जाइये, नहीं बताती ।'

'बताओ न !'

'बताऊँ !'

'कौन ?'

हँसते हुए उसने जगत के गाल पर एक चपत लगा दिया, 'पूछते हुए तुम्हें शर्म नहीं आती ?'

'बता न देवी किसके साथ ?'

'मैं दोबारा विवाह नहीं करती !'

अब जगत ने कुछ समझा ।

'परन्तु पहली बार किस के साथ विवाह करने वाली हैं ?'

'पहली बार तो विवाह कर चुकी !' तनमन हँसी ।

'देख, फिर मजाक करने लगी ? देवी ! देवी ! तुझे जरा भी दया नहीं आती ? घड़ी भर में मेरे प्राण उड़े जा रहे हैं और तू मुझे इस प्रकार रुला रही है । देख, दो-तीन दिन में तो मैं चला ही जाऊँगा ।'

'इतना व्याकुल होने से क्या लाभ ? किशोर ! मेरा पागल ! तुम्हारी बुद्धि क्या मारी गई है ? मैं अपने किशोर को छोड़ दूसरे के साथ भला कैसे विवाह करूंगी ? छः वर्ष पहले विवाह किया था वह क्या भूल गए ? इतने दिनों तक क्या हम खेल करते रहे ? गुलाब चाची अपना सिर पटक कर भले ही मर जाएं । कल 'शुभ्र स्वर्ग में निवास करने वाली' पढ़ा था, वह भूल गए क्या ? या तो अपने महादेव को वरूँगी अथवा कुँआरी रहूँगी । मैं तुम्हारे साथ विवाह करूंगी या किसी के साथ भी नहीं । बनूँगी तो तुम्हारी पत्नी; यदि नहीं तो तुम्हारे जीवित रहते भी तुम्हारी ही विधवा हो कर रहूँगी ।'

उसके मुख पर दिव्य ज्योति छिटक रही थी । उसने जगत की ओर विज-

यिनी प्रेम-दृष्टि से देखा। किसी साम्राज्य की साम्राज्ञी के निश्चल शासन जैसा प्रभाव उसके दृढ़ और अटल शब्दों में था। वय की अपेक्षा बुद्धि पहले से ही उसमें अधिक थी। उसके चरित्र में सदैव अवर्णनीय नवीनता दिखाई पड़ती थी।

जगत ने उसका वह स्वरूप आज ही देखा। राजसभा में रोष से जाज्वल्यमान द्रौपदी का गौरव निश्चय ही कुछ ऐसा ही रहा होगा। वह जमीन पर बैठ गया। उसने बेंच पर बैठी हुई तनमन के हाथ-पर-हाथ रखा; उसका हाथ पकड़ कर दबाया 'देवी ! देवी ! मुझे क्षमा करना, कहाँ मैं और कहाँ तू ? बचपन की मैत्री तू प्रतिदिन दो बार स्मरण करती थी, मैं सप्ताह में कदाचित् ही एक बार ! मैं इस समय विचार के भँवर जाल में पड़ा हुआ हूँ, तूने कभी का ही निश्चय कर लिया है, देवी तू तो सचमुच देवी ही है' और फिर उसने उसके पैर पर सिर रख दिया। अकथ्य स्नेह से, मृदुता से तनमन ने जगत के माथे पर हाथ फेरा।

'किशोर ! तुम क्या विचार कर रहे हो ?'

'मैं बहुत दिनों से विचार कर रहा हूँ कि हम इस प्रकार कब तक रहेंगे ? एक साथ कोई रहने देगा नहीं; विलग हम से रहा नहीं जाएगा। मेरी आशा स्वप्न महान् है। मैं अभी बालक हूँ, यह मैं जानता हूँ। परन्तु मेरी अभिलाषाएँ बड़ी हैं। अपना जीवन सचमुच सार्थक करने की मेरी इच्छा है। यदि सब कुछ मानुकूल हुआ तो कुछ ऐसा लिखूँगा, कुछ ऐसा करूँगा, ऐसा कुछ छोड़ जाऊँगा कि दुनिया देखती रह जाएगी। परन्तु यह सब होगा तुम्हारे लिए ही; देवी ! तुम्हें ही प्रसन्न करने के लिए। बचपन से मेरा सुख तुमसे ही लिपटा हुआ है। तुम्हारे बिना मैं मृतवत् हो जाऊँगा। देवी ! तू मुझे शस्त्रों से सुसज्जित करेगी तभी मैं विजयी होऊँगा। तू जीवन-दीप जलायेगी तभी मेरा प्रकाश फैलेगा। मेरी देवी !' आवेश से शब्द-स्रोत रुक गया। अपना सिर उस के हाथ पर रख कर जगत चुप हो रहा।

'लेकिन जगत ! वह सब विवाह न करने दें तब ?'

'यदि हम दृढ़ रहें तो ये लोग क्या कर सकेंगे ? मुझे जाति-पाति किसी की भी परवाह नहीं है। तू मेरे साथ रहेगी तो मुझमें विश्व को भी जीतने का सामर्थ्य है।'

शुतुरमुर्ग की कहावत के अनुसार उसने सूक्ष्म दृष्टि से रेती में माथा गाड़ दिया; सोचा कि तूफान यों ही निकल जायेगा। अभी भी हिन्दू-संसार जगन्नाथ जी का रथ है, वह चलता है और हजारों निरपराधियों को पहिए के नीचे कुचल देता है इसका कुछ भी उसे ज्ञान नहीं था। उसके कथनानुसार सभी प्रश्नों का निराकार हो गया। सुनहले स्वप्नों की कल्पना और उनका अनुभव करते-करते पर्याप्त समय निकल गया। उठते समय तनमन के मुँह पर प्रेम की एक प्रकाश-

मान रेखा विद्युत-सी चमक उठी। दोनों हथेलियों के बीच में उसने जगत का मुँह दबा कर उसके नेत्रों में अपने नेत्रों की सुधा उँड़ेल दी। उमड़ते प्रेम-तरंगों से विह्वल होकर उसने अपना हाथ जगत के वक्षःस्थल पर रख दिया एवं हृदय के आह्लाद से दबे हुए स्वर में वह बोल उठी, 'मेरे नाथ !'

२४

जगत और तनमन दोनों ही इन बातों से मन समझाकर निश्चित हो गए। दोनों भविष्य को स्वर्ण से मढा हुआ समझ कर उसकी ओर आशा एवं शान्ति से टकटकी लगाए थे। आखिर शुक्रवार भी आ पहुँचा। जगत दूसरे दिन प्रातः काल जाने वाला था। तनमन और जगत ने अन्तिम पाठ पढ़ा, साथ में अन्तिम गान गाया, अन्तिम बार शिव-पार्वती का चित्र देखा, एक साथ ही अन्तिम बार सागर की लहरों का दृश्य देखा। ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता था त्यों-त्यों दोनों में कँपकँपी छूटती थी। आने वाले वियोग का स्मरण मन में मानों आने नहीं देना चाहते, इस प्रकार वे अधिक हँसे बोले, काँपते हुए हृदय से साँझ के सूर्य के प्रतिबिंब को सागर में स्नान करते हुए उन्होंने देखा। घूम फिर कर वापस आने पर पग-पग पर हृदय का तार तनता हुआ—टूटता हुआ जान पड़ा।

'अच्छा, मैं भोजन करके अभी आता हूँ।' कह कर पीछे देखे बिना जगत चला गया। उसे छः वर्ष पूर्व की विदाई का स्मरण हो आया। यह अचानक पुनर्मिलाप, उसका मृदु अनुभव उसके मन के सामने नाचने लगा, सिर पर लटकती हुई तलवार के समान वर्तमान विदाई के विचार से उसका हृदय फटने लगा। यदि फिर भेंट न हुई तब ? दिए हुए वचन का पालन न हुआ तब ? उसे संसार शत्रुवत् लगा। यह किसलिए स्नेही हृदयों को दूर रख कर दुःख देता है ? जाति की कृत्रिमता कैसी ? वृद्धों का कैसा अत्याचार ? पवित्र प्रेम-मार्ग पर जाते समय यह विघ्न कैसा ? हनुमानजी की कला से क्या प्रेम-सागर पार नहीं किया जा सकता ? इस विशाल पृथ्वी में क्या एक भी कोना ऐसा नहीं बना है जहाँ प्रेमी एक-दूसरे के साथ संसार, उसके पाप, उसमें प्रचलित विचित्र सम्बन्धों को भुला कर स्वाभाविक मार्ग से सच्चिदानन्द को प्राप्त कर सकें ? विचार में मग्न जगत ने भोजन किया और हरिलाल से आज्ञा लेने के लिए चला। वहाँ बैठा, बात-चीत की। रेगिस्तान में जाने वाला मनुष्य जैसे भर पेट पानी पी लेता है, वैसे ही जगत ने तनमन से भी बातें कीं, परन्तु प्यास ज्यों की त्यों बनी रही। ग्यारह बजे उसने विदा माँगी। सबके सामने वह तनमन से भला क्या कहे ?

'तनमन ! सूरत या बम्बई आना तब लिखना। मैं तुरन्त मिलूंगा ! अब चलता हूँ। गुलाब काकी ! आप भी जरूर।'

अपनी घबराहट छिपाने के लिए वह उसी समय नीचे उतर आया। उसे आशा थी कि तनमन भी अभी आएगी। तनमन को न आती देख उसके मन ने उलाहना दिया कि प्रेमी की विदाई क्या ऐसी ही होती है ? इससे अच्छा तो दुश्मन विदाई देता और लेता है ? वह थी देर तक यही सब सोचता रहा था कि तनमन पीछे की सीढ़ी से उतरी और उसके पास आ कर खड़ी हो गई। जगत आगे बढ़ा, उसका हाथ अपने हाथ में लिया और दबाया। हाथ में हाथ लिए हुए दोनों फाटक तक आए।

'प्यारे ! किशोर ! अब कब तक मिलना होगा ?'

'क्या कहूँ ? मेरा बश चले तो जल्दी से जल्दी। जरा धैर्य रखना। प्रबंध करके ही हम दोनों ही परिणय-सूत्र में बंधकर यहाँ से चले जायेंगे, माँ को भी साथ ले लूँगा, जरा भी घबराना मत।'

डबडबाई हुई आँखें साहस से ऊँची कर तनमन बोली—'किशोर ! जब तक तुम हो तब तक घबराहट कैसी ? परन्तु जल्दी मिलना। जाओ, और मुझे भी आज्ञा दो। यदि गुलाब चाची को मालूम हो जाय तो आफत मचा डालेंगी मैं तो चुपके से आई हूँ।'

'देवी ! तब विदा ?' जगत ने तब हाथ बढ़ाया और तनमन आलिंगन-पाश में बंध गई। आँसू में आँसू मिल गया। यह आलिंगन, यह मिलाप लाखों भँवरों की फेरी देने जैसा था। फाटक की खिड़की से कूदकर जगत दूसरी ओर गया। हाथ का दबना, गाल पर की एक ज्वलंत चिनगारी सदृश चपत, होंठस्पर्श, खिड़की का दरवाजा बन्द करने की आवाज, लौटकर तेजी से दौड़कर जाती हुई तनमन की परछाईं आदि जगत के स्मृति-पटल पर एक के बाद एक आने लगे। वह उपहास करती हुई शीतल किन्तु निर्दय चाँदनी में खड़ी थी। सृष्टि पर निर्जनता व्याप रही थी—वैसी ही निर्जनता उसके हृदय में भी थी। उसने एक ठंडी उसाँस भरी; आँखें पोंछी और भारी हृदय से धीरे-धीरे आगे बढ़ा।

२५

गुलाब ने खिड़की खोली और जब यह सब दृश्य दिखाई पड़ा तो उसे अपने पति को दिखाने के लिए उनका ध्यान आकृष्ट कर पुकार कर बोली—'जरा इधर तो आइये ! 'मेरी तनमन ऐसी' और 'मेरी तनमन बेटी वैसी' कहा करते हैं, जरा आकर देखिये ! मेरा तो खैर नाम ही बदनाम है।'

'क्या है ?' कहते हुए हरिलाल खिड़की के पास आये। उन्होंने दो परछाइयों को एक-दूसरे की ओर बढ़ते हुए, आलिंगन करते हुए और विलग होते हुए देखा। एक परछाईं दौड़ती हुई आकर बंगले में घुसी और दूसरी धीरे-धीरे चली जा रही थी। भोले हरिलाल की आँखों के सामने से जैसे पर्दा हट गया, इन्होंने अपनी बेटी को भयंकर अग्नि के समीप खड़ी पाया। 'यह मेरी तनमन और यह जगत !' इस विहार-मात्र ने उन्हें विमूढ़ बना दिया। शान्त स्वभाववश अपनी ही मूर्खता पर उन्हें तिरस्कार हुआ।

'यह मैं क्यों नहीं देख सका ? पन्द्रह वर्ष की लड़की बच्ची नहीं कही जा सकती, ओह यह मैं कैसे भूल गया कि दोनों कहाँ तक आगे बढ़े हैं ?' इस विचार में उनका मस्तिष्क उलझ गया और उसका रोगिष्ट मन घबरा उठा। सिर पर हाथ रखकर वह एक चारपाई पर बैठ गए।

'मैं सच कह रही थी या नहीं ? मैं नहीं कह रही थी कि इतनी बड़ी लड़की को कुँवारी रखना ठीक नहीं है ? परन्तु आप तो सुधारक हैं न। लीजिये, अब सुधार का फल चखिये।'

'मुझे तो इसका लेशमात्र भी ज्ञान नहीं था।'

'मुझे तो बहुत पहले से ही खबर थी कि इनका भाई-बहन का नाता कैसा है। परन्तु आप को तो 'तनमन, तनमन और तनमन।' गुलाब ने यह भी ताना दिया—'मेरी लड़की होती तो चीर कर रख देती।'

हरिलाल को समझ नहीं आ रहा था कि वह क्या करे। विश्वासमात्र के विश्वासघातक सिद्ध होने पर खिन्नता का होना स्वभाविक है। परन्तु अभी तनमन पर स्नेह वैसा ही बना हुआ था, एकाएक विश्वास उठ जाना कठिन था। इस पर गुलाब जब विमाता का भाव प्रदर्शित करती तब तो उनके तन-बदन में आग लग जाती थी। वे चिढ़चिढ़ाकर बोले, 'अरी ओ सौतेली माँ ! अपनी चतुराई जाने दे, क्या करना है और क्या नहीं करना है, इसका मुझे सब ज्ञान है। जा चुपचाप जाकर सो।'

हरिलाल भी सोने चले गये। थोड़ी देर में गुलाब की नाक बोलने लगी, हरिलाल को निद्रा नहीं आई। दो बजे तक निःश्वाँस लेते हुए वह करवट बदलते रहे। आखिर रहा नहीं गया 'हाँ बेटी !' कहकर वह उठे और सावधानी से ताकि गुलाब न जाग पड़े, पीछे कमरे में गये। तनमन वहाँ अर्द्ध-निद्रा में लेटी हुई थी। जगत का दिया हुआ रूमाल, जिस पर अपने बाल से उसने उसका नाम काढ़ा था, उसके हाथ से मुँह के पास पड़ा था। हरिलाल वहां खड़े रहे। बाहर से अमृत की वर्षा करती हुई ज्योत्स्ना का मीठा रसमय प्रकाश आ रहा था। निद्रा में तनमन जरा हँसी। हरिलाल की आँखें भीनी हो गईं। किसी की उपस्थिति का निद्रा में कुछ ज्ञान हुआ हो इस प्रकार वह थोड़ा जाग उठी

और अद्भुत मधुर स्वप्न में बोली, 'कौन किशोर ?'

हरिलाल के मुख पर दुःख का विषाद छा गया। उसी समय तनमन ने आँखें खोलीं और पिता को खड़े देखा।

'क्या है पिताजी ! इस समय ?' तुरन्त उसे असाधारण प्रसंग का संदेह हुआ। सावधानी से रूमाल उसने अपनी जेब में छिपा लिया।

चारपाई पर बैठकर हरिलाल ने तनमन के कन्धे पर हाथ रखा। बचपन से पाली हुई, मातृहीना कन्या के प्रति उनका स्नेह असीम था, रोष सब जाता रहा। तनमन का हाथ पकड़ कर कहा—'बेटी ! तुझ से कुछ बातें करने आया हूँ।'

'मुझसे ? इस समय पिताजी ?'

'हाँ, नींद नहीं आ रही है।' अत्यधिक शोक से सिर हिलाते हुए उन्होंने पूछा—'अभी उठते समय तू क्या बड़बड़ा रही थी, जानती है ?'

'कुछ भी तो नहीं।' तनमन घबरा उठी, पिता जी को मालूम हो गया क्या ? बड़ी सावधानी से बातचीत करने का उसने निश्चय किया।

'तूने जगत का नाम लिया था ?'

'ओह ! वह आज गया है इससे ऐसा हो गया होगा।'

'तनमन बेटी ! अपने पिता को ही ठगेगी ? बचपन से जितना तेरी माँ करती उससे भी अधिक प्यार से तुझे पाला है, पढ़ाया है। वृद्धावस्था में दिनों-दिन मैं अपंग होता जा रहा हूँ, इस समय मुझे ही धोखा देगी बेटी ?'

यदि क्रोध किया होता तब तो तनमन साहस रखती। किन्तु अपने पिता के ये दयनीय भाव से कहे गये शब्द वह सहन न कर सकी। पिता की गोद में सिर रखकर वह बोली—'पिताजी ! ऐसा क्यों कह रहे हैं ? आपको मैं धोखा दूँगी ?'

'तब सच-सच बता, जगत ने तुझ से क्या कहा है ?'

भावुक माँ-बाप अपनी सन्तानों की अपेक्षा दूसरों का दोष अधिक देखते हैं।

'जगत ने ? कुछ भी तो नहीं।'

'सच बता दे बेटी ! तुझ को विलग होते हुए मैंने स्वयं देखा।'

तनमन का हृदय भर आया। उसने सभी कुछ बता देना ही ठीक समझा।

'पिताजी ! व्यर्थ किसी के साथ अन्याय मत कीजिये। क्षमा प्रदान करें तो सब बता दूँ।

'तनमन बेटी ! आज तक कभी भी तुझे कुछ नहीं कहा और न कहूँगा। तेरे सुख से ही सुखी हूँ।'

पिता के कंधे पर सिर रख कर काँपती हुई लज्जाशील बाला ने पिता से कहने योग्य सभी बातें कह दीं। बचपन में ली हुई शपथ और बड़े होने पर की प्रतिज्ञा भी कही। न्यायी, स्नेही पिता भी पुत्री का क्या दोष निकाले ? वह तो

स्वाभाविक, सरल सत्य ही कह रही थी। अनुभवी आँखों से घूरते हुए भी हरिलाल ने पुत्री की प्रशंसा की।

'परन्तु बेटी ! अब सब भुला दे जगत को भी भुला दे।'

'पिताजी ! आप ऐसा कह रहे हैं ? बचपन में सतियों की, प्रेममयी पत्नियों की कथा कह कर मेरे विचार आपने ही तो पुष्ट किये, उसका पालन न करके मैं अपराधिनी नहीं हो सकती। इस में मेरा दोष ही क्या है ?'

'दोष क्या है ?' किन्तु जगत के साथ प्रेम किस काम का ? उससे विवाह जो नहीं हो सकता ?

'क्यों नहीं ?'

'बेटी ! वह अन्य जाति का है, नहीं तो कभी का उसके साथ तेरा विवाह मैंने कर दिया होता।'

'जाति का झंझट आने से तो मेरी मृत्यु निश्चित है। पिताजी ! आप तो सुधारवादी हैं, आपको साहस करके इस जाति-पाति को तोड़ना होगा।'

'इस वृद्धावस्था में साहस किया जा सकता नहीं।' कुछ ठहर कर बोले—'विचार करूँगा, यह काम सरल नहीं है।'

'मेरा सिर विचार करना है ?' कहती हुई गुलाब आ धमकी।

आधे घंटे तक दरवाजे के पीछे छिप कर बाप-बेटी की बातचीत उसने सुनी थी। वह पुराने विचार वाले कुटुम्ब की लड़की थी। 'लड़की इस प्रकार मुँह पर कालिख लगाए, बाप सुने और जाति बाहर विवाह करने का विचार करे, बुद्धि कहीं चली तो नहीं गई है ?' बात सुधारने के लिए वह आगे बढ़ी। हरिलाल देखते रहे। तनमन ने बाप के कंधे पर से सिर उठाया। सिंहनी की भाँति सिर हिलाया और विमाता की ओर देखने लगी।

'आप भी क्या हैं ? अपने कुल के लाज की भी क्या परवाह नहीं है ? यह चार वित्ते की छोकरी जो मुँह में आये बकती जाय और आप चुपचाप सुनते रहें ?'

'तू घबरा मत।' डर से धीमे स्वर में हरिलाल बोले। वे गुलाब की तीक्ष्ण धार वाली जीभ से अत्यधिक डरते थे। 'जरा सुनो तो सही।'

'सुन चुकी, सब सुन चुकी। भला यह भी सुनने की बात है ? दीजिये दो थप्पड़ अभी सीधी हो जाती है। मैंने तो प्रतिज्ञा की है—आई बड़ी प्रीतिज्ञा, करने वाली ! कल पत्र लिखकर विवाह जल्दी ही कर डालिए। सारी शेख भूल जायगी। बड़ी आई—मेरा किशोर—वाली।' गुलाब आवेश में बोल गई हरिलाल तो किंकर्त्तव्यविमूढ़ ही हो गये। उनका शान्त स्वभाव गुलाब के गुस्से के आगे प्रायः दब जाता था—परन्तु तनमन से नहीं रहा गया।

'गुलाब चाची ! जरा जबान सम्भाल कर बोलिये। पिताजी के रहते इतनी

बुद्धिमत्ता क्यों खर्च कर रही हैं ? मुझे आपके भाई के साथ विवाह करना होगा तो आपसे पूछने आ जाऊँगी। गौरव से तनमन व्यंग्य करते हुए बोल उठी। उसके होंठ कसकर भिच गए थे। उसके बड़े-बड़े नेत्र कौमुदी के प्रकाश में चमक रहे थे। पहले जैसा बताया जा चुका है, साढ़े तीन वरों में से तीन घर गिरवी रखने वाला एक लहरी युवक उसका मौसेरा भाई भी था।

गुलाब का मिजाज हाथ से जाता रहा। तनमन को सीधा करने के इरादे से वह बोली—'लीजिये सुन लीजिये। बड़ी बोलने वाली बना रखा है। बड़े छोटे का भी कुछ विचार है या नहीं इतनी बड़ी हुई, इतना भी ज्ञान नहीं है। यदि तेरा बाप ठीक होता तो अब तक तू दो लड़कों की माँ हो गई होती! देख, कल ही तेरे श्यामदास मामा को पत्र लिखकर विवाह पक्का कराती हूँ दिमाग तो देखो! विवाह की प्रतिज्ञा लेकर आई है, बड़ी बैठने वाली। सीधे बाप को सता रही है। परन्तु मैं देखती हूँ कि तू कैसे विवाह कर चुकी है और फिर कैसे नहीं करती, लुच्ची कहीं की!'

'वाह गुलाब चाची वाह! आपने भी आज विमाता का चण्डी रूप खूब दिखाया है? क्या बात है? मेरी समझ में जो आएगा करूँगी और जिससे इच्छा होगी विवाह करूँगी। आपको मेरे बीच में दखल देने का कोई हक नहीं है।' उसके ओंठ तिरस्कार से विकृत हो गये, मैं भी आपका घमन्ड देखूँगी कि आप मेरा कैसे विवाह करती हैं। आप जैसी कितनी मेरे सामने आएँगी, हार मानेंगी और सिर पटक कर मर जायेंगी। श्यामू मामा प्राण ले लेंगे बस, न कि और कुछ करेंगे? जो आपसे हो कर डालिये, अपनी शत्रुता निकाल डालिये काट डालिये—मैं तो किशोर की थी, किशोर की हूँ और किशोर की ही रहूँगी। मनसा, वाचा कर्मणा मैं तो उनकी ही पत्नी हूँ। समय आने पर उनके लिए प्राण भी निछावर कर दूँगी बस? फिर कौन ब्याहने आयेगा?'

वह तन कर खड़ी थी। आँखों में दृढ़ तेजोमय तिरस्कार चमक रहा था। वह ऐसी दीप्त हो रही थी जैसे कोई वीरांगना निर्भयतापूर्वक शत्रु को समर में निमन्त्रण दे रही हो। कुछ समय तक वहाँ शांति रही।

'तनमन! बेटी—' बोलते-बोलते हरिलाल की जीभ ऐंठ गई चीखकर वह लेट गये। यह उन पर लकवे का दूसरा आक्रमण था।

२६

गुलाब उस रात्रि का अपमान सहन नहीं कर सकी। तुरन्त ही तनमन को वश में करने के उपाय की उसने योजना बनाई। दूसरे दिन ही उसने श्यामदास

को बुलवाया।

तनमन का मामा जानने योग्य व्यक्ति था। जाति के सभी लोग उससे डरते थे और घर के सभी लोग उससे काँपते थे। लड़ाई-झगड़ा करने में, चिल्लाने में एक, दिल का कड़ा एवं बुद्धि का मन्द था। पंचायत में इसके उपस्थित होने पर सज्जन पुरुष अपना मान भंग होने के डर से वहाँ से उठकर चले जाते थे एवं सदैव बाकी बचे हुए मूर्खों की सहायता से अपना निर्धारित कार्य यह पूरा कर लिया करता। वह शिक्षक था, पर छड़ी से पीटने के सिवा दूसरी कोई विद्या नहीं आती थी। अलबत्ता पाठशाला की शिक्षा समिति के मेम्बरों के यहाँ भोज चाय पान आदि के अवसरों पर वह इतना उपयोगी भी सिद्ध होता था कि म्युनिस्पैलिटी के पैसे से ऐसा योग्य कार्यकर्त्ता रखने में लगभग सभी मेम्बर सहमत थे। यह कहने में कोई अत्युक्ति न होगी कि तनमन की माँ बिचारी इसी डर से मर गई। हरिलाल उसे तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे परन्तु निकट सम्बन्धी होने से उसका आदर तो उन्हें करना ही पड़ता था।

बुलाने पर श्यामदास आया। गुलाब ने नमक-मिर्च लगाकर सब बातें उससे कह डालीं। लड़कियों को वयस्क करके विवाह करने का नाम सुनकर तो वह जल ही उठता था, वह इसे हिन्दू धर्म के विरुद्ध समझता था। इसका कारण एक और भी था, इसने कुटुम्ब की लाज रखने के स्तुत्य हेतु से अपनी साढ़े सात वर्ष की कन्या का विवाह नौ वर्ष के लड़के के साथ कर दिया था, जिससे लोगों ने उसकी निन्दा की थी। अतः यह बात सुनते ही वह आँखें फाड़ कर देखने लगा।

हरिलाल की शारीरिक स्थिति लकवे के आक्रमण से गम्भीर हो गई थी, उनकी ही सेवा में तनमन चौबीसों घन्टे लगी रहती। दवा का, पथ्य का, सोने का सब प्रबन्ध वह स्वयं करती; कौन औषधि कब देनी है, इसका तो गुलाब को कुछ ध्यान ही नहीं रहता था, वह चारपाई से कुछ दूर बैठी रहती इतने से ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेती थी। रात्रि में बारह-एक बजे जब हरिलाल को कुछ निद्रा आ जाती तब उनके पैर के पास अपना सिर रखकर तनमन जेब में से जगत का रुमाल निकालकर उसका चुम्बन कर थोड़ा-बहुत सो लेती।

कुछ दिनों तक तो श्यामदास अर्थात् श्यामू भाई को बात करने का अवसर ही नहीं मिला। एक दिन तनमन भोजन कर रही थी उस समय वह वहाँ गया।

'तनमन! तेरी तो बड़ी शिकायत सुन रहा हूँ!' हमेशा की तरह आँखें निकालकर जोर से श्यामू बोला। तनमन जानती थी कि ऐसा ही कोई आक्रमण होगा जिससे इसके लिए वह पहले से ही तैयार थी। शूरवीर हृदय से

उसने निश्चय किया था। वह श्यामू मामा के सात पीढ़ी के तरेरने और घुड़कने से डरने वाली नहीं थी। वह उसकी ओर अनिमेष आँखों से देखती रही।

'शान्त रहो, पिता जी की तबियत का तो जरा विचार करो।'

'ओहो ! तुझे ही केवल चिन्ता है या और किसी को भी ? कहे देता हूँ, विवाह के सम्बन्ध में तेरी धींगा-धींगी नहीं चलेगी, समझ गई न ? लड़का कुँवारा सुना है परन्तु क्या लड़की भी कहीं कुँआरी सुनी गई है ?'

'श्यामू मामा ! यदि गुलाब चाची ने डराने धमकाने के लिए बुलाया हो तो प्रयत्न व्यर्थ है। अपना निश्चय मैंने पिता जी से कह दिया है, उससे मैं डिगने वाली नहीं।'

'ऐसा !' व्यंग से हिलाते हुए श्यामू मामा बोला—'मेरा भी कहा नहीं मानेगी ?'

'मामा, मेरे में बुद्धि कम नहीं है अपने निश्चयानुसार ही करूँगी।'

'हूँ !' श्यामू मामा आग बबूला हो गए। मानो आँख से ही डरा देना चाहते हों, इस प्रकार आँखें फाड़-फाड़ कर देखते रहे। तनमन डरने वाली नहीं थी। श्यामू उठा और बड़बड़ाया 'यह सीधी तरह नहीं मानेगी ?'

श्यामू मामा के आने पर ही तनमन के जी में डर पैदा हो गया था। यह उपद्रव करेगा तो बहुत कुछ सहना होगा, यह निश्चित था। उस रात्रि में पिता को पंखा झलते समय जगत याद आया। उसका मुख उसकी आकृति, उसके शब्द याद करके वह मुस्कराई, छाती पर रखे रूमाल को जरा दबाया और 'मेरा किशोर !' हठात् उसके मुँह से निकल पड़ा। हरिलाल ने आँख खोली। उन्हें जरा होश आ गया था, जिससे वह स्थिति कुछ-कुछ समझते थे परन्तु प्रयत्न करने पर भी बहुत थोड़ा ही उनसे बोला जाता था। आँख संकेत से तनमन का माथा अपने मुँह के पास रखने के लिए कहा। ऐंठी हुई जीभ से एक ही शब्द 'जगत' निकला। तनमन समझ गई; उसकी आँखों से अविरल अश्रुधारा बहने लगी, हरिलाल की आँखें भी डबडबा आईं। पिता और पुत्री दोनों पास ही पास ही सिर रखकर सो गए।

थोड़ी देर बाद पास ही सोई हुई गुलाब जागी और उन दोनों को इस प्रकार सोते हुए देखकर वह बड़बड़ाई—इतनी बीमारी में भी कितना प्रेम दोनों में ? और करवट बदल कर सो गई।

चार-पाँच दिन में हरिलाल की स्थिति में कुछ सुधार हुआ। आराम कुर्सी पर नौकर उन्हें पकड़ कर बैठाते और वह कुछ बोल भी सकते थे।

'तनमन ! श्यामदास क्यों आया था ?' हरिलाल ने पूछा।

'मुझे धमकाने के लिए गुलाब चाची ने बुलाया था।'

हरिलाल ने अपनी हालत पर दीर्घ निःश्वास ली। उन्हें विश्वास हो गया कि उसकी इस फूल के समान सुकुमार पुत्री को उसकी विमाता और मामा दोनों मिल कर मार डालेंगे। वे स्वयं दिनों-दिन रोगग्रस्त होते जा रहे थे; शरीर का कुछ ठिकाना नहीं था। अश्रुपूर्ण नेत्रों से आकाश की ओर देखा मानो तनमन को ईश्वर के चरणों में सौंप दिया हो।

दो-चार दिन और व्यतीत हो गए; श्यामू का पत्र आया। हरिलाल का पत्र तनमन ही पढ़ती थी। तनमन ने उसे खोला एवं रोली का छींटा देख कर वह डरी।

परम माननीय हरिलाल की सेवा में,

श्री पत्री जोग लिखी सूरत से सेवक श्यामदास गोरधनदास की जयगोपाल वंचना। आपकी पुत्री तनमन का विवाह बम्बई के सेठ कमरदास त्रिभुवन के साथ पक्का कर दिया है सो जानना। लग्न की तिथि मिति वैशाख कृष्ण द्वादशी वार भौम निश्चित हुई है। सब तैयारी मैं कर लूंगा, किसी बात की चिन्ता मत कीजिएगा। चैत कृष्ण अमावस्या. १९.....'

पढ़ते-पढ़ते तनमन का गला भर गया, उसकी आँखों में से आँसू गिरने लगे। पत्र पूरा होते ही फफक कर वह रो पड़ी। 'पिता जी! मुझे सचमुच ही मार डालेंगे क्या?'

अन्तिम आक्रमण के पश्चात् हरिलाल बिल्कुल दुर्बल हो गये थे, उनकी आँखों से भी आँसू गिरने लगे।

'बेटी! भगवान जो करेंगे वही होगा। मैं सब ठीक कर दूंगा, घबरा मत।'

तनमन ने देखा कि उसके पिता अपंग हो रहे हैं और उनमें मानसिक अथवा शारीरिक शक्ति नहीं रह गई है।

'पिता जी! कहें तो किशोर को लिखूं।'

'लिखने से लाभ? वह बालक है, व्यर्थ में वह भी दुःखी होगा। हे प्रभु!'

'ठीक है।' तनमन ने सोचा कि जगत को लिखने से कोई लाभ नहीं है, वह भी क्या कर सकेगा? आशा केवल पिता जी के स्वस्थ होने पर ही थी।

दूसरे दिन निमंत्रणपत्र का बंडल आ गया। श्यामदास ने लिखा था कि 'सब जगह भेज दिया है, कोई बच गया हो तो उसके पास भेज देने की कृपा करेंगे।' यह शीघ्रता देख कर तनमन और हरिलाल दोनों घबरा गये। गुलाब की खुशी का पारावार नहीं था, वह फूली नहीं समा रही थी।

'अब एक ही उपाय है। मैं स्वयं सूरत जाकर इसे रोकूँगा, इतनी जल्दी क्या पड़ी है?' हरिलाल ने कहा। डाक्टर ने पूछने पर दो-एक दिन बाद जाने की अनुमति दी, लाचार हो रुकना ही पड़ा।

तनमन का मन अधिक भीरू होता जा रहा था। यथाशक्ति उसका सब समय पिता की सेवा में ही व्यतीत होता था। पिता से जगत के सम्बन्ध में बात करने पर उसका दुःख कुछ कम हो जाता था। हरिलाल से वह इस प्रकार बात करती मानो जगत के साथ उसका विवाह हो चुका हो। संगीत वाली रात्रि में हुई रूठने-मनाने की बात भी उसने कह डाली थी।

'धत् तेरे की ! तू इतनी है ; यह तो मुझे आज ही मालूम हुआ। जब जगत को इतना परेशान करती है तब दूसरे की क्या ?'

तनमन जरा लज्जित होकर बोली : 'नहीं पिता जी ! किशोर को कभी सताती नहीं। यह तो न मालूम मुझे क्या हो जाता है कि उससे लड़ पड़ती हूँ।'

'और पीछे मेल होता है।' हरिलाल ने कहा—'वह पुस्तक तो निकाल !'

पुस्तक में बताई हुई कविता को तनमन ने पढ़ा—

खिली जो अपने चारों ओर
सुनो क्या कहती पाटलमाल—
विहँस हँसकर उपवन के बीच
लूटती मोती मैं इस काल

रेशमी झोली अपनी फाड़
अभी इस वन में दूँगी फेंक
और अपनी निधियाँ अनमोल
लुटा दूँगी मैं क्षण में एक

'पिताजी ! सब कुछ आप ही के हाथ में।' कविता के भावों से उसकी आँखें भीग गई थीं।

'बेटी ! जो कुछ हो सकेगा करूँगा।'

तीसरे दिन वे सूरत चले गये।

२७

श्यामदास ने कुछ भी उठा नहीं रखा। घर रंग गया था, निमन्त्रणपत्र बँट गए थे, खाने-पीने का सब प्रबन्ध हो गया था। करमदास सेठ भी तनमन के साथ विवाह करने के लिए उतने ही आतुर थे। उनका अन्तिम मकान चौथी बार रेहन रखा जा चुका था। बालकेश्वर का उनके बंगले का कुछ भाग भी किराये पर उठ गया था। इस गरीबी में हरिलाल का उत्तराधिकारी होना तो उसके लिए स्वाति-बूँद के समान था। बम्बई से उनके कुटुम्ब के लोग आ पहुँचे

थे, केवल स्वयं वही बाकी थे। सचमुच नौ-दस दिन में श्यामदास ने नई सृष्टि रच दी थी।

हरिलाल के आते ही उन्हें तीसरे खण्ड पर पहुँचवा दिया जहाँ ये उनके लिए हटना ही कठिन हो गया। वे तो वहाँ कैदी बन गए। श्यामू भाई ने सभी नौकरों को रुपये का लालच देकर अपने वश में कर लिया था। हरिलाल के आने पर दो दिन तो वह उनसे मिला तक नहीं। मिलने पर हरिलाल ने पूछा 'क्यों श्यामदास ! यह क्या कर रहे हो ?'

'और क्या ? तनमन के विवाह की तैयारी !'

'मुझसे तो कोई कुछ पूछता ही नहीं ?' बीमारी में भी क्रोध से उन्होंने पूछा।

'आप बीमार है, इससे आप को कष्ट देने से क्या लाभ ?'

'परन्तु मुझे करमदास के साथ तनमन का विवाह नहीं करना है।'

'पागल हो गए हो क्या ? हम भी कोई पासी-चमार हैं कि इस प्रकार व्याह छूट जाएगा ?'

'परन्तु ?'

'इस समय मुझे बहुत काम है, पीछे बात करूँगा।' कहकर श्यामदास चल दिया।

निराश होकर बिचारे हरिलाल ने बिछोने पर हाथ पटका। सामने बैठी तनमन का प्राण अब-तब सा हो रहा था। षड्यन्त्र कैसा रचा रहा है वह देख रही थी। इसका परिणाम क्या होगा, यह भी वह अच्छी तरह समझती थी।

'पिता जी ! यह तो मेरा गला घोंटने का प्रबन्ध हो रहा है।'

'मैं क्या करूँ ?' हरिलाल भी रो पड़े, मेरा भाग्य इस समय विपरीत है, कोई नौकर भी नमक हलाल नहीं है। जिस नौकर को वकील को बुलाने के लिए भेजा था उसने लौटकर मुँह भी नहीं दिखाया। क्या करूँ ? बेटी ! मेरी लाडली ! तुम्हारे भाग्य में जाने क्या बदा है ?'

'पिता जी ! मैं स्वयं वकील को बुला लाऊँ ?'

'तुमसे होगा ?'

'क्यों नहीं होगा।' कहकर वह सीढ़ी उतरने लगी।

'कहाँ जा रही है ?' अरे ओ तनमन ! गुलाब ने पूछा।

'कुछ काम है, अभी आती हूँ।'

'नहीं जाना है ! खड़ी रह, नहीं तो तेरे मामा को बुलाती हूँ।'

'तुम मना करने वाली होती कौन हो ? तुम अपना काम करो।' कहकर तेजी से वह सीढ़ी उतर गई। परन्तु गुलाब ने श्यामदास को बुलाकर पीछे

भेजा। तनमन को दो काम थे। एक दो वकील से संदेशा कहना और दूसरा जगत से भेंट करना। इस विपद के समय जगत के सिवा और कौन दूसरा सहायक था।

वकील के यहाँ पहुँची, और उनने सारी परिस्थितियाँ बतलाईं। संध्या हो गई थी जिससे वह तेजी से वहाँ से निकली। बड़े रायजी का घर उसने देखा नहीं था, भाड़े की गाड़ी करके वहाँ जाने का उसने विचार किया। नजदीकी रास्ते से जाने के लिए वह अंधेरी गली में घुसी ही थी कि तुरन्त पीछे से दो मजबूत हाथों ने उसे पकड़ लिया, चिल्लाने के पहले ही उनका मुँह किसी ने हाथ से दबा दिया। वह बहुत छटपटाई, परन्तु सब निरर्थक हुआ। बहुत दिनों की थकावट, जागरण, वियोग एवं विलाप ने उसके सुन्दर तेजस्वी शरीर को क्षीण तथा निर्बल बना दिया था। जिस पुष्पकली-सी कुमारी ने थोड़े दिन पूर्व जगत को विदा किया था वह आज कुम्हला-सी गई थी। वह थक कर मूर्छित हो गई।

२८

होश में आने पर तनमन ने अपने को हरिलाल के कमरे में बिछौने पर पाया। हरिलाल सो रहे थे। तनमन का सिर दुख रहा था, उनका सब शरीर बुरी तरह अकड़ गया था। उठकर उसने मुँह धोया, शीशे में मुख देखा। रात में दीपक के मन्द प्रकाश में प्रफुल्ल वदन, नाचती हुई, मदोद्धत तनमन के बदले कान्तिहीना, मुक्त-कुन्तला, रुग्णा तनमन देखकर एक आह निकल गई, जाकर आराम कुर्सी पर बैठ गई। अपनी स्थिति पर गंभीरतापूर्वक विचार करने लगी; आज के अनुभव से इतना तो निश्चय हो गया कि श्यामू जिस प्रकार भी होगा विवाह करेगा। हरिलाल का विचार चाहे जो भी हो, वह कुछ कर सकने में बिलकुल ही असमर्थ थे। इस समय उनकी अपंग एवं निराधार अवस्था में तो तनमन ही उनका एक आश्रय थी। वह भला तनमन की क्या सहायता कर सकते थे? तनमन को छोड़ घर के किसी भी व्यक्ति को उनकी चिंता नहीं थी।

जगत को बुलाना असम्भव था। कल से पत्र भी उसे देना बन्द कर दिया गया था। जगत आ कर ही क्या कर सकेगा? विवाह का लग्न इतना पास आ गया था कि घर के आदमी के सिवा कोई उसे रोक ही नहीं सकता था। तनमन भय से काँप उठी; उसके लिए तो अब भागकर जाना भी असम्भव था; इससे भी अधिक कठिन काम था सन्देशा भेजना। शायद दो ही फर्लांग की दूरी पर उनका किशोर रहता होगा, उसे स्मरण करता होगा, डुम्मस में अपना प्रेम

सन्देश भेजता होगा किन्तु इस समय तो उन दोनों के बीच आकाश-पाताल का अन्तर था। कोई नौकर ऊपर नहीं आने पाता था, आता भी तो कोई जवाब न देता। गुलाब आया-जाया करती थी किन्तु वही तो सब दुःखों की जड़ थी।

क्रमशः तनमन के मन में स्थिति स्पष्ट होती गई, वह उसे विवाह देने के लिए कटिबद्ध हैं। उसे पता था कि करमदास तो हरिलाल के धन के साथ विवाह करने आया है इसलिए चाहे वह कितना ही उपाय क्यों न करे, वह वापस लौटने वाला जीव नहीं है। तनमन को इसका ज्ञान हो गया। उसका हृदय टुकड़े-टुकड़े हो तो गया। डुम्मस का स्वप्न पूर्ण होने की आशा जाती रही; जगत अब नहीं मिलेगा, अपनी प्रतिज्ञा का पालन वह नहीं कर सकेगी, स्वर्णमय सुख के बाँधे हुए हवाई किले में जा कर वह बस नहीं सकेगी, तो क्या उसकी भविष्य की मधुर स्वर्णिम कल्पनाएँ यों ही अपूर्ण रह जावेंगी? अपने किशोर की भावी चिरसंगिनी बनकर, उसकी संतान की माता बन कर, उस के सुख से ही सुखी होकर स्वयं उसके साथ उच्च प्रेम के सहजीवन में सम्बद्ध नहीं हो सकेगी। यह विचार उसके लिए बज्राघात सदृश था। उसने छाती पर हाथ रखा और उसके मुँह से अनायास ही निकल गया—

'हे भगवान्! ओ मेरे किशोर!'

'बेटी! क्या कर रही है?' बिछौने पर से हरिलाल का मन्द स्वर सुनाई दिया।

तनमन उठकर पिता के पास गई। पिता ने वकील के सम्बन्ध में पूछा। उत्तर में तनमन ने सब आप बीती कह सुनाई। हरिलाल सारा वृत्तान्त सुनकर अवाक् रह गए।

'पिताजी! कुछ समझ नहीं पड़ता कि मैं क्या करूँ? मेरी क्या गति होने वाली है?' हरिलाल पर उसने अपना विचार प्रकट किया।

'मेरी लाडली हाय! ! हाय! यह दिन भी मुझे देखना बदा था। सच है यह राक्षस तुझे जीवित नहीं रहने देंगे। अपनी दशा देख कर मरने की इच्छा होती है पर तेरा क्या होगा? ऐसे पति के साथ तेरा कैसे निर्वाह होगा? मेरी आँखों की ज्योति! तेरा जीवन कैसे बीतेगा?'

'पिताजी! आप घबराइये नहीं। मेरे शरीर के इस ढाँचे के साथ भले ही विवाह करलें, पर स्वीकार करना या न करना मेरे हाथ की बात है। मुझे भले ही मार डाले पर वे मुझे वश में नहीं कर सकेंगे।'

'तनमन! व्याकुल मत हो, बहुतों को पहले ऐसा ही होता है, पीछे उनका जीवन सुधर जाता है। तेरा भाग्य भी शायद ऐसा ही हो।'

'पिताजी! पिताजी! ऐसा मुँह से न निकालिये। आप मुझे पहचानते नहीं? यह संसार के सुधरने की तो बात जाने दीजिए। जोर-जुल्म से विवाह

कर देंगे तब क्या आप समझ रहे हैं कि करमदास की पत्नी बनकर दूसरी लड़कियों के समान मैं संसार चलाऊंगी ? पिताजी ! मैंने अपने किशोर से कह रखा है कि यदि मैं उन्हें न पा सकी तो उनने जीते जी उन की विधवा रहूँगी। जिस दिन कमरदास के साथ मेरा विवाह होगा उसी दिन मैं अपनी चूड़ियाँ फूटी समझ लूँगी। किशोर ने एक बात कही थी, आयरलैण्ड की एक बाला 'एमेट' पति के वियोग में कुम्हला कर मर गई थी। वह बात मुझे प्रायः ही स्मरण आती है। दिन भर अपने मन में वैसा ही देखती रहती हूँ, बल्कि उससे भी अधिक। वह गरीब बेचारी शान्त थी किन्तु इन पापियों का मुँह काला करने के लिए मैं ऐसी बन जाऊँगी कि वह जन्म भर याद करेंगे। जीवन देना पड़ेगा तो वह भी दे दूँगी किन्तु सतियों के—राजपूत रमणियों के समान एकबारगी श्मशान में भी यमराज एवं यमदूत काँप उठेंगे।'

उसका मीठा स्वर प्रेमावेश से काँप रहा था। जिन आँखों में रसिकता का गुप्त भण्डार सदैव झलकता रहता था वहाँ तलवार की तीक्ष्णता चमक उठी। उसके हाथ की मुट्ठी बँधी हुई थी, दाँत पर दाँत बैठे हुए थे। हरिलाल कुछ देर तक उसे देखते गहे।

'बेटी ! बेटी ! तू कह क्या रही है ?' हरिलाल इतना ही बोल सके।

'पिताजी ! मैं पागल नहीं हूँ, मैं सच कह रही हूँ। आपने मुझे राजकुमारी के समान पाला है, अपने किशोर की रानी बन कर रही हूँ और यदि अभाग्यवश बुरा समय आ ही गया तो यह भी दिखा दूँगी कि मैं रानी होने योग्य हूँ। आप को या आप की शिक्षा को लाँछन नहीं लगाऊँगी।'

'तनमन ! यह रूप यह गुण क्या इसी प्रकार नष्ट हो जायगा ? हे प्रभो ! जब तू छोटी थी, तब तेरी माँ का वियोग भुलाने के लिए मैं तुझे अपनी छाती पर लिए फिरता था ? अपने आफिस में अपने पास ही छोटी कुर्सी पर तुझे बैठाता था। अपनी चोटी खोल कर बाल से तू मेरी आँखें ढक देती थी, याद है ? बेटी, तेरा अहर्निश हँसना कहाँ गया ? विलाप जैसे स्वर में हरिलाल बोले। उनकी आँखों से आँसुओं की झड़ी झरने लग गई।

'तनमन ! एक बार तो हँस दे, आज कितने दिन हुए ? वह राग तेरा कहाँ गया ? वह खूबी कहाँ गयी ?'

'पिताजी क्या हसूँ ? आपको प्रसन्न करने के लिए जो कहिए वह करूँ परन्तु हँसी नही आती ऐसा लगता है कि मैं वह तनमन ही नहीं हूँ, गाया भी नहीं जाता।'

'कुछ तो गा, बहुत दिनों से कुछ सुना नहीं है।'

'क्या गाऊँ ?'

'जो तुझे—अच्छा लगे !'

'पिया तें कहाँ गयो नेहरा लगाय—गाऊँ ?'

'यह तो तेरे किशोर का गान लगता है, क्यों ?'

तनमन ने सिर जरा झुका लिया, कांतिहीन गालों में नये खून का स्फुरण मालूम पड़ा, धीमी आवाज से उसने गाया, गाने के बाद गहरी आह भरी। हसिनी मृत्यु गान गा रही थी।

इस प्रकार कुछ दिन और व्यतीत हुए, धूम-धाम शुरू हुए। लोग आने जाने लगे। कन्या और कन्या के पिता कैदी के समान ऊपर पड़े हुए थे। बढ़िया कपड़ा पहनकर, उल्लास से नाचती हुई गुलाब दो-चार बार ऊपर आती। हरिलाल बड़ी कठिनता से काँपते हुए खड़े हो पाते थे तनमन बराबर उनके ही पास रहती थी। ऐसा मालूम पड़ रहा था मानो बाप-बेटी का बलिदान करने की तैयारी हो रही है।

पाणिग्रहण के एक दिन पूर्व गुलाब पुत्री को उबटन लगाने के लिए आई। 'तनमन इधर आ !'

कठोरता से शान्तिपूर्वक तनमन ने पूछा 'क्यों ?'

'काम है, उबटन लगाना है।'

'उसे लगाओ जिसका विवाह होता हो, न तो मेरा विवाह है और न मैं उबटन लगाऊँगी।'

'हाय हाय ! भला यह कैसा हठ ?' कह कर तनमन का हाथ पकड़ने के लिये वह आगे बढ़ी।

'गुलाब चाची ! खबरदार जो मुझे ऊँगली लगायी तो।'

'अरे ओ—।' बिछौने पर से हरिलाल बोले 'तू मुझे मार डालने के लिए तैयार हुई है, व्यर्थ उसकी जान क्यों ले रही है ?'

'आप पड़े रहिये, आप ही ने तो उसे चौपट कर डाला है। शकुन का उबटन लगाये बिना कहीं चल सकता है ?'

'कमजात ! इसी के लिये मैंने तुझ से शादी की थी ?'

'अरे ! जरा आज तो चुप रहो, लो मैं जा रही हूँ।' और तनमन के मन को बेधती हुई वह धीमे से बोली—'ठहर अभी तेरे मामा को भेजती हूँ।'

तनमन ने गुलाब को तिरस्कार से देखा और गर्व से चुपचाप खड़ी रही। वह दिन यों ही बीत गया। रात में बढ़िया कपड़ा पहनकर स्त्रियाँ आईं, बैठीं और उन्होंने गीत गाये। गुलाब ने तो 'मेरी तनमन' का गीत गाने में अपना गला ही बैठा लिया। ऊपर तनमन क्रोध में हँसी। वह उस वीर योद्धा के समान, जो अपने वचन के लिये हजारों योद्धाओं से घिरे रहने पर भी यमराज के यहाँ विजयी होकर जाने का विचार कर रहा हो, तैयारी करने लगी। रात में कमरे का दरवाजा बन्द करके बाप-बेटी सोए।

२६

श्यामू मामा तड़के ही उठा। आठ बजे पाणिग्रहण का मुहुर्त्त था, और सभी तैयारी करनी थी। वह यह भी समझ रहा था कि असली मुसीबत अब आने वाली है परन्तु सब प्रकार से मुकाबला करने के लिए वह तैयार था। उसने नीचे बरात की अगवानी करने के लिए आदमियों को भेज दिया ; पुरोहितों की जेब गरम कर शीघ्रातिशीघ्र विवाह करा देने का प्रबन्ध किया, अपनी पत्नी को स्त्रियों का सत्कार करने पर नियुक्त किया। जब बरात नजदीक आ गई तब वह तनमन को बुलाने ऊपर गया।

हरिलाल का कमरा बन्द था, सांकल खड़खड़ाने पर भी कोई उत्तर नहीं मिला, तनमन को पुकारा तब भी कोई भी उत्तर नहीं। श्यामदास इस प्रकार पराजय मानने वाला नहीं था। नौकर भेजकर तुरन्त उसने लुहार बुलवाया और दरवाजा उतरवाकर भीतर गया। हरिलाल चारपाई पर बैठे थे। पास ही में निर्मल, कान्तिहीन पर गौरव से सुशोभित तनमन खड़ी थी। उसके रक्त हीन सफेद चेहरे पर विजयी साम्राज्ञी की रुष्ट देवी की भव्य निश्चयता प्रकट हो रही थी। द्वार के टूटने के समय वायरन के 'ग्लैडियेटर' के सामने जिस प्रकार स्वदेश स्पष्ट दिखाई पड़ रहा था उसी प्रकार उसकी आँखों के सामने रत्नगढ़ का राम-मन्दिर, डुम्मस की आम्रवाटिका, किशोर की स्मृत मुख-मुद्रा एक-एक कर नाच रहीं थी। उसने अपने वक्षस्थल पर रखे हुए रुमाल को दबा रक्खा था।

'छोकरी चल !'

'कहाँ ?' हरिलाल ने पूछा।

'कहाँ ? बरात आ गई, इसके हठ से क्या मुहूर्त्त टल याजगा ? हरिलाल तुम व्यर्थ बीच में मत बोलो। यह लड़की इसी प्रकार सीधी रहेगी।'

'मुझे लड़की को सीधी नहीं करना है, तुम-से विवाह निश्चित करने के लिए किसने कहा था ? अपने घर में ही मुझे कैदी बना रखा है, साले चाण्डाल।' हरिलाल क्रोध से आगबबूला होकर बोले।

तनमन बीच में ही बोल उठी ; इतनी उत्तेजना पिता के स्वास्थ्य के लिए उसे ठीक नहीं मालूम हुई, उसकी आवाज शान्त पर कटाक्षमय थी। 'पिताजी ! आप क्यों उत्तेजित हो रहे हैं ? श्यामू मामा ! आप से यह सब करने के लिए किस ने कहा था ? पिता जी की इस अवस्था का लाभ उठाकर उन्हीं के घर में बैठकर आप लोग मौज उड़ा रहे हैं, उनकी इकलौती पुत्री का गला घांटने के लिए तैयार हुए हैं, लज्जा नहीं आती। अधिक उत्पात मचायेंगे तो आपकी

बरात के स्थान पर दूसरी ही बरात निकलेगी।'

'अरे चुप रह बरात वाली!' श्यामू चिल्ला उठा। वह अभी-अभी कोतवाल साहब के यहाँ से सब प्रबन्ध ठीक करके आया था, जिससे निडर था।

'चलती है या नहीं. नहीं तो अभी गला घोंट दूँगा।'

'तू कौन है मेरी पुत्री का गला घोंटने वाला? निकल मेरे घर में से।' कहकर पुनः उत्तेजित होकर हरिलाल उठकर बैठ गये।

'ऐसी लड़की को जीवित रहने देने की अपेक्षा गला घोंट देना हजार गुना अच्छा है। उतर चलती है या नहीं?'

हरिलाल की आँखें निकल आईं। 'हरामखोर! चोर···!' उत्तेजना से, क्रोध से हरिलाल की जीभ ऐंठ गई, लकवे का पुनः आक्रमण हुआ उतकी आँखें पथरा गईं, वे धड़ाम से गिर पड़े; तनमन चीख उठी। श्यामू तनमन के पास जाकर खड़ा हो गया और बोला—'गुलाब बहन! हरिलाल को देखो तो मैं तनमन को ले जाऊँ। वर उतरा या नहीं?'

ऊपर घर का मालिक दम तोड़ रहा था और नीचे शहनाई बज रही थी।

'हाय मेरे पिता जी!' कहकर तनमन चारपाई पर झुकी। हरिलाल के पास जाकर गुलाब ने तनमन को ढकेल दिया। श्यामदास ने उसे पकड़ लिया। तनमन ने जी-तोड़ छुड़ाने का प्रयत्न किया, परन्तु व्यर्थ।

'मामा! मुझे छोड़ दो नहीं तो दाँत काट लूँगी, छोड़ो।' उसकी आँखें निकली हुई थी, उसकी चिल्लाहट कमरे मैं गूँज उठी। श्यामदास जरा घबरा गया और उसे छोड़ते हुए उसने पूछा—'चलती हो या नहीं?'

'चलती हूँ, तुम्हारे मुँह में कालिख पोतने। मेरी माँ को तो मार ही डाला, अब मुझे भी मार डाल। और गुलाब चाची! अब तू निश्चिन्त होकर वैधव्य भोग। नीच चाण्डालो! मैं तो मर ही जाऊँगी परन्तु तुम्हारे रोम-रोम में कीड़े पड़ेंगे।' उसकी बड़ी-बड़ी आँखों में तेज चमक रहा था। उसने अपना शरीर वश में किया। उसके चेहरे पर मृत की शक्तिहीनता व स्थिरता थी। कोमल हँसमुखी, देवांगना के समान तनमन किसी संहारकारिणी दुर्गा की दृढ़ता से, गर्व से बाहर निकली। मरणोन्मुख राज-हँसिनी जिस प्रकार अपने डैनों को फड़फड़ाती है, उसी प्रकार उसने अपना वस्त्र ठीक किया। पीछे-पीछे श्यामदास चला।

तनमन का मन उद्विग्नता से परिपूर्ण था, उसकी आँखों के सामने अँधकार मालूम प्रतीत होने लगा। धीरे-धीरे पैर रखती हुई वह उतरी; मनुष्यों की भीड़ देखी, इधर-उधर आदमा घूमते हुए दिखाई दिये। प्रातःकाल का समय था; फिर भी रात्रि जैसा अँधेरा देखकर उसे आश्चर्य हुआ। सारा ब्रह्माण्ड उसे डगमगाता हुआ मालूम पड़ रहा था कोई मण्डप में चिल्ला रहा था। एकाएक बाजा

बजने लगा—हो-हा शुरु हुआ। तनमन का दम घुटने-सा लगा; छाती पर रखे हुए रूमाल को बाँयें हाथ से उसने दबाया, दाहिना हाथ कोई पकड़े था। वह कौन था उसे दिखाई नहीं दे रहा था। 'मेरे किशोर!' थोड़ी हँसी आई; चारों ओर अँधकार ही अँधकार—हो गया—सब हो गया—सब अँधेरा हो गया।' कहकर तनमन गिर पड़ी।

लग्न-मण्डप में धमा-चौकड़ी मंच गई। कन्या मूर्छित हो गई थी; उधर कन्या का बाप दम तोड़ रहा था।

३०

मूर्छित तनमन को विवाह-मण्डप में ही छोड़कर पाठक चलें और रघुभाई की खबर लें। अन्तिम बार जब हमने उसे देखा था उस समय से छै वर्ष व्यतीत हो गये हैं। धीरे-धीरे अनपेक्षित रीति से, कार्य-कर्त्ता गण, सिपाही, रेजिडेंसी सभी उसके निपुण हाथ में आते गये। कभी-कभी अपना हाथ दिखाने की उसकी इच्छा होती परन्तु साहस जवाब दे जाता। शायद निर्धारित लक्ष्य पर जल्दी में वार खाली न चला जाय। उस पर अनंतानंद बीच में ही कूद पड़ते थे।

यह चमत्कारी पुरुष अपनी विशाल बुद्धि एवं अद्‌भुत व्यक्तित्व से राज्य में भ्रमण किया करता था और बहुत से मनुष्यों को उसने अपने पक्ष में कर लिया था। वारत मठ का कम किया हुआ वर्षाशन की पूर्ति की याचना करते वह पुनः नहीं आए। उसके तीसरे वर्ष रेवाशंकर ने मठ का बाकी वार्षिक भी बंद कर दिया; रघुभाई ने पुनः स्वामी को देखने की आशा की थी किन्तु वे किसी कार्य में व्यस्त थे। उनने गुरु करुणानन्द मर गये एवं मठाधिपति अनंतानंद हुए, यह भी सुना गया। सभी बातें रघुभाई की समझ में आती किन्तु इस स्वामी की चाल अगम्य जान पड़ती। उसकी इस अगम्यता से उसे पसीना छूटता जिससे वह कोई कदम आगे रखने में आगा-पीछा करता।

रेवाशंकर को वर्षाशन बंद कर देने से ही संतोष नहीं हुआ। उन्होंने सुना कि वारत मठ की जमीन में, जो अब तक परती पड़ी हुई थी, अब अत्यधिक पैदावार होती है। उसका लोभ उन जमीनों को हड़पने के लिए उद्वेलित होने लगा। दो वर्ष पश्चात् उसने ऐसा आज्ञापत्र भी भेज दिया, बहुत दिनों तक लिखा-पढ़ी चलती रही। कितने ही खातों पर राज्य का अधिकार दिखाया गया, धीरे-धीरे वारत की जमींन जायदाद के जप्त हो जाने का लोगों को भय होने लगा। रेवाशंकर दृढ़ स्वभाव के व्यक्ति थे, वारत पर उनकी निगाह गड़ी

हुई थी।

जसुभा तो ज्यों के त्यों बने हुए थे। चम्पा अभी भी रणुभा के साथ रहती थी और राजा को फुसलाती थी। अब उसमें गम्भीरता और गौरव बढ़ गया था। देवल बा ने ईर्ष्या करना भी छोड़ दिया था।

अब जसुभा में भी कुछ-कुछ चेतना आने लगी। राज्य में घूमने के लिए इच्छा प्रकट की। रेवाशंकर का चश्मा विस्मय से जमीन पर गिर पड़ा। उसने समझ लिया कि यह लगाम किसी दूसरे द्वारा खींची गई है, किन्तु बीस वर्ष पुराना दीवान ऐसी बातों का तृणवत् समझता था। उन्होंने 'यात्रा' की तैयारी कर दी और जसुभा निकल पड़े।

३१

ऐसे समय रघुभाई केवलपुर की धर्मशाला में जा बैठा। इस बीच में रघुभाई में अधिक परिवर्तन नहीं हुआ था। चेहरे पर अधिक वय का गाम्भीर्य अवश्य कुछ बढ़ गया था। धर्मशाला में कामचलाऊ दफ्तर बन गया था, क्योंकि जसुभा के पर्यटन के प्रबन्ध का भार नायब दीवान पर था। धर्मशाला, से थोड़ी ही दूर पर जसुभा का पड़ाव पड़ा हुआ था।

रघुभाई तुम्हारे लिए बड़ा ही कठिन समय आ रहा है।' सामने बैठे हुए मनुष्य ने कहा।

यह अधेड़ चश्माधारी व्यक्ति, जमाना देखे हुए एक पारसी था। वह रत्नगढ़ रेसीडेंट का रिश्तेदार था एवं साहब के नवागन्तुक होने से सब कारोबार इसी पेस्तनजी सेठ के ही हाथ में था। उनकी भाषा भी पूर्ण लच्छेदार पारसीशाही थी जिसका शुद्ध रूप यहाँ वर्णित हैं।

'कठिनता की तो बात ही मत कीजिए यह आखिरी दाँव है। दस वर्ष का फल मिलने वाला है। सब कुछ आप ही पर निर्भर है।'

'कुछ चिन्ता नहीं दोस्त!' पेस्तनजी ने कहा—'जो कुछ मुझसे हो सकेगा मैं करूँगा, किन्तु इस बाबा से तुम इतना क्यों घबराते हो?'

पेस्तनजी एवं नायब दीवान में बाप-बेटे का संबन्ध था। रघुभाई या पेस्तनजी दो में से किसी से काम निकालना हो, तो किसी एक के पास नजराना भेज देने से तुरन्त काम हो जाता था, ऐसी लोकोक्ति थी।

'सेठ इस बाबा के तो नाम से मुझे डर लगता है, जो वह कहता है उसे तुरन्त करना पड़ता है, नहीं तो क्या महाराज 'टर● पर भला निकलने वाले थे।

●यात्रा

यह तो रणुभा और चम्पा के कहने से ऐसा हुआ है और मुझे तो विश्वास है कि इन्हें उभारने वाला यह बावा ही है।'

'चम्पा और महाराज में पहले जैसा व्यवहार तो अब नहीं मालूम देता।'

'नहीं जी ! यह दूसरी ही स्त्री है। राजा की एवं अनन्तानन्द की सहचरी तथा रणुभा की स्त्री ! इसकी विशेषता ही न्यारी है। आई तब छटी हुई नायिका थी और अब साधुनी का ढोंग करती है और राज्यतन्त्र हथियाने की इच्छा रखती है।'

'ले चुकी राज्यतन्त्र ! यह तो उसका चेहरा ही बता रहा है।'

'यह मत कहिये। धीरे-धीरे महाराजा की सभी आज्ञाओं में दखल देती है। रेवाशंकर तो आजकल हवा हो गए हैं।'

'किन्तु यह बावा किस लिए महाराज को 'टूर' पर ले आया है। यह घोटाला कुछ समझ में नहीं आ रहा है।'

'देखो ऐसा है, हथेली पर हथेली दबाते हुए रघुभाई बोला—'बावा की इच्छा महाराज को वारत ले जाने की है। सुना गया कि बावा की सत्ता वहाँ पूर्णरूप से बैठी हुई है; इससे कहा नहीं जा सकता वहाँ क्या होगा। आज पाँच वर्ष का समय बीत गया; न तो यह बावा कुछ करता है और न करने देता है। इसका दाँव तो समझ ही में नहीं आ रहा है।'

'लेकिन जब तक रेवाशंकर को हटाया नहीं जाता तबतक क्या हो सकता है ?'

'हाँ, ऐसा संयोग उत्पन्न करना भी दो ही के हाथ में है। एक बावा और दूसरा—'

'दूसरा किसका ?' पेस्तन जी ने मुँह फैलाकर पूछा।

'आपके सेवक का। किन्तु इस समय मुझ से कुछ हो नहीं सकेगा सेठजी ! आपके प्रताप से रेजीडेंसी तो हाथ में है। परन्तु पूर्णरूप से सब कुछ तैयार है या नहीं, इसकी बाट जोह रहा हूँ।'

'इस समय मुझे किसलिए बुलाया है ?'

'केवल इसीलिए कि आवश्यकता के समय यहाँ आप तैयार रहें। जनुभा की रक्षा करने की आवश्यकता पड़े अथवा मुझे कोई जरूरत आ पड़े—'

'लेकिन आवश्यकता कब पड़ेगी ?'

'अधीर मत बनो। मुझे महाराजा को वारत जाने देने की इच्छा नहीं है। वहाँ जाने से बावा के अधीन हो जाना पड़ेगा। महाराज वापस लौटें तो मैं अपना प्रभाव दिखाऊँ।

'लेकिन वह प्रभाव है क्या, यह रघुभाई तुम बताते ही नहीं हो।'

'सेठजी ! इसके लिए क्षमा करो। यह प्रभाव तो प्रकाशित होने पर ही मालूम होगा। अभी तो उसे मन के भीतर ही छिपा रखने की आवश्यकता है।

रेजीडेंसी एवं सेक्रेटेरियट इन दो स्थानों में गुप्त संदेश भेजा है किन्तु बाजी पूरी हुए बिना कुछ कहा नहीं जा सकता।'

ठीक है मुझे कुछ···'

इतने में किसी ने बाहर से दरवाजा ठोंका। उठकर रघुभाई ने जरा दरवाजा खोला।

'कौन है ? मैंने क्या था ?'

'किन्तु अन्नदाता ! यह तो स्वामी जी हैं।' प्रहरी ने उत्तर दिया।

'कौन अनन्तनन्द ? घबाए हुए स्वर में रघुभाई ने पूछा।

'जी हाँ !'

उसने बायें हाथ से दरवाजा पकड़ा और दाहिने हाथ से पेस्तीनजी को कोठरी में चले जाने का संकेत किया। भीतर जाकर पैस्तीनजी ने दरवाजा बंद कर दिया, तब रघुभाई ने दरवाजा पूरा खोलकर कहा—'रणछोड़ ले आ।'

'बहुत अच्छा।'

अनन्तानन्दजी आये, छः वर्ष बाद भी उनमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। आँख की एक तीक्ष्ण दृष्टि चारों ओर उन्होंने दौड़ाई। रघुभाई ने जरा भय से भीतर की कोठरी की ओर देखा।

'कहिये महाराज, क्या आज्ञा है ?'

'आज्ञा क्या ? जसुभा बारत कब आ रहे हैं ?'

'वे तो महाराज, बराबर अस्वीकार ही करते जा रहे हैं।'

'तब तुम स्वीकार कराओ।'

'मैं कैसे कराऊँ ?'

'तब दीवान कैसे बनोगे ? मैंने तुम से कहा था न। उन्हें बारत ले जाये बिना छुटकारा नहीं है। रेवाशंकर की अत्याचारपूर्ण तथा भिखमंगी राजनीति से राज्य मिट्टी में मिल रहा है, इसका उन्हें तभी ज्ञान होगा। पहले तो पैसे पर ही उनकी दृष्टि थी अब तो बारत मठ का नामोनिशान मिटा देने की चिन्ता में हैं। इसलिए हमारा विग्रह तो भयंकर है।'

रेवाशंकर ने अनन्तानन्द के बढ़ते हुए प्रभाव का स्वाद चखा था, और बारत मठ को मिटाने के लिए प्रयत्नशील थे। इसी से बाध्य होकर स्वामी ने राजा को पर्यटन पर निकलने का प्रबन्ध किया था। बात यहां तक बढ़ गई थी कि अब दो में से एक—रेवाशंकर या अनन्तानन्द ही रह सकते थे। रेवाशंकर को हटाने में स्वामी सफल नहीं हो सके थे क्योंकि रेसीडेंठ, बम्बई का सेक्रेटेरियट और जसुभा तीनों उस पर मुग्ध थे।

'महाराज, आपके लिए जो कहें मैं करने के लिए तैयार हूँ किन्तु—'

'रघुभाई ! किन्तु-विन्तु की बात तो मेरे सामने करना व्यर्थ है। कल प्रातः-

काल जसुधा को वारत में आना ही चाहिए। उनका स्वागत करने के लिए सब सामग्री तैयार है। अब उन्हें वहाँ ले आने भर की देर है।'

'वे स्वीकार न करें तब। इस सम्बन्ध में उन्होंने बड़ा हठ पकड़ लिया है।'

'रघुभाई ! यह बात मैं नहीं जानता. जसुभा को वरात में आना ही पड़ेगा और इसे तुम्हें भी स्वीकार करना ही होगा।' जब स्वामी ने ऐसे वाक्य कठोर स्वर में कहे तब रघुभाई को पैर की मिट्टी सरकती हुई जान पड़ी। उसके शब्द भाग्य रेखा के समान निश्चय दिखाई पड़े।

'अच्छी बात है, जो कुछ मुझसे हो सकेगा करूँगा।'

'अवश्य, इतना तो करना ही पड़ेगा, मुझे पता है कि अब यात्रा के आगे के कार्यक्रम पर विचार करने के लिए तुम्हें साढ़े पाँच बजे महाराज ने बुलाया है। वहाँ निश्चय करना और बाहर निकलते ही छोटू जमादार से कह देना, मुझे सूचना मिल जायगी। तत्पश्चात् क्या करना है यह मैं देख लूँगा।' कहकर उस कोठरी की ओर एक दृष्टि डाल कर अनन्तानन्द चले गये।

रघुभाई फिर गद्दी पर लेट गया। धीरे से सिर निकालकर पेस्तनजी सेठ बाहर आये।

यही तुम्हारा बाबा था ? मैंने तो उसे अच्छी तरह देखा ही नहीं।'

रघुभाई ने सिर से पसीना पोंछा और कुछ स्वस्थ होने पर पेस्तनजी से बोला : 'अब कुछ करना चाहिये, बहुत दिनों तक बैठा रहा। अच्छा पेस्तनजी सेठ ! अपने आदमियों के साथ आप तालोद में रहियेगा। वारत वहाँ से पास ही है, जरूरत होने पर आदमी भेजूँगा अथवा मैं स्वयं ही आऊँगा।'

पेस्तनजी उठे, उसने ओवरकोट पहना। रघुभाई ने उठकर उनके हाथ में नोट का एक बण्डल पकड़ा दिया जिसे बिना देखे पेस्तनजी सेठ ने जेब में डाल लिया और मुँह छिपाकर पीछे के दरवाजे से वह चले गये।

रघुभाई गद्दी पर लेट गया, इस समय उसकी स्थिति नाजुक थी। रेवाशंकर उसे शत्रु समझते थे और इसकी प्रतिक्रिया उसे लाचार होकर सहन करनी पड़ती थी। अनन्तानन्द की अद्भुत शक्ति ने चारों ओर जाल सा बिछा रखा था जिसमें वह स्वयं फस गया था। अनन्तानन्द का हेतु भी अभी तक उसे मालूम नहीं हुआ था। जैसे बाबा नचाता, उसे नाचना पड़ता था किन्तु उसे हाथ में रखे बिना छुटआरा भी नहीं था। रणुभा उनका चम्पा उनकी, इन सब से बच कर अपनी महत्ता सिद्ध करने का मार्ग उसने ढूंढ निकाला था। उसके पास जो भेद था उनका लाभप्रद उपयोग उसी समय हो सकता था जब कि यही राज्यतन्त्र बना रहे एवं वह दीवान पद पर आसीन हो जाय। राजा बनने की अपेक्षा राजा को काबू में रखकर राज्य करने वाले का पद नीचा भले ही हो किन्तु पैसा, शान्ति तथा निर्भयता उससे अधिक मिल सकती है। बहुत विचार

के पश्चात रघुभाई इसी निष्कर्ष पर पहुँचा। इस भेद के प्रताप से जसुभा पर यदि विजय प्राप्त की जा सकी तो बिना परिश्रम रेवाशंकर निकाल बाहर किये जा सकेंगे, अनन्तानन्द का प्रताप जाता रहेगा और वह स्वयं रेसीडेन्सी तथा राज्य दोनों का मालिक बन जायेगा।

जसुभा को सर करने का अवसर ढूँढ रहा था परन्तु अनन्तानन्द की अगम्यता के कारण उसे सूझ नहीं रहा था कि ऐसा अवसर कब आयेगा। रघुभाई अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा में बैठा था, परिस्थियों से उसे आभास मिल रहा था कि वह अवसर अब दूर नहीं है।

३२

जसुभा खेमे में बैठे हुए थे। बगल में मेज पर बिजली का पंखा चल रहा था। वह स्वयं चाय पी रहे थे। रणुभा पत्र लिख रहे थे, इतने में रघुभाई आया और सलाम करके नम्रतापूर्वक खड़ा हो गया।

'रघुभाई!' ऊपर देखे बिना जसुभा बोले : 'यदि इस जिले का निरीक्षण हो गया हो तो यहाँ से कूच किया जाय।'

'रणुभाई! तुम अब व्यर्थ वारत चलने का हठ कर रहे हो? अरे रघुभाई!' जरा तन कर बैठते हुए महाराज ने पुछा : 'तुमने वारत का कारोबार देखा सुना?'

'जी हाँ, देख लिया ; सब ठीक है।'

'हूँ, यह तो सब ठीक है।' थोड़े विस्मय के साथ जसुभा बोले : 'यह मैं नहीं पूछता।' जसुभा अधिक समय तक बात कर ही नहीं सकते थे, बातचीत इच्छा के अनुसार होनी चाहिये। उन्होंने चाय का घूँट लिया, तब तक रघुभाई पूरी बात सुनने की प्रतीक्षा में खड़ा रहा।

'क्या तुमने यह पुस्तिका देखी? यह वारत में छपी है। जसुभा ने एक पुस्तक उठाकर देखते हुए कहा, 'कैसी अच्छी छपाई है? ऐसी छपाई अपने यहाँ तो नहीं होती?'

'अन्नदाता! यह तो मैंने भी सुना है कि यहां का बहुत सी वस्तुएँ अच्छी होती हैं।'

'शिक्षा कौन देता है?'

'कौन जाने महाराज!' सत्य को छिपाते हुए रघुभाई बोला। आधे खुले

नेत्रों से जसुभा ने रघुभाई की ओर देखा। जसुभा ने स्वाभाविक दक्षता से जान लिया था कि कोई नया दाँव-पेंच उसके आसपास चल रहा है। वारत की ख्याति, वहाँ की कला, वहाँ पर स्वामी का प्रभाव ज्यों-ज्यों वह पास पहुँचता गया त्यों-त्यों उसके ध्यान पर अधिकाधिक प्रकाश डालता गया। वह आसानी से देख सकता था कि चारों ओर वारत का आश्चर्यजनक प्रभाव फैला हुआ है, दो हजार की वस्ती वाला गाँव आठ-नौ वर्ष में नौ-दस हजार की वस्ती वाला हो गया है। आलस्य से चिढ़कर, चम्पा और रणुभा उन्हें कायर समझने लगे, इस हेतु से जसुभा पर्यटन पर निकले थे। रघुभाई न मालूम क्यों इस योजना का समर्थक न था, इस समय वारत जाने के विरुद्ध था एवं उसकी मिठास के नीचे बेहद महत्वाकाँक्षा छिपी थी। यह सब बातें राजा से छिपी नहीं थी। यह सब दाँव-पेंच उसके लिए आनन्दप्रद थे। रणु और चम्पा क्यों रघुभाई को पराजित करने में प्रयत्नशील रहते हैं, रेवाशकर और रघुभाई के बीच कैसी तनातनी चलती है, यह सभी बातें उनके विनोद का कारण होती थीं। एक प्रेक्षक के समान विरक्ति से सबको निराश करने में ही उन्हें संतोष मिलता था। इस समय रघुभाई पासा खेल रहा है, यह वह जानते थे। किन्तु मामला क्या है, इसे समझने का प्रयत्न उनसे न होता।

'यह स्वामी कौन है ?'

'कौन, महाराज ! वारत वाला ? एक चालाक स्वामी है। वहाँ कुछ उलटा-सीधा कर रहा है, किन्तु है अपने विचार का बड़ा पक्का। किसी भी राज्य कर्मचारी को क्षण के लिए शान्ति से बैठने नहीं देता।'

'क्यों ?'

'कौन जाने, अन्नदाता ?'

'किन्तु मुझसे कोई कह रहा था कि वारत देखने लायक है। यहाँ से वह कितनी दूर है ?'

'यही लगभग सात मील होगा, परन्तु वहाँ कुछ विशेष देखने लायक नहीं है।' थककर रघुभाई ने अपना पासा फेंका।

'मैं समझता हूँ।' चाय पीकर सिगार जलाते जसुभा ने पूछा—'तुमने देखा है ?'

'नहीं महाराज, लोग कहते हैं।'

'तब रणु।' रणु की ओर देखकर जसुभा बोले, 'व्यर्थ हठ क्यों करते हो ? वारत में क्या हीरा-मोती जड़े हैं !'

रणुभा ने कुर्सी पर घूमकर कहा—'यदि आप न जाना चाहते हों तो एक दिन के लिए मुझे आजा दीजिये, चम्पा के साथ मैं जाकर हो आऊँगा।'

'जी हाँ महाराज ! आपको जाने में कष्ट भी बहुत होगा, रास्ता अच्छा

नही है।' रघुभाई ने अपनी ओर से जोड़ दिया।

रणुभा—'मैंने सुना है कि वहाँ जाने के लिए रास्ता बहुत ही अच्छा है।'

'नहीं रणुभा साहब ! वारत वालों ने सड़क बनवाने के लिए आज्ञा माँगी किन्तु रेवाभाई ने सड़क बनाने कहाँ दी !'

'ठीक, तब तुम्हारा अभिप्राय नहीं है ; क्यों रघुभाई ? यहाँ से वापस लौट चलना चाहिये क्यों !' चम्पा और रणुभा को थोड़ा चिढ़ाने के हेतु से जसुभा बोले।

'महाराज की जैसी आज्ञा।'

'अब जाओ, जो करना हो करो, इच्छा घूमकर देख लिया, बहुत हुआ। वारत में ऐसी कौन सी महत्वपूर्ण वस्तु रखी है ! अब वापस चलो।' कहकर पैर फैलाकर जसुभा ने अपना निश्चय प्रकट किया।

वारत देखने की आकांक्षा की अपेक्षा यात्रा से होने वाले कष्ट का उन्हें अधिक डर था।

यह निश्चय सुनकर रघुभाई चूकने वाला नहीं था। हजूर को सलाम कर वह बाहर छोटू नायक की तलाश में गया। पाँच मिनट में स्वामी को राजा का निश्चय मालूम हो गया।

जसुभा मुँह में बड़बड़ाये, 'चोर ! मुझे वारत दिखाना नहीं चाहता, इसलिए इतना बहाना बना रहा है !' फिर ऊँचे स्वर से बोले 'रणुभा ! अब तुम सब लोगों को राज्य से पेंशन लेनी पड़ेगी।'

'क्यों ?'

'यह तुम्हें एक घडी भी टिकने नहीं देगा।'

'यह कौन ?'

'रघुभाई, इसे दीवान तो होने दो।' जरा हँसकर जसुभा बोले।

रणुभा आँखें मींचकर कटाक्षपूर्वक बोले—'मियाँ मर जायेंगे तो क्या मस्जिद में दिया नहीं जलेगा ?'

बात बदलते हुए जसुभा बोले—'मुझे तुम्हारे स्वामी से मिलने की बड़ी इच्छा है।'

'इसी से तो कहता हूँ कि वारत चलिये। आपको याद है ? पाँच-छः वर्ष पूर्व जब प्रथम बार वर्षाशन बन्द किया गया था तब वे आपसे मिलने आये थे।'

'याद है, कुछ थोड़ा-थोड़ा ; किन्तु लोगों पर इतना प्रभाव है यह तो मैंने आज ही देखा।'

'यह तो मैं आपसे कहते-कहते थक गया कि इनके जैसा···'

'हुश' कहकर जसुभा ने उँगली से इशारा किया, 'राज्य प्रपंच की बात

जाने दो। अच्छा हुआ, लो यह चम्पा आगई। तुमसे तो यह भगतिन चम्पा अच्छी, क्यों ठीक है या नहीं ?'

'क्या ?' पूछती हुई चम्पा आई। इस बीच में चम्पा में विरक्ति, सौंदर्य आसक्ति हो गई थी। अब वह अधिक गम्भीर तथा शान्त हो गई थी। उस ने वेश्या का रहन-सहन सब छोड़ दिया था, इस समय वह एक पतिपरायण गृहणि के समान लगती थी। राज्य में उसका स्थान जैसा कि ऊपर रघुभाई ने कहा है ठीक वैसा ही, विचित्र था। रणुभा की तो वह मानो पत्नी के समान ही थी। जसुभा के साथ वेश्या की तरह का उसका व्यवहार दिनों-दिन कम हो रहा था, परन्तु मनोरंजन करने की जो अद्भुत कला उसमें थी, उसके द्वारा जसुभा से जो चाहे करा भी सकती थी। विशेष परिश्रमपूर्वक वह शिक्षा और अच्छे सस्कार प्राप्त करने का प्रयत्न करती और राज्य में रेवाशंकर के बाद वही गणमान्य समझी जाती थी। जसुभा, रणुभा दीवान, नायब दीवान सभी को वह थोड़ा बहुत अपने वश में रखती थी।

'वही जो तू साधू बन गई।'

'उसमें आपको क्या एतराज है ? आपके लिए नरक तो हमेशा तैयार है। वहाँ की जन-संख्या अभी ज्यादा नहीं हो पायी है !'

'चम्पा ! बारत जाने का हमने अपना विचार बदल दिया है।'

'बहुत अच्छा किया, अब मैं अकेले वहाँ जा सकूँगी।

'अरे रणु ! इस चम्पा और स्वामी के बीच अच्छा भाई-बहन का सम्बन्ध है। क्या तुम्हारा स्वामी वैष्णव सम्प्रदाय का है ?'

'आप इस सम्प्रदाय में नहीं हैं, इसी का मुझे संतोष है। परन्तु आपने विचार क्यों बदल दिया ?'

'नायब दीवान की ऐसी ही राय है।'

'ऐसा ? क्या कोई खास बात हुई !'

'यह तो तुम जानो ! अरे चम्पा अपने स्वामी का तो हाल-चाल बतला।'

अभी आप इस योग्य कहाँ हुए हैं ? जब हो जायेंगे तो सब बताऊँगी।'

इस प्रकार बात-चीत में दो घंटे व्यतीत हो गये। भोजनोपरांत तीनों व्यक्ति खेमे के बाहर आ गये। चम्पा ने सितार उठाया और संध्या समय की ठंडी लहरों पर उसका मधुर स्वर गूंजने लगा। जसुभा आराम कुर्सी पर पड़े हुए संगीत का आनन्द लेते हुए झूम रहे थे। थोड़ी दूर पर अंग-रक्षक मूर्तिवत् खड़े थे। तंबू के दरवाजे के सामने 'सन्तरी' यांत्रिक खिलौने के समान पैंतरा भर रहा था। थोड़ी देर में वहाँ कुछ बात-चीत सुनाई दी। राजा के एकान्त सेवन में कोई विघ्न न पड़े इसका प्रबन्ध करने के लिए दो 'संतरी' तथा एक अंग-रक्षक वहाँ दौड़ पड़े, परन्तु शान्ति-स्थापना करने में समर्थ नहीं हुए। चम्पा का

गायन समाप्त होते ही कोलाहल की भनक जसुभा के कान में पड़ी।

'नायक !' अपनी मंद आवाज से उन्होंने पुकारा।

अंग-रक्षकों का नायक उपस्थित हुआ।

'पाँच मिनट भी शांति पूर्वक हम बैठ नहीं सकते, क्यों ?'

'अभी देखे आता हूँ सरकार !' कहकर वह गया और शीघ्र ही लौट आया।

'अन्नदाता ! कुछ मनुष्य आप से भेंट करना चाहते हैं।'

'इस समय ?'

'वह कह रहे हैं कि जब तक सरकार स्वयं अस्वीकार न करेंगे तब तक वे नहीं जायेंगे।'

रणुभा ने पूछा—'आखिर वह हैं कौन ?'

'कहते हैं कि वे बारत के पंच हैं और सरकार को बुलाने के लिए आए हैं।'

जसुभा को आनन्द हुआ। जब से बारत जाने के विचार त्याग दिया था तब से आपस की लड़ाई का खेल बंद हो गया था। जब तक रणुभा और चम्पा कुछ चिढ़ते नहीं थे तब तक जसुभा का आनन्द ही न आता था। इस आलस्य-मय जीवन में दूसरों के लड़ने-झगड़ने रूठने से उसके मन को सुख व शाँति का अनुभव होता है।

'कल आने के लिए कहो !' जसुभा बोले।

'महाराज ! वह कहते हैं कल ही तो वह काम है जिसके लिए वह आपसे मिलना चाहते हैं।'

'तब रघुभाई से मिलने के लिए कह दो।'

अन्नदाता ! यह भी कहा; किन्तु वह नहीं सुनते।'

'तब मिल क्यों नहीं लेते ?' चम्पा बोली।

'ऐसा ही करूँगा।' जसुभा बोले।

जसुभा के लहरी स्वभाव ने सभी कृत्रिम रीति-रीवाजों को कुछ अंशों तक कुचल डाला था वह एक साधारण व्यक्ति के समान ही घूमते-फिरते और सब से मिलते-जुलते थे।

'तब सोच क्या रहे हैं ? उनकी बात सुन लीजिये, अनावश्यक समझ पड़े तो सुबह बुलाइये।'

'अच्छी बात है, ले आओ !' कहकर जसुभा थककर फिर कुर्सी पर लेट गये।

तत्पश्चात् पाँच व्यक्ति भीतर आये. इनमें एक संन्यासी और एक सेठ मालूम पड़ते थे प्रत्येक व्यक्ति के चेहरे पर दूसरे गाँव वालों की अपेक्षा अधिक संस्कृति दिखाई देती थी। पंचों ने झुककर प्रणाम किया और हाथ जोड़कर

खड़े हो गये।

'आप कौन हैं ?' जसुभा ने पूछा।

'महाराज ! हम बारत के पंच हैं। सरकार को निमंत्रित करने के लिए आये हैं।'

'आप हैं कौन ?' जसुभा ने लापरवाही से उकता कर पूछा।

'नगर-सेठ हूँ सरकार !' उस छोटे-से गाँव के नगर-सेठ ने गौरव से कहा।

'कहाँ के लिए निमंत्रण देने आये हैं ?'

'अन्नदाता ! बारत में पाठशाला के नये भवन का उद्घाटन समारोह है, हम लोग आप के पवित्र कर-कमलों से यह कार्य संपादन करना चाहते हैं। महाराज ! हमने सुना है कि आपने अपना वहाँ पधारने का विचार त्याग दिया है। हम आपसे प्रार्थना करने के लिए आए हैं कि हमने बड़ी कठिनता तथा परिश्रम से यह भवन तैयार कराया है, आपके न पधारने से हम लोगों का सारा उत्साह ठंडा पड़ जायगा।' किसी महाजन को समझा रहा हो इस प्रकार नगर-सेठ बोले।

'पाठशाला कैसी है ?'

'महाराजा हमारे यहाँ एक ही पाठशाला है जिसमें ककहरा से लेकर प्रोफेसर होने तक की शिक्षा दी जाती है।'

यह प्रशंसा सुतकर जसुभा हँसे, उसमें कितने लड़के हैं ?'

'महाराज ! यह हमारी पाठशाला के अध्यक्ष हैं, यह जानते होंगे।'

संन्यासी एक कदम आगे आकर बोला—'सरकार लड़कियाँ और लड़के दोनों मिलकर बत्तीस सौ होंगे।'

'क्या ! जीवन में प्रथम बार आश्चर्य से सीधे बैठते हुए जसुभा बोल उठे।

'संन्यासी ने शुद्ध अंग्रेजी में शान्ति से उत्तर दिया—'विस्मित होने की कोई बात नहीं है महाराजा ? कुछ बालक बीमार हैं, बाकी सभी पाठशाला में पढ़ रहे हैं।'

'इन सबका प्रबन्ध कैसे होता है' रघुभाई ने पूछा। वह इस निमन्त्रण की बात सुनकर अनन्तानन्द को गाली देते हुए वहाँ आ ही पहुँचा था।

'ग्राम-वासियों से।' नगर-सेठ से शान्त उत्तर मिला।

'किस कक्षा तक की शिक्षा देते हो ?' जसुभा ने पूछा।

उन्हें बारत का, उसे बड़ा बनाने वाले व्यक्ति की महानता का बोध हुआ उनके सामने छः वर्ष पूर्व देखी हुई स्वामी की मूर्ति नाचने लगी।

'महाराज हमारे यहाँ पदवी या डिग्री नहीं है। बालक बीस वर्ष की अवस्था तक विद्याभ्यास करता है, इसके पश्चात् जो जिसकी इच्छा होती है, पढ़ता है।'

'आप कहाँ तक पढ़े हैं ?'

'मैंने काशी-विश्व विद्यालय में इण्टर तक पढ़ा था, इसके पश्चात् आठ वर्ष वारत में पढ़ा।'

'वारत में किसने पढ़ाया ?'

'महात्मा अनन्तानन्द जी ने।'

जसुभा शुद्ध भावनाओं के प्रवाह में रघुभाई की ओर घूमे। उसकी आवाज में कठोरता थी। 'नायब दीवान ! हम समझते हैं कि हमारा राज्य बड़ी अच्छी तरह से चल रहा है क्यों ?'

रघुभाई उत्तर नहीं दे सका। उसने अनन्तानन्द को केवल झगड़ालू समझ रखा था, इससे अधिक कुछ भी नहीं। साथ ही दीवान और कर्मचारीगण वारत की ओर पहले से ही बहुत कम ध्यान देते थे। एक तो वह राज्य की बिलकुल सीमा पर था, दूसरे बीच में बहुत बड़ा जंगल पड़ता था और बहुत सी जमीन मठ की होने से वसूली बहुत कम थी। वहाँ क्या सुधार हो रहा है यह सभी सुनते थे, किन्तु विश्वास किसी को नहीं होता था।

जसुभा नगर-सेठ की ओर घूमकर बोले 'आप लोगों ने नया भवन निर्माण कराया है···किन्तु हम शायद ही आ सकें। वापस लौटने की आज्ञा निकल चुकी है।'

'महाराज आपकी निर्धन प्रजा याचना करे, उसे आप अस्वीकार कर दें, यह बात तो हम आपके मुख से सुनकर भी मान नहीं सकते। संपूर्ण वारत आपका स्वागत करने के लिए आतुर है। हमारे महात्मा जी भी अत्यन्त प्रसन्न होंगे।' पंचों की ओर से अनुरोध हुआ।

'महात्मा जी कौन ; अनन्तानन्द ?' जसुभा चौंक पड़े।

'अच्छा, रघुभाई ! हमें अपना कार्य बदलना होगा। इतनी दूर आये हैं तो वारत भी हो आना चाहिए। हमारा 'कैंप' यहीं पड़ा रहेगा।' उन्होंने पंचों को सम्बोधित किया 'अच्छी बात है। कल प्रातः छः बजे मैं आऊँगा।' कह कर जसुभा उठ गये।'

रघुभाई दाँत पीसने लगा।

'वहाँ सब तैयार है महाराज !' कहकर नगर-सेठ भी दूसरे सज्जनों के साथ विदा हुए।

थोड़ी देर में महाराज के जाने की तैयारी हो गई। प्रसन्न होकर चम्पा और रणुभा ने एक दूसरे का हाथ दबाया।

३३

वारत देखने की आतुरता में आज जसुभा बहुत जल्दी उठे और चार बजे ही घोड़े पर सवार हो गये। रघुभाई ने रास्ते को खराब बतलाया था परन्तु रास्ता अच्छा था। चम्पा गाड़ी में आ रही थी। साथ में थोड़ा बहुत रिसाला भी था। ग्रीष्म के उषाकाल का प्रकाश फैलते-फैलते सभी वारत की सरहद पर जा पहुँचे। वहाँ पंच, वारत का पटवारी और पच्चीस सवार स्वागत करने के लिए तैयार थे। जसुभा ने इतनी अधिक आशा बाँध रखी थी कि यदि वहाँ दूसरा 'लण्डन' दिखाई पड़ता तब भी उन्हें आश्चर्य नहीं होता। घोड़े पर से ही उन्होंने पंचों के अभिवादन की, सवारों की सलामी का उत्तर दिया और दोनों तरफ लगाये हुए वृक्षों से सुशोभित मार्ग से एक छोटे परन्तु सुन्दर बंगले पर पहुँचे।

जसुभा भीतर जाकर एक आराम कुर्सी पर लेट गये। उनकी प्रत्येक आवश्यकता की वस्तुओं का वहाँ पर प्रबन्ध था। ऐसी शान्ति रत्नगढ़ में स्वप्न में भी नहीं दिखाई देती थी। रेवाशंकर और रघुभाई के कथनानुसार यह एक मामूली गाँव था या बड़े शहरों में रहने वाले कुछ धनी व्यक्तियों के रहने का स्थान था!

देर से उठने की आदत के कारण जसुभा की आँखें लग गईं परन्तु एकाएक मधुर गाने की आवाज ने उन्हें जगा दिया। थोड़ी दूर से मीठा स्वर आ रहा था—कुछ लड़के गा रहे थे। जसुभा उठे और जिस ओर से आवाज आ रही थी उसी ओर बरामदे में गये। बरामदे के नीचे बड़ा-सा उपवन था। सूर्योदय के पूर्व की रक्तिम रश्मियाँ उसके वृक्षशिखरों को सोने से मढ़ रही थीं। गाने की आवाज वहीं से आ रही थी। एक हजार से अधिक बालक-बालिकायें वहाँ पर खेल-कूद रहे थे, फूल बीन रहे थे। बालक सफेद वस्त्र पहने हुए थे और बालिकायें गुलाबी; सभी सात से अठारह-बीस वर्ष भीतर की आयु के थे।

प्रातःकालीन पवन की स्निग्धता, उपवन का वासन्ती वातावरण, बालकों की चंचलता उनका कोकिल कंठस्वर, इन सभी बातों से जसुभा ने कुछ विचित्र आनन्द का अनुभव किया, नीचे खिड़की में रणुभा और चम्पा खड़े थे। दूर नये बने हुए मकानों में से एक सन्यासी आता हुआ दिखाई दिया। वह जिस बालक से मिलता उसी से खिलवाड़ करता, किसी के सिर पर चपत लगा देता, कोई उसके पीछे दौड़ता। जसुभा ने उसे पहचाना। वह पंचों में से एक था। वही बड़ा अध्यक्ष था किंतु लड़के उससे भयभीत नहीं होते थे और न नमस्कार करने के कृत्रिम विनय दिखाने के फेर में अपने आनन्द में विघ्न डालते थे।

'रणु! उस स्वामीजी को बुलाना, वारत तो बड़ा रसिक गाँव दिखाई

पड़ता है।'

दो मिनट में संन्यासी रणुभा और चम्पा के साथ आये। 'स्वामीजी यह सब क्या है! यह आज क्यों निकले हैं!'

'महाराज! आज कोई नई बात नहीं है। प्रतिदिन गाँव भर के लड़के घर से निकलकर यहाँ फूल बनाने के लिए आते हैं, अब यहाँ से पाठशाला जायेंगे।'

'पाठशाला में प्रातःकाल से कब तक पढ़ाई होती है!'

जरा हँसते हुए स्वामीजी ने कहा—'महाराज! यह कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी कि हमारी शिक्षा-पद्धति और एक प्रकार से सम्पूर्ण जीवनचर्या ही भिन्न प्रकार की है। छः वर्ष तक सभी बालक बालगृह में प्रतिपालित होते हैं, केवल रात में अपनी माँ के पास रहते हैं, तत्पश्चात् पाठशाला में जाते हैं। प्रातःकाल यहाँ आते हैं। दिन भर यहीं रहते हैं, खाते-पीते हैं, खेलते हैं, पढ़ते हैं और सन्ध्या समय अपने-अपने घर जाते हैं। हमारी पाठशाला में केवल पढ़ाई ही नहीं होती।'

'आपकी पाठशाला में विद्यार्थी कब तक रहते हैं?'

'बालक के बीस वर्ष और बालिका अठारह वर्ष की उम्र तक। इसके बाद हमारे यहाँ वयस्क लोगों के लिए भी विभाग हैं; जैसे कि लुहार, बढ़ई, बुनकर आदि। इस विभाग में लोग दिन भर अपने कारखाने में परिश्रमपूर्वक काम कर उस कला में प्रवीण बनने का प्रयत्न करते हैं।'

'लेकिन बालक-बालिकाओं को एक साथ पढ़ाने से नैतिक-हानि नहीं होती?' चम्पा ने पूछा।

'नैतिक हानि और सहाध्याय में! यह तो भ्रम है। मेरा तो अपना मत है कि जितना एक साथ पढ़ाने में लाभ है; उतना अलग-अलग पढ़ाने से नहीं होता। कक्षा में दो लड़कियाँ हों तो दो सौ लड़के विनयी और सुशील बनते हैं वैसे ही लड़कियाँ भी। कक्षा में केवल स्वजातीय लड़कियाँ ही न होने से परस्पर सम्बन्ध अधिक व्यावहारिक एवं विनयी बनता है। परन्तु एक दूसरा लाभ भी है?'

'वह क्या?' जसुभा ने पूछा।

'अधिक अनीति होने का कारण यह है कि बचपन से हम उन्हें विलग रख कर, नर और नारी के बीच जो स्वाभाविक भिन्नता है, उसकी अपेक्षा अधिक भेद करके इच्छा और कामना को अत्यधिक तीव्र व उग्र होने का अवकाश देते हैं। एक साथ रहने से वह अवकाश नहीं मिलता। इस प्रकार प्रत्येक एक दूसरे के प्रति आदरपूर्वक व्यवहार करता है और अविदित इच्छा स्वयं अपने में ही लीन हो जाती है।'

'आप विवाह सम्बन्ध कब करते हैं?'

'जब बालक इच्छा करे। यदि पाठशाला छोड़ने के पूर्व इच्छा करे तो उनका विवाह पक्का कर दिया जाता है और यदि बीस वर्ष पूर्ण होने पर इच्छा करे तो उसका विवाह करके उसे एक अलग घर दे दिया जाता है।' जसुभा को उत्तर मिला।

'यह सब तो ठीक है, परन्तु इन प्रबन्धों के लिए धन कहाँ से आता है?'

'धन! महाराज, जहाँ आत्मत्याग हो वहाँ धन की क्या कमी है? वारत मठ की सभी आय इसमें व्यय होती है। हमारे ग्राम-निवासियों ने जो कौशल सीखा है उससे अच्छी-से-अच्छी वस्तु अल्प मूल्य में तैयार कर हम बेचते हैं।'

'लेकिन वह तो बनाने वाला ले लेता होगा?'

'जी नहीं। प्रत्येक मनुष्य को आवश्यक वस्तुएँ गाँव की दुकान से दी जाती हैं। नियमित समय पर मन बहलाने के साधन का प्रबन्ध किया जाता है। उनकी जीवितावस्था में साथ ही मृत्यु के पश्चात् भी उनके बालकों का पालन-पोषण ग्राम की ओर से होता है। इस प्रकार उनकी सभी आय गाँव के कोष में जाती है।'

'अच्छा! आश्चर्य जसुभा बोले-- 'यह तो मानो दूसरा स्वर्ग ही बना डाला है। आपकी इन बातों को सुनकर तो इच्छा होती है कि आप लोगों को पराजित करने के लिए, ग्राम-निवासियों की त्रुटियों का पता लगाऊँ।'

'आप ही पराजित हो जायेंगे श्रीमान्, जब तक महात्माजी हैं तब तक तो अवश्य ही।'

'क्यों रणु! तुम्हारा स्वामी ही इस स्वर्ग का सृष्टा है क्या?'

चम्पा और रणुभा दोनों का मुख गर्व से खिल उठा।

'जी हाँ! आपके रेवाशंकर कहते थे कि बावा पैसा उड़ाते हैं; अब देखा आपने।' चम्पा बोली।

'अच्छा अध्यक्ष महोदय! कष्ट क्षमा कीजियेगा।' कहकर जसुभा ने उन्हें विदा किया और बोले—अपने देशी राज्य भी इसी ढंग पर चलें तो कैसा अच्छा हो।'

'नहीं चल सकते क्योंकि जसुभा जैसे व्यक्ति प्रत्येक राज्य की गद्दी पर बैठे हैं।' चम्पा बोली।

३४

चम्पा और रणुभा नीचे आये। उनका सम्बन्ध देखने में शान्त लगता था,

पर वास्तव में वैसा था नहीं। चम्पा का अनन्तानन्द के साथ राम-मन्दिर में घटी घटना का हाल छः वर्ष में भी रणुभा को मालूम नहीं हुआ था। उस समय से चम्पा बदल गई थी। रणुभा ने सोचा कि वह भी स्वामीजी की शिष्या बन गई थी अतः अब दोनों व्यक्तियों के लिए एक ही जीवन-स्रोत में बहना सरल होगा। चम्पा इस प्रकार आचरण करती मानो वह रणुभा की विवाहिता हो, तो भी रणुभा देखते कि पहले की विरक्ति में जैसा उसका हृदय शुद्ध था वैसा अब नहीं है। वह सभी को प्रसन्न रखने का प्रयत्न करती, राज्यकार्य में सुधार करने के लिए माथा मारती। परन्तु उसके हृदय की बात किसी को मालूम न होती। रणुभा पहले तो कुछ कुपित हुए, फिर शक हुआ कि उनकी पत्नी किसी अन्य पुरुष की मूर्ति हृदय में धारण किए हुए हैं, किन्तु उनका सम्बन्ध किसी बन्धन के आधार से बँधा नहीं था। जिससे वह बोल ही क्या सकते थे? जिस पुरुष को वह प्यार करती थी वह उसका भी पूज्य गुरु था, जिससे पहले तो कुछ बाधा खड़ी नहीं हुई। बहुत दिनों तक अनन्तानन्द रत्नगढ़ आये ही नहीं, इससे रणुभा का यह डर जाता रहा। पर ज्यों-ज्यों उन दोनों के बीच का यह अन्तर-स्नेह वह दूर करने का प्रयत्न करता त्यों-त्यों यह बढ़ता जाता था। चम्पा शरीर से उसकी थी पर उसका मन तो स्वामीजी में ही मग्न रहता था।

यहाँ आने पर स्वामीजी के प्रभाव का सच्चा परिणाम देख कर दोनों हर्षित हुए, किन्तु दोनों के हर्ष का कारण भिन्न-भिन्न था। रणुभा गुरु के सुख से सुखी होता, वह भी उन्हीं का शिष्य है, यह सोचकर आनन्दित होता। चम्पा भिन्न दृष्टि से देखती; अनन्तानन्द उसके हैं उसने यह सोच रखा था। उसे ऐसा लगता मानो इनके प्राण में अपने प्राण का लय करा कर ऐक्य-पद प्राप्त कर लिया हो। पिता के विजय से पुत्री एवं पत्नी दोनों को हर्ष होता है किन्तु दोनों के हर्ष में भेद होता है—एक हर्ष पूज्यभाव का द्योतक अर्थात् दूसरा स्वत्व का अर्थात् पूर्ण।

'रणुभा!' एकाएक गम्भीरता से चम्पा बोली—'हम लोगों के लिए भी यह नया ही है। हम तो स्वयं कुछ करते ही नहीं।'

'परमेश्वर की कृपा होगी तो सब कुछ होगा।'

'हम भला क्या करेंगें? हम में शक्ति कहाँ है? हृदय में पवित्रता कहाँ है?' चम्पा दुःख से बोली। यह विषय रणुभा को व्यर्थ-सा लगा। शुद्धता के आवेश में वह कहाँ-से-कहाँ पहुँच गई।

'तुम्हारी राय हो तो, चलो हम विवाह कर लें!' कुछ आतुरता से रणु ने कहा।

'नहीं, रणुजी,! यह नहीं हो सकता।' चम्पा बोली, 'विवाह करके आपको

क्यों दुःखी बनाऊँ ? जीवन के आँदोलन में बहुत कुछ देख लिया, कौड़ी के लिए बिक गई, विषयी मनुष्यों का मनोरंजन के लिए अपने जीमन को नीलाम पर चढ़ा दिया। अब सभी कुछ तिरस्कारपूर्ण जान पड़ता है। कुछ दिन पूर्व वेश्या थी, अब न तो आपके साथ रहना अच्छा लगता है और न जसुमा के लिए गला फाड़ना ही।'

'तब क्या करोगी ?' दुखार्त्त हो रणुभा ने पूछा।

'स्वामीजी जो कहेंगे ! चलिए दर्शन कर आवें।'

'नहीं···' जरा चिड़चिड़ाकर रणुभा बोले। द्वेष से कुछ विक्षिप्त-से हो रहे थे, 'तुम जाओ, मुझे काम है।'

३५

संध्या को पाँच बजे फिर पंच बुलाने आए जसुभा सब रिसाले के साथ घोड़े पर सवार होकर पाठशाला की ओर चले। गाँव दो भागों में विभाजित था; एक तरफ रहने के लिए एक प्रकार के छोटे किन्तु हवादार मकान बने थे दूसरी ओर दुकान, कारखाने आदि। दोनों के बीच में चौड़ी, साफ-सुथरी सड़क थी जो बड़े शहरों की म्युनिसिपैलिटी को भी लज्जित करती थी। पाठ-शाला के सामने लम्बा-चौड़ा मैदान था, सामने मठ पर भगवा ध्वज फहरा रहा था। थोड़ी दूर पर एक छोटी नदी धीरे-धीरे बह रही थी। एक बड़े शामियाने में स्वागत का प्रबन्ध किया गया था। वहाँ सम्पूर्ण गाँव के सभी स्त्री-पुरुष सकुटुम्ब एकत्र हुए हों ऐसा लगता था। जसुभा की शौकीन आँखें इस सम्मेलन पर पड़ीं, वह कैसा जीवन व्यतीत कर सकते थे इसका क्षण भर के लिए ज्ञान हुआ, रण में शत्रु को पराजित कर के वापस लौटने पर उनके पिता-पितामह आदि का उनकी स्वतन्त्र प्रजा कैसा स्वागत करती थी इसका स्वप्न दे खा। देश की वर्तमान दशा का और इतने वर्षों से प्रजा का खून चूस कर विलास करने वाले राजाओं के स्वाभाविक कर्त्तव्यों का ख्याल आया। उन की छाती में स्पंदन हुआ, उनकी आँखों में पुरातन वीरों का तेज चमक उठा। अपना शानदार स्वागत देख कर वह हँसे। घूमने पर रघुभाई के मीठे विचक्षण चेहरे पर दृष्टि पड़ी। उसे देख कर जसुभा कुछ उदास हुए। पाँच मिनट पश्चात् एक उच्च सिंहासन पर असीन होने पर वे पुनः वचारमग्न हो गए।

बैठने पर कुछ लड़के आए; सभी सादे वेश में थे। व्यूह रच कर उन्होंने गाना गया, गाना वीर रस से पूर्ण था। उसमें त्याग, देशोन्नति, वीरता का

वर्णन प्रभापूर्ण मनोरम भाषा में किया गया था। रणुभा की आँखों में शूरवीरता चमकने लगी।

थोड़ी देर में 'जय ध्वनि' हुई और मठ की ओर से अनन्तानन्द जी पधारे। पद-पद पर लोग उनका आदर कर रहे थे, सभी खड़े हो गए। पाश्चात्य रीति रिवाज छोड़कर जसुभा ने भी खड़े होकर नमस्कार किया। अनन्तानन्द जी जसुभा के पास आकर बैठ गए।

नगर सेठ ने एक छोटे-से भाषण में जसुभा का स्वागत किया। पाठशाला के अध्यक्ष ने पाठशाला सम्बन्धी विवरण संक्षेप में कह सुनाया। यह सब सुन कर जसुभा की सुधबुध जाती रही, जीवन में कभी भी अनुभव न किए हुए रस का अनुभव हुआ। अनन्तानन्द जी ने उटकर कहा कि लोग उनसे भी कुछ सुनने की आशा रखते हैं। जसुभा उठे। वातावरण में उत्साह था। बिना अभ्यास की जीभ भी खुल गई। उन्होंने लोगों का उपकार स्वीकार करते हुए वारत मठ की प्रशंसा की एवं उनके प्रशंसनीय कार्य में सहायता देने का वचन दिया। कुछ देर के लिए रेवाशंकर की धाक भूल गये। वह भी आत्मत्याग के प्रवाह में थोड़ा बहुत बह गए। लोगों ने ध्यान पूर्वक भाषण सुनकर हर्ष प्रकट किया। धन्यवाद दे कर सभा विसर्जित हुई।

अनन्तानन्द अब तक चुपचाप बैठे हुए थे, सभा विसर्जनोपरान्त जसुभा को अपने साथ ले जाकर उन्होंने एक विशाल भवन दिखलाया। उन्नतिशील प्रजा की उन्नति के लिए सभी साधनों का वहाँ प्रबन्ध किया गया था। उच्चतम कक्षा की शिक्षा का आयोजन देखकर जसुभा को पाश्चात्य कालेजों के साधनों का स्मरण हो आया।

'स्वामीजी ! सचमुच आपने तो नई सृष्टि ही रच दी है।'

'अभी तो सब काम बाकी ही है, केवल नींव मात्र रखी गई है। जिस दिन विजय-स्तम्भ का गगन भेदी गुम्बद खड़ा होगा उस दिन मेरी मनोकामना पूर्ण होगी।' उनके शब्दों में विश्वास आकृष्ट करने की शक्ति थी। उस समय जसुभा के मन में भी कुछ पूज्य-भाव का उत्पन्न हुआ। विविध विषयों पर बात करते हुए, प्रेरणात्मक वाक्यों से सुधा की वर्षा करते हुए अनन्तानन्द जी वहाँ से आगे बढ़े।

'महाराज ! आपको समय हो तो इस मठ में पधारें, और मेरा आतिथ्य स्वीकार कर मुझे कृतार्थ करें।' हँसते हुए स्वामीजी ने कहा।

'हाँ, मुझे कोई आपत्ति नहीं है, रणु ! तुम भी चलते हो ?'

'जी हाँ !'

मठ पहले एक किला था। मकान बहुत ही पुराना परन्तु मजबत था। ग्राम में जितने सन्यासी थे—जिनकी संख्या लगभग दो सौ थी—सब यहीं रहते

थे। तृतीय खण्ड में एक कोने में अनन्तानन्द जी का वास था। वहां जाते समय जसुभा ने कहा—'रणु ! मेरा सिगार-केस छूट गया ! जरा ले जाओ। स्वामी जी, आपको तो कोई आपत्ति नहीं है ?'

'मुझे क्या आपत्ति हो सकती है ? जाओ रणुभा ! ले आओ। आप भी जरा आराम कीजिये। आत्मानन्द !'

'जी !' कहकर एक संन्यासी आया।

'महाराज के लिए सब प्रकार का प्रबन्ध कर दो। रणुभा ! आप भी थोड़ी सहायता कर दें। मैं अभी आता हूँ।' कहकर अनन्तानन्द चले गये। जसुभा को यह व्यवहार कुछ अनुचित-सा लगा। कमरा बिल्कुल सादा था, वहाँ पर कुर्सियाँ साधारण थीं। थोड़ी देर में एक संन्यासी चाय और जलपान ले आया ; जिस का उन्हें अत्यधिक शौक था। उस सामग्री को यहाँ पाकर जसुभा ने स्वामी जी की दूरंदेशी एवं आथित्य-सत्कार की मन में प्रशंसा की। क्रमशः स्वामी के जादू का प्रभाव उन पर होने लग गया था।

'भई रणु ! अब उठो, सिगार बिना मैं रह नहीं सकता। जल्दी आना, समझे !'

'जी हाँ, अभी आया।'

रणुभा वहाँ से चले। वह विचार करने लगे कि दिन भर से आज चम्पा कहाँ लापता है। उनका मन उद्विग्न हो रहा था। अनन्तानन्द में तो दोष होना असम्भव है ; किन्तु चम्पा है तो वेश्या ही—यह विचार स्पष्ट रूप से आते ही वह चौंक पड़े, गुरुतर अपराध किया हो, इस प्रकार घबरा उठे। अनन्तानन्द के सम्बन्ध में ऐसा विचार ! इतने वर्षों का पूज्यभाव मन में उदय हुआ। नहीं नहीं, ऐसा विचार करने वाले के मन को चीरकर निकाल देना अधिक ठीक होगा। दाँत पीसते हुए वे तेजी से बढ़े।

जिस सीढ़ी से जसुभा के साथ वे ऊपर गये थे, उसे वह भूल गये और एक दूसरी सीढ़ी से वह उतरने लगे। संध्या का समय था जिससे प्रकाश कम हो रहा था। वह एकाएक खड़े हो गये। हृदय में वज्रपात हुआ। पास ही चम्पा का काँपता हुआ अश्रुपूर्ण भग्न स्वर आ रहा था।

'स्वामीजी ! मुझे इतनी आज्ञा दीजिए ; अपनी दासी की याचना स्वीकार कीजिये।'

चम्पा !' अनन्तानन्द की कण्ठ-ध्वनि स्नेहपूर्ण थी। रणुभा को ऐसा लगा कि उसका हृदय टुकड़े-टुकड़े हो जायगा।

'यह बहुत ही अविवेकपूर्ण होगा। अच्छी बात है।'

'तब आपकी आज्ञा है न महाराज ?' आतुरता में चम्पा ने पूछा।

'हाँ, किन्तु देखो पछताओगी !' ऐसा मालूम हुआ मानो यह कह कर

स्वामी जी वहाँ से चले गये। रणुभा वहाँ से हटने का विचार कर ही रहे थे कि एक विचित्र आवाज उसके कान में जा पहुँची। ओह ! चुम्बन का स्वर ! नीच चम्पा ! दुष्ट अनन्तानन्द ? रणुभा ने कमरे में दृष्टि डाली। जमीन पर मुँह रख कर चम्पा भूमि चूम रही थी ; अनन्तानन्द वहाँ पर थे ही नहीं ! बिना विचारे ही केवल चुम्बन की ध्वनि मात्र सुनकर रणुभा विक्षिप्त हो गये। सिर पकड़े हुए वे सीढ़ी उतरे—दौड़े, भागे। शरीर भर में विष व्याप गया। अनन्तानन्द को धिक्कारने लगे। बाहर निकल कर स्वामी जी के बुद्धि प्रावल्य का जीवित तथा निर्जीव परिणाम देखा—इससे उन्हें और भी दुःख हुआ। ऐसे पापी पुरुष संसार में किस लिये जन्म लेते हैं ? चम्पा—शिष्या; स्वय मैं शिष्य; और यह कर्म ? इनसे तो भिखमंगे अच्छे ! बाहर शीतल पवन लगने से जरा शान्ति हुई ? क्या चम्पा जमीन चूम रही थी ? यह कैसे हो सकता है ? फिर अवश्य ही वही बात है। चम्पा ! अन्त में यह किया ? वेश्या किसकी हुई है ? बंगले पर पहुँचकर सिगार-केस लेकर रणुभा वापस लौटे। फिर विचार करने लगे कि अनन्तानन्द तो इतने अधम नहीं हो सकते। मनुष्य कितना ही बुद्धिमान और वैरागी क्यों न हो, पर वासना दुजय है। अब क्या किया जाय ! नदी के किनारे शीतल वायु का सेवन करते हुए रणुभा ने किसी निश्चय पर पहुँचने का निश्चय किया। क्या अनन्तानन्द से बदला लूँ ? या चम्पा से लूँ ? इसमें दोष किसका है ? वेश्या सर्वजन सम्पत्ति है। वह केवल रणुभा की ही नहीं थी। किन्तु स्वामी को क्या ऐसा उचित था। इतना विश्वासघात ! रणुभा ने निश्चय किया कि अनंतानंद की शिक्षा के अनुसार चलकर लज्जित करना ठीक होगा। क्यों न स्वयं आत्म-त्याग कर अपना दुःखार्त्त जीवन किसी उत्तम कार्य में अर्पण करके और आवश्यकता पड़ने पर मरकर भी अनंतानद को कुछ शिक्षा दे जाय ? हाँ, रणुभा को यही मार्ग ठीक जँचा।

इतने में दस-पन्द्रह हथियार बन्द मनुष्यों को छिपकर मठ के पास जाते हुए रणुभा ने देखा। वह अपने ही विचार में लीन थे ; उस ओर उन्होंने कुछ ध्यान नहीं दिया।

३६

अनंतानंद ऊपर आये तब जसुभा बरामदे से गाँव का दृश्य देख रहे थे और सिगार-केस की अनुपस्थिति में सीटी बजा रहे थे। अनंतानन्द का सुगठित शरीर, बड़ा सिर एवं तेजस्वी आँखें देखकर जसुभा ने मन में उनकी प्रशंसा की।

भाव सहित स्वामी जी ने पूछा—'कहिये महाराज ! आपने जलपाप किया ?

'जी हाँ स्वामी जी ! मुझे आपको धन्यवाद देना चाहिए ।'

'वह क्यों ?'

'आपने मेरे राज्य में ऐसे स्वर्ग की रचना की ; इसके लिए ।'

'मेरा बनाया हुआ नहीं है महाराज ! यह तो काल-क्रम उत्साह की प्रेरणा करता है और नवीन सृष्टि रचता है ।'

'जो भी हो किन्तु आपके प्रयोग से अच्छे-अच्छे राजाओं को शिक्षा मिल सकती है ।'

'महाराज ! यह मेरी शिक्षा का परिणाम है, यह सोचना भूल है । जो कोई भी आँख खोलकर देखे, उसे दिखाई पड़ सकता है । आप भी थोड़ा ध्यान दें तो बहुत अच्छा हो ।'

'मुझसे नहीं होता, मैं करूँ क्या ? मेरा स्वभाव तो कुत्ते की पूंछ की तरह है, सीधी होती ही नहीं ।'

'मैं एक मार्ग बताता हूँ । जिसमें उत्साह हो, जो अच्छी तरह कार्य सम्पादन कर सके, उसे इस कार्य-भार को सौंपिये । ईश्वर ने इस कार्य के लिए जिसे उत्पन्न किया है उसे ही इस युद्ध में कूदने दीजिये ।'

'ऐसा व्यक्ति मिलना बड़ा कठिन है ।

'महाराज ! इसलिए मैं आपको यहाँ ले आया हूँ । मुझे आपसे दो बातें करनी हैं । छः मर्ष पूर्व आपके पास पन्द्रह सौ की भिक्षा माँगने गया था, यह क्या आपको स्मरण है ? उस समय आपने मुझे निकाल बाहर किया, इसके पश्चात् तो रेवाशंकर ने सारा वर्षाशन ही बन्द कर दिया ।'

'उसके लिये मुझे दुःख है । मुझे क्या पता था कि वारत में दिये जाने वाले धन का इस प्रकार सदुपयोग होता है । आगामी वर्ष से पाँच हजार रुपये वार्षिक देने के लिए आज्ञा दे दूंगा । इसे निश्चय समझिये ।'

'महाराज ! मेरा स्वभाव याचना करने का नहीं है परन्तु आपके पर्यटन पर निकलने का कारण मैं था, यहाँ आप आये भी मेरे ही कारण और मेरी केवल एक याचना सुनने के लिए ।'

'स्वामी जी ! इस समय आप पर मैं इतना प्रसन्न हूँ कि आप कुछ भी माँगें उसे अस्वीकार नहीं कर सकता ।'

स्वामी जी छत की मुंडेर के पास खड़े थे । अस्ताचलगामी सूर्य का प्रकाश उनके चेहरे को जगमगा रहा था ।

'महाराज ! आप देखते हैं ।' गाँव की ओर संकेत करते हुए अनन्तानन्द बोले : 'इस समय यहाँ दस सहस्र प्राणी, संसार में जो सबसे अच्छा जीवन हो सकता है वैसा सुखी और पवित्र जीवन व्यतीत कर रहे हैं । संसार के कथित

सुख-भोग करने की अपेक्षा देश के लिए, धर्म के लिए, ईश्वर के लिए वे अपना सर्वस्व अर्पण करने के लिए सदैव तत्पर भी रहते हैं और अर्पण करते हैं—यह मेरे बारह वर्ष के प्रयत्न का फल है। जिस समय मैं आया उस समय डेढ़ हजार मनुष्य जन्तु बाबाओं के अत्याचार से पीड़ित ज्यों-ज्यों जीवनयापन कर रहे थे। पर आज ऐसा निवासस्थल भूतल पर मिलना कठिन है। आप देखते हैं और मुझे धन्यवाद देते हैं ; आपसे इतनी ही याचना करता हूँ कि मुझे अपना प्रयोग निर्विघ्न करने दीजिये—जो योजना मैंने बनाई है उसे दूर-दूर फैलने दीजिये—अपने राज्य में प्रत्येक स्थान में बारत का झण्डा फहराने दीजिये।' उनकी आवाज मन्द थी किन्तु भाव से काँप रही थी। उनकी आँखों में कवियों का, राष्ट्रकर्त्ताओं का सृष्टिकारक तेज चमक रहा था।

'मैं कहाँ मना कर रहा हूँ ? भगवान करे आपका प्रयोग सिद्ध हो।'

'यह नहीं महाराज ! मैं कुछ और माँग रहा हूँ। आपके राज्य में मैंने प्रयोग आरम्भ किया है, आपका राज्य मुझे आदर्श रूप बनाना है, उसके लिए मुझे बड़े क्षेत्र की आवश्यकता है। अपना स्वप्न सिद्ध करने के लिए मुझे दस लाख मनुष्य और सम्पूर्ण देश चाहिए। इसके लिए दो ही वस्तु की आवश्यकता है। मेरे मठ को रत्नगढ़ में स्थान दीजिये और रेवाशंकर को अवकाश।'

जसुभा हँसे. स्वामी महाराज थोड़े लोभी मालूम पड़े।

'महाराज ! यह भी कहीं हो सकता है ? रत्नगढ़ आना हो तो भले ही पधारें थोड़ी जमीन दे दूँगा किन्तु राज्य प्रपंच में आप व्यर्थ क्यों पड़ते हैं ?' धीरे-धीरे जसुभा में शिथिलता-सी आ रही थी।

'राज्य प्रपंच में मैं पड़ना नहीं चाहता, मुझे तो राज्य-प्रपँच को विनिष्ट करना है। देशी राज्यों का उसने सत्यानाश कर दिया है। रेवाशंकर के रहते हुए राज्य में कोई भी परिवर्तन करना सम्भव नहीं है ; प्रजा पीड़ित और संतप्त है। बलात् सब प्रकार का अत्याचार सहन करती है। यह समय कूप-मण्डूकता का नहीं है, बल्कि विशाल चक्षु वाले राजर्षियों का युग है। आप में से विनम्र प्रार्थना करता हूँ कि उन्हें निकाल बाहर कीजिये और अपने राज्य का उद्धार कीजिये।'

'मान लीजिये कि उन्हें निकाल भी दें तो राज्य कौन चलायेगा ?'

'कौन चलायेगा ? रणुभा हैं।'

'कौन डीयर रणु ?' जरा हँसते हुए जसुभा बोले : 'फिर क्या पूछना है ?'

'रणुभा निकम्मा लगता है ? अच्छी बात है, मुझे दीजिये। केवल आपके हठ के वश यह पद मैं स्वीकार करूँगा और आपकी राज्योन्नति कर आपके नाम को अमर कर दूंगा।'

जसुभा मूर्ख नहीं थे, उन्होंने सोचा कि स्वामी ने दीवान बनने के लिए यह

सब माया रची है। उनका उत्साह ठंडा पड़ने लगा। स्वाभाविक विरक्ति एवं शिथिलता आने लगी। कटाक्षपूर्ण शब्दों में उन्होंने उत्तर दिया—'स्वामीजी! आप? मुझे पता नहीं था कि सन्यास में भी आपने सत्ता की वांच्छना का त्याग नहीं किया है?

अनन्तानन्द की आँखें तीव्र हो उठीं, असह्य तिरस्कार से उनके नथने फूल गये। आवाज में तलवार के समान पूर्ण तीक्ष्णता थी—श्रीमान्! उलटा अर्थ मत लगाइए। संसार की सत्ता और उसके वैभव को कभी का मैंने छोड़ दिया है। यदि मुझे उसकी इच्छा होती तो क्या मैं आपसे इस प्रकार भिक्षा मांगता? शिक्षा समय ऐसा अवसर भी आया था कि यदि मैंने सत्ता को अच्छा समझा होता तो संपूर्ण पृथ्वीमंडल की सत्ता पा गया होता। उसे छोड़ा महान् सच्चिदानन्द प्राप्त करने के लिए। यदि इच्छा करूँ तो मेरी शक्ति श्रेष्ठतम सत्ता अर्पित कर सकती है। तब किसलिए भला मैं आपकी बुभुक्षित राज्य की गाय जैसी प्रजा पर तुच्छ सत्ता प्राप्त करने का प्रयास करूँ? जिस राज्य के स्वामित्व पर आपको घमंड है उस ओर तो मैं आँख उठाकर भी न देखूँ परन्तु मुझे अपना कर्त्तव्य करना है।'

'महाराज! इस समय मैं अस्वस्थ हूँ, यह बात अब इतनी बढ़ गई है कि रत्नगढ़ जाने पर ही विचार करके मैं उत्तर दे सकूँगा।'

'राजन! इसमें विचार करने का अवकाश है ही नहीं। रेवाशंकर को निकालना ही होगा।'

'इस प्रकार की बातें सुनने की मुझे आदत नहीं है।' कह कर भावहीन लापरवाही दिखाते हुए जसुभा कुर्सी पर बैठ गए।

'मुझे याचना करने की भी आदत नहीं।' आप जब तक उन्हें राज्य छोड़ने की आज्ञा नहीं देंगे, तब तक मुझे आपको यहाँ रखना पड़ेगा।' इस प्रकार कह कर अनन्तानन्द वहाँ से चले गये, मानो राज्य-सत्ता उन्हीं के हाथ में थी।

३७

रणुभा ने आकर सिगार केस जसुभा को दे दिया। जसुभा ने चुपचाप एक सिगार जलाया। गत चौबीस घंटे की अनुभव-परम्परा ने जसुभा के निडर मन को दूसरी दिशा में फेर दिया था। यह प्रयोग राज्य-प्रपंच एवं बुद्धिमान पुरुषों की अपने पास चलने वाली खींचातानी से उसमें भाग लेने की उनकी इच्छा हुई थी। वह विनोदप्रिय थे, सुखी थे। उन्हें आज प्रथम बार प्रवृत्ति में सुख

दिखाई दिया।

सदैव अपनी इच्छानुसार परिवर्तन करने के अभ्यस्त होने से उन्होंने स्वामी की याचना स्वीकार नहीं की। तदुपरान्त रेवाशंकर उनके जीवन में इतने आवश्यक मालूम पड़ते थे कि उनकी समझ में आ नहीं रहा था कि उसके बिना काम कैसे चलेगा। अनन्तानन्द की प्रेरणाशक्ति ने भी विचित्र भाव उत्पन्न कर दिया। जसुभा के हृदय में वीररस का संचार हुआ।

'इस स्वामी को भी दिखा दिया जाये कि जसुभा सोलकी वीर्यहीन नहीं है।' धीमे स्वस्थ कंठ से वे बोले। उनके स्वर में इस समय सदैव की विरक्ति अनुपस्थित थी।

'रणु ? हम तो जाल में फँस गये हैं।'

'क्या ?' अपने विचार में लीन रणुभा बोल उठे।

'क्या-क्या ? इस समय बुद्धि कहीं चली गई है क्या ?'

'जी नहीं सरकार ?'

'अभी-अभी मेरे और तुम्हारे स्वामी के बीच चखचख हो गई।'

'ऐं ? किसलिए ?' स्वामी का नाम सुनकर रणुभा ने आतुरता से पूछा।

'यह रेवाशंकर को निकालकर स्वयं फ्रांस का प्रधानमन्त्री बनना चाहता है। मैंने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया।'

रणुभा के मन में भी जसुभा के समान ही विचार उत्पन्न हुआ, क्या अनन्तानन्द सत्ता प्राप्त करना चाहते हैं ? अब मैं तो संसार से विलग होता हूँ, मुझे क्या ?

'क्या दीवान बनना चाहते हैं ?'

'नहीं, वह तो तुम्हें बनाना चाहता है।'

'मुझे ?'

'हाँ, मुझसे कह गया है कि जब तक यह आज्ञा नहीं दूँगा तब तक में यहाँ से जाने नहीं पाऊँगा।'

'इसका क्या मतलब ?'

'अर्थात् हम कैदी हैं, इतना ही।' शान्त चित्त से जसुभा ने उत्तर दिया। रणुभा बरामदे के बाहर देखने लगे।

'अच्छा ? यह तो सेना एकत्रित हो रही है।' भारतवासियों की चार-पाँच टुकड़ियों को इधर-उधर जाते हुए देखकर जसुभा बोले। रात्रि हो गई थी फिर भी बिजली के प्रकाश में साफ दिखाई पड़ रहा था।

'जी हाँ ?' सिर ठोकते हुए रणुभा बोले, 'मठ के पास भी एक टुकड़ी मैंने देखी थी किन्तु उस ओर मैंने तनिक भी ध्यान नहीं दिया।

'अब हमें क्या करना है ?'

'स्वामी करेगा क्या ? थोड़ा दबाव डालने के लिए उसने ऐसा कहा होगा।' रणुभा बोले।

रणुभा के मन में इससे विशेष भय नहीं हुआ। उनके जीवन का दूसरा लक्ष्य जसुभा की सेवा थी। इस समय दुःख से छुटकारा पाने का मार्ग उसे मिल गया। यदि राजा को बन्दी बनाने का प्रयत्न होगा तो मरते दम तक लड़ कर, सोलंकी वंश के नाम को उज्ज्वल करने के लिए यथाशक्ति अधिक से अधिक व्यक्तियों का संहार करेगा और स्वयं भी उनके शस्त्र से आहत होकर वीर शैय्या पर सोयेगा। इस प्रकार चम्पा और अनन्तानन्द की कृतघ्नता से छूट कर विजयी मार्ग प्राप्त करेगा। सदैव वह तलवार बाँधता था। अनजान में ही उस पर हाथ पहुँच गया।

'कुछ कहा नहीं जा सकता। स्वामी में दृढ़ता की कमी नहीं है।' जसुभा परिस्थिति समझ रहे थे।

'तब अपने में वीरता की क्या कमी है ? महाराज ! हम दो हैं फिर भी दो सौ को मार भगावेंगे।'

'मुझ में भी प्रतिस्पर्द्धा उत्पन्न हुई है। हो सके तो स्वामी को भी दो-एक पाठ पढ़ा कर यहाँ से चला जाए। जसुभा ने प्रोत्साहन दिया।

'आप जब कहें मैं तैयार हूँ। इन गँवारों को भी सिखा दूँ कि महाराज पर पहरा बैठाने का कैसा मजा मिलता है !'

'रणु ! ऐसा मालूम पड़ता है मानो आज प्राचीन समय आ गया हो। इस समय यहाँ यदि रेवाशंकर होता तो और भी आनन्द आता।'

रणु खामोश रहा। वह वीर था। निश्चयात्मक प्रवृत्ति की बात सामने आने पर हास-परिहास की ओर उसका ध्यान नहीं जाता था। एक ही लक्ष्य उसकी आँखों के सामने नाच रहा था। अनन्तानन्द का पीछे चाहे जो हो, इस समय उन्हें परास्त कर जसुभा को छुड़ाना ही उसका परम ध्येय था। दृढ़ मुट्ठी बाँध कर वह खड़ा था, उसका हाथ तलवार खींचने के लिए तड़प रहा था।

आत्मानन्द ने आकर बिजली का प्रकाश कर दिया।

'महाराज ! नायब दीवान साहब आए हैं और आप से एकान्त में मिलना चाहते हैं।'

'रणु ! देखो ये दूसरे महापुरुष आए।' जसुभा बोले।

'बुला लीजिए, मैं इस दरवाजे के पीछे खड़ा हो जाता हूँ, जरा इनका रंग ढंग भी देखिए।'

जसुभा कुर्सी पर बैठ गए और आराम से सिगार पीते हुए बोले—'भेज दो !'

३८

जिस प्रकार दूसरे सब रिसाले राजा से छूट गए उसी प्रकार रघुभाई स्व ही छूट गए थे। जसुभा ने ऐसी साधारण गृहस्थ जैसी परिपाटी चला दी थी कि उनके साथ अंगरक्षक अथवा रिसाला रहने की आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। दूसरे सब लोग घूमने के लिए निकल गए। रघुभाई धीरे-धीरे घूमते हुए बंगले के पीछे पहुँचे। नीचे जहाँ इनके ठहराने का प्रबन्ध किया गया था वहाँ पर एक व्यक्ति बैठा था।

'कहो रणछोड़ ! सब ठीक है ?'

'जी हाँ, पेस्तनजी सेठ स्वयं तालोद आए हैं। साथ में पच्चीस मनुष्य भी लाए हैं, यहाँ से करीब आधे कोस पर ठहरे हैं।'

'ठीक है, अच्छा, माना नायक को तो जरा बुलाओ।'

माना नायक आया तो रघुभाई ने कहा—'माना ! अब तक तुमने बड़ी ही योग्यता से काम किया है। प्रभु चाहेंगे तो चौबीस घण्टे में मेरा और तुम्हारा दोनों का बेड़ा पार हो जाएगा। इस समय बड़ी सावधानी से चलने का काम है।' रघुभाई ने समझाया।

'जी !'

'मठ में महाराज गये हैं। नदी पर उसकी खिड़की पड़ती है वहाँ पर तीन घोड़े तैयार रखना। घोड़े मजबूत हों समझे ! उसकी चुस्ती पर ही अपना भविष्य अवलम्बित रहेगा।'

'कुछ चिंता नहीं, अन्नदाता ! कितने बजे ?'

'नौ बजे के लगभग !' कहकर माना नायक को विदा किया।

रघुभाई ने फिर विचार कर देखा कि अब तक की कार्य-कुशलता के फल-स्वरूप शिखर पर चढ़ने का समय आ गया है। ऐसा मौका फिर हाथ नहीं लगेगा। जसुभा इस समय अकेले हैं, कोई दूसरा उनके पास सलाहकार नहीं है और आज अपनी स्वाभाविक विलासिता भुलाकर राज्य की ओर कुछ ध्यान देते से जान पड़ते हैं। साथ ही अनन्तानन्द भी अवश्य ही कुछ-न-कुछ करेंगे परन्तु पता नहीं वह क्या करेंगे क्योंकि बिना मतलब महाराज को वह यहाँ बुलाने वाले नहीं हैं। उनका इसमें क्या हेतु हो सकता है ? रघुभाई और स्वामी में बहुत दिनों से अनबन हो गई थी; राजा को पकड़ कर क्या मुझे परास्त करने का प्रयत्न करेंगे ? यह भी स्वाभाविक लगा किंतु रेसीडेंसी में इस सम्बंध में कुछ भी बात-चीत चल नहीं रही थी। उसे डर लग रहा था। कि कहीं उसकी जीती बाजी स्वामी न हड़प ले। यदि डरा धमकाकर रेवाशंकर को

रुखसत करा दे तब क्या होगा ? तब रघुभाई के सिवा और किसे दिवानगीरी मिलेगी ? ऐसा हुआ तो जो भेद उसने प्राप्त किया है उसका मूल्य आधा हो जायगा, तब तो बाबा का ही बोल-बाला हो जायगा। बाबा यह भेद जानता होगा अथवा नहीं, इसका उसे संदेह हुआ; रघुभाई को विश्वास हो गया कि वह इसे जानता न होगा अन्यथा इतने दिनों तक वह इस प्रकार खामोश क्यों बैठा रहता ? पल मात्र में वह जसुभा को पथभ्रष्ट कर सकता था। तब अवश्य यही समय उपयुक्त है। इसी समय पासा फेंककर विजय प्राप्त कर लेना उचित होगा। यह निश्चय कर वह उठा।

बाहर निकलते ही उसकी दृष्टि मठ के पास बैठी हुई सेना की एक टुकड़ी पर पड़ी; उसने सोचा अवश्य ही कोई षड्यंत्र रचा गया है। यह अधिक उत्तम हुआ, जसुभा उपकार मानेंगे। यह रघुभाई ने पहले से ही पता लगा लिया था कि अनंतानंद साढ़े सात से साढ़े आठ तक मठ में नहीं रहेंगे। यही समय उसे उपयुक्त जान पड़ा।

मठ के समीप दरयाफ्त करने से रघुभाई को पता चला कि अनंतानंद मठ में नहीं हैं, यह जानकर उसे निश्चिन्तता हुई। जसुभा से मिलने की इच्छा प्रकट करने पर आत्मानन्द उसे उनके पास ले गये।

'कहिये अन्नदाता ? मेरे लिए कोई आज्ञा है ?' रघुभाई ने बात शुरू की।

जसुभा के चेहरे से यह कोई पता नहीं पा सकता था कि उनकी स्थिति इस समय गम्भीर है। सदैव के समान ही अपनी स्वाभाविक थकावट से वे हँसे।

'अब तक कहाँ थे रघुभाई ?'

'महाराज ! कल सवेरे चलने की तैयारी करने में लगा था।

जसुभा चुप रहे। रघुभाई साहस कर बोले—'महाराज ! एक जरूरी समाचार देने के लिए आया हूँ।'

'अभी, इस समय ?' इतनी शान्ति से जसुभा ने पूछा कि रघुभाई का कलेजा दहल उठा।

'जी हाँ सरकार ! इस समय हम दुश्मन के पंजे में हैं।'

'दुश्मन ! ब्रिटिश सरकार द्वारा संरक्षित मुझ जैसे देशी राजा का दुश्मन भला क्या कर सकता है ?' बिलकुल अनजान बनकर जसुभा ने पूछा।

'महाराज ! इस समय आप पर पहरा बैठा हुआ है। आपका जीवन भी सुरक्षित नहीं है। कितनी कठिनता से मैं आ सका हूँ।'

'परन्तु किसका पहरा ? रघुभाई ! कुछ पागल तो नहीं हो गये हो ?'

'नहीं सरकार !' रघुभाई को विश्वास हो गया कि जसुभा को कुछ पता नहीं है। 'इस समय अनंतानन्द आपको पकड़कर यहाँ रखना चाहते हैं। मठ के चारों ओर हथियार बंद सिपाहियों का पहरा है, दो-चार को मैंने स्वयं देखा

है। अनन्तानन्द ने भयंकर जाल फैला रखा है।'

'किस लिए ? उनका क्या लाभ है ? मुझे पकड़ेगा तो कल ही कैदखाने की हवा खानी पड़ेगी, मालूम है ?'

'जी नहीं ! इसके विपरीत सत्ताधीश बन बैठेगा।'

'वह कैसे ?'

'सरकार ! एक बड़ा भेद है जिसे यह बाबा जानता है आसानी से ही आप को गद्दी पर से उतार दे सकता है।'

जसुभा समझ गये कि यह भी इस समय अपना उल्लू सीधा करने ही आया है। जसुभा शान्त और स्वस्थ रहे। रणुभा ने मन-ही-मन उनके धैर्य की प्रशंसा की।

'आश्चर्य की बात है कि अब तक किसी ने गद्दी पर से उतारने का प्रयत्न नहीं किया ! अच्छी बात है, स्वामी आएगा तो देख लूँगा।'

रघुभाई इस शान्ति से जरा घबराया। 'महाराज ! स्वामी की बाट जोहने का समय नहीं है। वह बाहर गया है। पीछे घोड़ा मैंने तैयार रखा है, आपके चलने भर की देर है।'

'हाँ हाँ चलो, बंगले चले चलें, मुझे कोई आपत्ति नहीं है।'

'जी नहीं सरकार ! हमें बारत की सीमा से बाहर हो जाना पड़ेगा। यहाँ तो पाँच मिनट भी हम नहीं ठहर सकेंगे। आप अनंतानंद को पहचानते नहीं। यदि बिगड़ा तो ताण्डव नृत्य कर डालेगा।'

'अर्थात् तुम्हारे कहने का सारांश यह है कि हम कायर के समान यहाँ से निकल भागें।'

'यह बात नहीं है। दो ही चार घण्टे में आप फिर विजयी बनकर यहाँ पदार्पण करेंगे, मैंने सब प्रबन्ध कर रखा है।'

'ऐसा ? इससे अच्छी क्या बात हो सकती है ?' कहकर जसुभा उठने लगे, 'यहाँ से निकलने का मार्ग तुम यदि दिखा सकते हो तो व्यर्थ समय क्यों नष्ट किया जाय ?'

'महाराज ! एक मिनट ! यह समय झूठी खुशामद का नहीं है। साफ बात यह है कि इस समय मैं कितनी जोखिम उठा रहा हूँ, इसका आप विचार करें। कुशलपूर्वक रत्नगढ़ आपके पहुँच जाने से मेरा लाभ ?'

जसुभा चौंक पड़े। उन्होंने देखा कि यह धूर्त भी कुछ चाहता है। वह फिर शान्तिपूर्वक कुर्सी पर बैठ कर बोले—'इतने वर्ष के पुराने नौकर से कर्त्तव्य परायणता के अतिरिक्त और कौन सी आशा रखूँ भविष्य में मैं इसका क्या पुरस्कार दूँगा, इसे नौकर को पूछने का कोई अधिकार नहीं है।'

'सरकार ! तब क्षमा करें। विपक्षी मुझे क्या देने के लिए तैयार है, इसका

आपको पता नहीं है। जो भेद मैं जानता हूँ उसे गुप्त रखने के लिए अनंतानंद मुझे जो कुछ माँगू निश्चय ही दे देंगे।'

'अच्छी बात है तब तुम यह भेद उन्हीं के हाथ बेचो। मैंने तुम्हें इतने वर्षों तक वेतन दिया, तुमने घूस खाई उस ओर मैंने ध्यान भी नहीं दिया, यही क्या कम है ?'

'महाराज ! यह मैं जानता हूँ, किन्तु वह तो मेरी नौकरी का बदला था। आपको पता नहीं है कि इस समय एक फूँक में मैं आपको मिट्टी में मिला सकता हूँ ! सरकार ! आपको पता नहीं है। इसके मूल्य का पता इसे जानने पर आपको लगेगा।'

'है क्या ?'

'बता दूँ ? अच्छी बात है, रत्नगढ़ गद्दी के अधिकारी आप नहीं हैं, दूसरा कोई और है ?'

'कौन है ?'

'यह कैसे कहा जा सकता है ? यह सब षड्यन्त्र उसी के लिए रचा जा रहा है। अनन्तानन्द से गहरा सम्बन्ध है।'

'और यह भेद खरीदने का मूल्य क्या है ?'

'बहुत थोड़ा !'

'क्या ?'

'मुझे दीवान बना दिया जाय और अनन्तानन्द को देश निकाला दिया जाय।'

जसुभा खिलखिलाकर हँस पड़े। दो घंटे के बीच में दो व्यक्तियों ने एक ही माँग की किन्तु दोनों में कितना अन्तर था ? एक ने नरसिंह के गौरव से याचना की थी और दूसरा दास की अधमता से हुक्म दे रहा था। तिरस्कार से विकृत स्वर से जसुभा बोले—'साथ ही मुझे भी देश निकाला नहीं क्यों ?'

'सरकार ! हँसी की बात नहीं है। आपको नहीं रुचता तो मेरा भेद मेरे पास रहा किन्तु आप पछताइयेगा।' बाजी हाथ से जाती हुई देख कर हताश स्वर में रघुभाई बोला।

'मेरे नमक-हराम नायब दीवान ! देख वह दरवाजा तेरे लिए खुला है। जसुभा सोलंकी चांडाल कुत्तों के साथ बात करना नहीं चाहता; तेरे जैसे चापलूसों द्वारा बचने की अपेक्षा अनन्तानन्द के हाथ से मरना अधिक पसन्द करता है। रणु !'

'जी !' कहते हुए रणुभा भीतर आये।

'क्षण भर भी यदि यह नीच नमक-हराम यहाँ रुके तो उसका सिर धड़ से अलग कर दो।' तनिक उत्तेजित हुए बिना साधारण रूप से कहकर सिगार

केस से सिगार निकाल कर जसुभा जलाने लगे।

यह आज्ञा सुनते ही रघुभाई तुरन्त वहाँ से चला गया।

३६

रघुभाई के चले जाने पर जसुभा ने रणुभा की ओर देख कर कहा—'और भी कोई बाकी रह गया है ?'

रणुभा ने सिर हिलाया।

'रणु ! अब हमें यहाँ से निकल चलना अधिक अच्छा होगा !'

रणुभा का मन इस समय शान्त हो गया था। दिन-भर मन में जो तर्क वितर्क चल रहा था वह इस समय जाता रहा। इस अवसर पर जसुभा की रक्षा में अपनी दुःखी आत्मा को वीरता की वेदी पर आत्मोत्सर्ग कर देने का दृढ़ निश्चय उसने कर लिया।

'मैं इन दस-पन्द्रह गँवारों का तो पल भर में खात्मा कर दूँगा।'

'इसकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी।' खड़े होते हुए जसुभा बोले—देखो ! इस सदर दरवाजे के पास बैठे हुए लोग गप्प मार रहे हैं। रघुभाई कह गया है कि पीछे के दरवाजे पर उसने घोड़ा तैयार रखा है, वहाँ पर पहरा नहीं होगा। उसी घोड़े का उपयोग कर चलो हम लोग केवलपुर चले चलें।

'सरकार ! इस प्रकार चलना क्या उचित होगा।'

'रणु ! तुम्हारे जैसे सीधे स्वभाव के लड़ने वाले वीरों का समय अब नहीं रहा, अब कपट-कौशल का जमाना है।'

'जैसी महाराज की इच्छा !'

'परन्तु रास्ता भी तो मिलना कठिन होगा, यह मठ तो एक बड़े किले के समान है।'

'रास्ता ढूँढ़ निकालने में देर नहीं लगेगी।' कहकर रणुभा ने तलवार का कमर बन्द जरा ढीला किया। जसुभा छड़ी लेकर रणुभा के साथ इस प्रकार चले मानो वायु-सेवन के लिए जा रहे हों। बाहर अँधेरा था। कहीं-कहीं बिजली की रोशनी थी, बाकी सब जगह भयंकर अंधकार का ही साम्राज्य छाया हुआ था। चुपचाप दोनों व्यक्ति नीचे उतरने लगे। आगे-आगे जसुभा और उनके पीछे रणुभा। थोड़ी देर में एक स्वामी मिला जिसने बटन दबाकर थोड़ी दूर तक प्रकाश कर दिया। तुरन्त कूदकर जसुभा एक दरवाजे के पीछे छिप गये, उनके पीछे-पीछे रणुभा भी छिप गये। थोड़ी ही देर में बिजली बुझाकर स्वामी वहाँ से चला गया। बीच में ही पकड़े जाने के भय से जसुभा ने सामने का रास्ता

लिया और जल्दी-जल्दी चलने का प्रयत्न किया। तुरन्त ही दोनों व्यक्ति चौंककर खड़े हो गये। दूर से दो आवाज सुनाई दी, जिसे सुनकर दोनों के हृदय में भिन्न-भिन्न भाव उत्पन्न हुए। उसमें से एक अनंतानन्द की विविध भाव दर्शाने वाली सुसंस्कृत आवाज थी और दूसरी मीठी बोली रघुभाई की लग रही थी। आवाज पास आई। दोनों दीवाल में सटकर साँस रोककर खड़े हो गये।

'कल प्रातःकाल बात न हो सकेगी ?' अनंतानन्द ने पूछा—'इस समय मैं बहुत काम में हूँ।'

'मेरा काम भी अत्यन्त आवश्यक है नहीं तो इस समय आपको क्यों रोकता ? एकान्त में चलिये, यदि मेरा कथन आवश्यक जान न पड़ेगा तो मैं चला जाऊँगा।'

'अच्छी बात है।' कहकर दोनों आगे बढ़ गये।

'रणु !' जमुभा ने धीरे से कहा, 'इन दोनों धूर्त्तों को देखा ? आओ हम भी इनके पीछे चलें।'

'महाराज ! उन्हें जाने दीजिये, अब तो यहाँ से निकल चलने में ही अपनी कुशल है। यदि हम पकड़े गये तब ?' धीरे से कहकर रणुभा ने उनका हाथ पकड़ लिया।

जमुभा इस समय पूर्ण आवेश में थे। घर में पाला हुआ शेर लोहू चखकर जिस प्रकार भयंकर होता है वैसे ही भय और साहस के कारण उनकी सुप्त वीरता जागृत हो उठी थी और भय-जनक प्रसंग का भरपूर आनन्द लेने की दृढ़ इच्छा उनमें उत्पन्न हो गई थी।

'नहीं, तुम जाना चाहो तो जा सकते हो, मैं तो इनके पीछे अवश्य जाऊँगा। कहकर जसुभा उन दोनों के पीछे चले। विवश हो रणु ने भी चुपचाप उनका साथ दिया। अनंतानंद का स्वर जिसे वह आज तक पूज्य समझता था, सुनकर वह पुनः व्यथित हो उठा; संध्या के अनुभव का स्मरण हरा हो गया। स्वामी पर क्रोध उत्पन्न हुआ। किए गए विश्वासघात से चोट पहुँची। उसका वश चलता तो अनंतानंद का कभी मुँह भी न देखता, किन्तु इस समय राजभक्ति से लाचार था।

आवाज का अनुसरण करते हुये दोनों व्यक्ति चले। तीसरे खण्ड पर पहुँच कर उन्होंने स्वामी को जा पकड़ा। उन्हें बराबर डर बना रहता था कि कहीं से एकाएक बिजली का प्रकाश उनकी उपस्थिति प्रकट न कर दे। इस प्रकार चलते हुए सब लोग एक लम्बे गलियारे में पहुँचे जिसमें एक के पीछे एक बहुत सी आलमारियों का जमघट था। सावधानी से जसुभा उनके पीछे-पीछे चले जा रहे थे। सबसे अन्तिम कमरे में पहुँचकर अनंतानंद ने बिजली जलाई। बिजली के प्रकाश से कमरे में रखी हुई पुस्तकों को देखकर जसुभा भी आश्चर्यचकित हो

गये। यह पुस्तक उन्हें भिन्न-भिन्न भाषा की जान पड़ीं। उन्होंने स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि स्वामीजी इतने दिग्गज विद्वान् होंगे।

बिजली के नीचे एक विशाल टेबुल पड़ा हुआ था। यह कमरा किसी पाश्चात्य प्रोफेसर के अभ्यासगृह जैसा लग रहा था। रघुभाई के बैठने के लिए एक कुर्सी दे कर स्वामीजी उसके सामने बैठ गये। जसुभा एक आलमारी पीछे छिप कर उन दोनों की बातचीत सुनने लगे।

कुछ देर तक अनंतानन्द घूर कर रघुभाई को देखते रहे। रघभाई ने अन्तिम द्वन्द्वयुद्ध के लिए अपनी पूरी शक्ति एकत्र की थी।

'कहो रघुभाई, क्या कहना चाहते हो ?' स्वामी ने पूछा।

इस समय भी उनका गौरव देखकर जसुभा चकित हुए। धूर्तों में रहने वाली अधमता की छोटी से छोटी रेखा का चिन्ह भी उनके चेहरे पर नहीं था।

'स्वामी जबरदस्त है।' वह बड़बड़ाया।

'महाराज ! आज छः वर्ष से आपके साथ काम कर रहा हूँ, आज ही साफ साफ बातें करने का समय मिला है।'

'यह तो तुम जानो, परन्तु मेरा व्यवहार तो बिलकुल साफ और स्पष्ट रहा है।

'उसे कहने-सुनने का यह समय नहीं है।' सिर नीचा कर रघुभाई ने अपनी बात कहना आरम्भ किया, 'महाराज ! मुझे तो इतना ही कहना है कि जब से मैंने आपके साथ काम करना प्रारम्भ किया तब से आज तक आपके ही लिए मैंने सब प्रयत्न किये हैं और उसका प्रमाण देने के लिए ही मैं इस समय आपके पास आया हूँ जिससे आपको विश्वास हो जायगा कि आप के हित के लिए मैं कितना प्रयत्नशील रहा हूँ।'

अपनी तेजस्वी आँखों की निर्मल प्रभा से रघुभाई के हृदय को उत्तर दे रहे हों इस प्रकार देखते हुए स्वामी जी बोले—'हूँ।'

'जसुभा इस समय यहीं हैं ?'

'हां !'

'तब तो यह अवसर बड़ा अच्छा है, जो कुछ हम लोगों ने सोच रखा है, उसे कर ही डालना चाहिए।'

४०

'हम लोगों ने क्या सोच रखा है ?'

'महाराज ! यह तो आप ही जानते होंगे ! नहीं तो रेवाशंकर की

कुव्यवस्था का प्रमाण आप एकत्र क्यों करते और महाराज को यहाँ लाने का इतना परिश्रम क्यों करते ? आपके लक्ष्य का मुझे पता है और उसे प्राप्त करने में सहायता करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।'

'बहुत ठीक, तब इस समय तुम क्या करना चाहते हो ?' एक तठस्थ व्यक्ति के जैसी विरक्ति के साथ स्वामीजी ने पूछा।

'क्या-क्या ? ऐसा अवसर भी क्या फिर हाथ लगेगा ? जसुभा अपने हाथ में हैं। मेरे पास एक अद्‌भुत भेद है जिसे मैं आपको बताने के लिए आया हूँ। उसका उपयोग कीजिये, और फिर आपके पौ बारह हैं।'

'यह अद्‌भुत भेद मुझे बताने के लिए आने का कारण ?'

यह सुनकर जसुभा ने सन्तोष की साँस ली। अनंतानन्द के प्रति उसका आदर बढ़ता ही गया। उन्हें विश्वास हो गया कि रघुभाई और स्वामी दोनों एक ही श्रेणी में कदापि नहीं रखे जा सकते।

'कारण दूसरा क्या ? आपके साथ मैं काम कर रहा हूँ और वह भेद आप के स्वार्थ का है बस इतना ही।'

'मेरा स्वार्थ ? संन्यासियों को कोई स्वत्व ही नहीं होता तब स्वार्थ कैसा ?'

'स्वार्थ कहिये अथवा परमार्थ कह दीजिए चाहे जो कुछ समझिए।' थोड़ा व्यंग करते हुए रघुभाई ने कहा। स्वामी के ऐसे ढंग से वह हमेशा घबरा उठता था। 'यह अवसर चूक जाने से फिर हाथ नहीं लगेगा। आपको क्या पता कि जसुभा क्षण भर में पदभ्रस्ट किये जा सकते हैं ? इसका पता अकेले मुझे है।'

'उनके नौकर होते हुए भी तुम्हारा ऐसा कहना, क्या तुम्हारे लिए नमक हरामी नहीं कही जा सकती ?'

'महाराज ! ऐसे खोटे राजा की नमक हलाली मुझ से नहीं होती। मैं तो अच्छे राजा की ही सेवा करूँगा, स्वर्गीय मानसिंह के पुत्र का जहाँ पसीना गिरेगा वहाँ मेरा खून गिरेगा।'

अनन्तानन्द चुपचाप उसकी ओर देखते रहे।

'महाराज ! यह समय न तो इस प्रकार बैठे रहने का है और न अधिक सोच-विचार करने का है। मुझे आज्ञा दीजिये तो मैं चौबीस घण्टे में जसुभा को दर-दर का भिखारी बना दूं।'

यह सुन कर जसुभा दाँत पीसने लगे।

'किस प्रकार ?' स्वामी जी ने शान्त स्वर में पूछा।

'किस प्रकार ? आपको क्या सचमुच नहीं मालूम ?' रघुभाई ने समझा कि स्वामी को कुछ पता नहीं है, उसने आखिरी पासा फेंका, स्वामीजी ! आप यह कह क्या रहे हैं ? रत्नगढ़ का राज्य क्या इस भिखमंगे का है ? रत्नगढ़ की विशाल भूमि के सच्चे मालिक तो आप हैं।'

'मैं ?' स्वर में वही अपूर्व शान्ति थी। उनकी आँखें केवल रघुभाई पर ही गड़ी हुई थीं।

जसुभा अंधेरे में आँखें फाड़-फाड़ कर देखने लगे।

'जी हाँ आप ! सच्चे अधिकारी आप हैं। यदि आप आज्ञा दें तो तीन मास में ही आप गद्दी पर विराजने लगें।'

'जसुभा कौन हैं ?'

'जसुभा ! महाराज क्षमा करें, मुझे राज बा की चरित्र-हीनता बतलानी ही पड़ेगी; लाचारी है ! राज बा के दो पुत्र थे, एक विवाह के पूर्व उत्पन्न वह जसुभा, एवं दूसरा विवाह के पश्चात् उत्पन्न वह आप।'

यह सुनकर स्वामी के चेहरे पर तनिक भी परिवर्तन दिखाई नहीं दिया।

'तब वह कैसे गद्दी पर बैठा ?'

रघुभाई ने समझा कि अब स्वामी ठिकाने पर आया, वह बोला—'राज बा दरेसाल रहती थीं। आपके गुरु अमोघानन्द की वे शिष्या थीं। पहला बालक उन को सौंप दिया, इसके पश्चात् आप हुए, किन्तु प्रथम पुत्र पर उन्हें अथाह प्रेम था, अतः बड़ा होने पर दोनों में अदल-बदल हुआ जसुभा राजकुमार माने जाने लगे।'

आलमारी के पीछे रणुभा और जसुभा एक दूसरे की ओर देखने लगे। दोनों का हृदय धड़क रहा था।

'इसका प्रमाण ?' स्वस्थ स्वर में अनन्तानन्द ने पूछा।

'प्रमाण ? जितना चाहें दोलाशा, कल्याण नायक, पत्र, जन्म-पत्रिका, जो भी आप चाहें। आपकी आज्ञा भर की देर है। रेसीडेंसी सब अपने हाथ में है।

'और मेरी आज्ञा लेने के लिए यहाँ आये हो रघुभाई ! क्यों ?' शान्ति पूर्वक स्वामीजी बोले, परन्तु उनकी आवाज में गूढ़ प्रभाव की झंकार थी। 'यह तुमने कैसे समझ लिया कि अनन्तानन्द तुम्हारी बात मान लेगा ? जैसा तुम कह रहे हो वैसी ही आज्ञा दे देगा ? और संन्यास छोड़कर तुम्हारे दर्शाये हुए मार्ग पर चलेगा ?' उनकी आवाज में ग्लानि आई, 'रघुभाई ? रघुभाई ? तुम पर मुझे दया आती है। तुम्हारी बुद्धि एवं कुशलता के प्रणाम में यदि तुममें शुद्ध अभिलाषा होती तो आज तुम अनेक प्राणियों के सुख के साधनरूप हो जाते किन्तु तुम्हारा घड़ा भर गया है।'

रघुभाई तो भय से काँप उठा। यह तो स्वामीजी की चमकती हुई आँखों को मूकवत् देखता रह गया।

'तुम समझते हो कि मैं कुछ भी जानता नहीं। क्यों ? तुम्हारी दुर्गापुर की यात्रा, दोलाशा से मिलाप, मुझसे छिपा है ? जसुभा के बारत आने से पीछे कौन

रोक रहा था ? येस्तनजी के साथ छिपकर कौन बात कर रहा था ? इस समय यहाँ मुझे पकड़ने के लिए और जसुभा को ले जाने के लिए रेसीडेंसी के मनुष्यों को किसने तैयार रखा है ? तुमने—रघुभाई ! अभी जसुमा से क्या बातें कर आये हो ? दीवानी माँगने गये थे ! क्यों ? जसुभा द्वारा निकाले जाने पर मेरे पास आये हो। क्यों ? अभी तक तुम्हें पता नहीं है कि अनन्तानन्द को धोखा देना टेढ़ी खीर है।

'जो कुछ भी हो, यदि आपको मेरे भेद का उपयोग करना हो तो कीजिये, मुझे क्या ?' हाथ में बाजी को निकली जाती हुई देखकर आखिरी दाँव रघुभाई ने रखा।

'तुम्हारा भेद ? इस भेद को तो मैं आज से नहीं बीस वर्ष से जानता हूँ। किन्तु तुम्हारा भेद और तुम्हारे क्षुद्र राज्य की मुझे क्या परवाह है ? तुम्हारा पराधीन राज्य एवं भाड़े का अधिकार तो क्या, साम्राज्य के अधिकार की अपेक्षा भी मेरा संन्यस्त मुझे अधिक प्रिय है और अधिक प्रभावशाली है। यदि राजवा ने भूल सी तो अच्छे के लिए ही, नहीं तो जो आनन्द एवं जो साम्राज्य का अनुभव आज मैं कर सकता हूँ, उसका अंशमात्र भी मुझे न मिल सकता। यदि जसुभा को पदभ्रष्ट करना होता तो क्या मुझे देर लगती ? परन्तु किस लिए ? मुझे राजपाट का क्या करना है ? उसे राजभोग करने का शौक है तो भले ही करे—मुझे सचमुच राज्य करना होगा तो वह सत्ता प्राप्त करने में क्या मुझे देर लगेगी ? परन्तु मुझे राज्य का उद्धार करना है, विनाश नहीं। रेवाशंकर को पदच्युत करने से उसने इन्कार कर दिया, प्रातःकाल उसके पास फिर जाऊँगा, उसके पैर पड़ूँगा—कहूँगा कि सच्चा अधिकारी होते हुए भी भिक्षा माँगता हूँ कि राज्य का उद्धार करने की सत्ता मुझे दो। यह तुम्हारा भेद मैं किसी पर भी प्रकट न करता किन्तु जसुभा न मानेगा तो उसका उपयोग इस रूप में करूँगा। इस समय उस बिचारे की खबर नहीं कि—'

'नहीं क्यों ? है।' गद्‌गद् कण्ठ से आलमारी के पीछे से बाहर आते हुए जसुभा बोले। उनके मन पर पड़ा हुआ अन्धकार नष्ट हो गया था। उसने रहस्य समझा, अनन्तानन्द को पहचाना, उसकी भावना उनकी भव्यता का पूर्ण ज्ञान हुआ। उनका हृदय भर गया था, उनकी आंखों में आँसू थे, मात-भाव ने पूज्य भाव ने उनके स्वार्थ को—स्वार्थवृत्ति को पराजित कर दिया था।

स्वामी और रघुभाई चौंककर उधर घूमे। रघुभाई को अपने पराजित होने का विश्वास हो गया। उसकी सब हक्की-बक्की भूल गई।

'ओ हो जसुभा !' मुस्कराते हुए स्वामी जी बोले। वह पूर्ण शांति से बैठे हुए थे—'इस समय आपके लिए बहुत सी बातें चुनने योग्य नहीं थीं।'

परन्तु इस कथन के पूर्व ही जसुभा स्वामी के पैरों पर गिर पड़े, उनके

अश्रु बिन्दुओं से जमीन तर होने लगी।

'भाई ! भाई ! तुम तो साक्षात देवता हो। इसी समय की बातें तो मेरे सुनने लायक थीं।'

स्वामी जी ने जसुभा को उठाकर उनके सिर पर हाथ फरा।

'जसुभा ! यह सम्बन्ध भूल जाओ, मुझे सम्बन्ध से क्या मतलब ? जिसमें जितना अंश सच्चिदानन्दत्व है उतने ही अंश में वह मेरा सम्बन्धी है। तुम्हारी भाषा में मैं कहूँ तो आप मेरे महाराजा हैं और मैं आपका संन्यासी हूँ। आइये विराजिये !' कहकर अपनी कुर्सी पर बैठने का अनन्तानन्द ने संकेत किया।

जसुभा बैठे नहीं, खड़े ही रहे। चारों व्यक्ति खड़े रहे। रणुभा का मन व्याकुल हो रहा था। उनका पूज्यभाव तो उनका हृदय फाड़कर निकलना चाहता था, केवल चम्पा की स्मृति उसे रोक रही थी। किन्तु मानसिंह जी के पुत्र और स्वयं उनके गुरु ! भले ही चम्पा को ले जाएँ, उसके लिए चम्पा अब अस्पर्श्य है।

'किन्तु जसुभा !' रघुभाई की ओर घूमते ही स्वामी जी के चेहरे पर कठारता एवं आँखों में दयाहीनता आ गई ; बसन्त की रसमयता लुप्त हो गई, उसका स्थान ग्रीष्म के प्रारम्भ की शुष्कता ने ले लिया, 'एक गृहस्थ की हम लोग विनती भी स्वीकार न कर सकें, क्यों रघुभाई ! अब तो तुम्हारा तुच्छ, स्वार्थपूर्ण खेल समाप्त हो गया।'

'रघुभाई ! अब अपना मुँह काला करो तुम्हें छुट्टी है।' जसुभा क्रोध से बोले।

'यह तो सवेरे देखियेगा।' रघुभाई में अब भी ताव था।

'क्या ! मरने पर मियां जी कब्र में टांग ऊँची किये हुए हैं !' जसुभा बोले, 'कल सुबह ही रेसीडेंसी में लिखूँगा कि तू मुझे धमकाने आया था।'

'महाराज आपकी धमण्डी अनीति का प्रमाण।'

वाक्य पूरा करने के पूर्व ही रणुभा ने उसका गला धर दबाया। अनंतानंद ने गौरव से हाथ ऊँचा किया, उसके शान्त स्वर ने रणुभा को रोका—'रणुभा जाने दो। यह जन्तु तुम्हारे क्रोध का भी पात्र होने योग्य नहीं है। और—

'रघुभाई ? व्यर्थ शेखी मत बघारो।' कहकर टेबुल के दराज में से स्वामी जी ने कुछ कागज निकाले। यह है तुम्हारी दौलत और ये हैं तुम्हारे पत्र जिन्हें तुमने पेस्तनजी को लिखा था ! और कुछ बाकी है ! तुम्हारे सभी आदमी कैद हो चुके हैं। तुम्हारा पारसी मित्र मेरा नौकर है। और कुछ ! हाँ एक ही बात बाकी है। जसुभा ! जरा यहाँ बैठो और रघुभाई को राज्य छोड़ने का आज्ञापत्र तो लिखो।'

जसुभा वैसा करने के लिए बैठ गये। उनके चेहरे पर छोटे बालक की

नम्रता व्याप रही थी ।

रघुभाई! जाओ ; इस राज्य में तुम्हारा काम नहीं है। परन्तु पृथ्वी विशाल है अब रत्नगढ़ के राजकीय खटपट में यदि तुमने भाग लिया तब समझ रखना । रामकृष्णदासजी ने तो कुएँ में लटकाकर वापस निकाल लिया, अनन्तानन्द उतना भी नहीं करेगा । जाओ परमेश्वर का भजन करो ताकि वह तुम्हारे मलीन हृदय को निर्मल करे ।' टेबुल पर रखी हुई घण्टी उन्होंने बजाई, एक नौकर आया, जाओ नीतिसेन को बुला लाओ ।' उन्होंने आदेश दिया ।

'जसुभा ! एक कृपा और करोगे ?'

'जो आज्ञा दीजिये ।'

'रेवाशंकर को एक पत्र नौकरी से हट जाने का और लिख दो ।'

'आप अपना निश्चय ही करवायेंगे, क्यों ? गरीब बेचारा रेवाशंकर !' कहकर जसुभा ने कलम हाथ में ली । थोड़ी देर में नीतिसेन आया । वह बीस बाईस वर्ष का हृष्ट-पुष्ट युवक था ।

'जसुभा ! यह आपके वारत का कोतवाल है !'

'कुछ छोटा है ?' क्यों जसुभा ने पूछा ।

'जी नहीं, हमारे यहाँ प्रत्येक बालक बीस से बाईस वर्ष तक गाँव का रक्षण करना सीखता है ।'

'मिलिशिया, स्वामी ! आपने यूरप में जन्म लिया होता तो कहीं अच्छा होता ।'

'कैसे जाना ! 'पुअर हाउस' में भूख से मर न गया होता ?? नीतिसेन ! यह पत्र ले जाकर रत्नगढ़ के दीवान को दो । साथ में पच्चीस मनुष्य लेते जाओ और आज्ञानुसार कार्य करना । रणुभा ! तुम्हें जाकर रेवाशंकर से चार्ज लेना है ।'

'मुझे ?' रणुभा ने चकित होकर पूछा ।

उसने शंका से जसुभा की ओर देखा । 'बहुत ठीक, रणु दीवान यह भी खेल है ।'

'मैं जाऊँ, सरकार ?' रणुभा स्तम्भित था ।

'घबराओ मत,' स्वामीजी मन का भाव ताड़कर बोले 'तुम्हारे जसुभा का बाल भी बाँका नहीं होगा । नीतिसेन ! पाँच मनुष्य इस रघुभाई के साथ भेज दो, देखो रत्नगढ़ की सरहद तक किसी से भी इसे बात करने मत देना । जाओ व्यर्थ घोड़े इन्तजारी में खड़े होंगे ।'

'पहले से ही तैयार रखा है क्या ?' जसुभा ने पूछा ।

'जी नहीं, यह तो रघुभाई की कृपा है, रेसीडेंसी की फौज तो इन्होंने मँगाई थी ।'

क्रोध और ईर्ष्या से अनन्तानन्द की ओर देखकर सिर नीचा किये हुए रघुभाई बाहर निकले। पीछे नीतिसेन गया, किन्तु रणुभा का पैर नहीं उठता था। 'रणुभा !' स्वामी जी ने कहा 'चम्पा के कारण उदास हो रहे हो क्या ?'

रणुभा नीचे देखने लगे। उसकी चिन्ता का कारण स्वामी जी समझ गये थे।

'मैं कहीं ले नहीं गया हूँ, स्वयं गिरनार गई है, कुछ दिन तक योगिनी रह कर वापस लौटेगी। जाओ अब निश्चयतापूर्वक रेवाशंकर को विदा करो।

रणुभा ने कृतज्ञतापूर्ण दृष्टि से स्वामी जी की ओर देखा और वह हलके मन से बाहर निकले।

४१

रघुभाई को यहीं छोड़कर चलिए जरा जगत की खोज-खबर लें। डुम्मस से वह हर्षित होकर लौटा। उसमें अभी तक पूर्णज्ञान का संचार नहीं हुआ था। विदा जैसे गम्भीर अवसर पर जैसी दूरदर्शिता चाहिए और तनमन के मिलाप के पश्चात् इस प्रकार के प्रेम के परिणामस्वरूप जैसे गम्भीर विचार आने चाहियें, वह सब उसमें आये नहीं थे। उसका मन तो इस प्रकार से प्रफुल्लित था। तनमन जैसी प्रियतमा प्राप्त करने की आशा से उसके हाथ में सहस्रगुणी शक्ति आ गई थी, येन-केन-प्रकारेण अपनी शिक्षा पूर्ण कर तनमन को अपनी बनाकर जीवन यथाशक्ति सार्थक करना, यही विचार उसके मन में बराबर चक्कर लगाया करते थे।

जब वह सूरत आया, गुणवन्ती ने कठिन परिश्रम एवं उपवास करके बीमारी को स्वयं न्यौता देकर बुला लिया था। एक पखवाड़े में उसकी निर्बलता अत्यधिक बढ़ गई थी फलस्वरूप बड़ी कठिनता से वह बिछौने पर से उठ सकती थी। बच्चू ने डाक्टर की दवा प्रारम्भ कर दी थी। जगत को देख कर उसकी आँखें स्नेहार्द्र हो गईं।

'जगत आ गये ? स्वास्थ्य तो पहले से बहुत सुधरा हुआ है।'

'परन्तु माँ ! आपको यह क्या हो गया है ?'

'कुछ नहीं जी।' जरा बेफिक्री दिखाते हुए गुणवन्ती ने कहा। 'थोड़ा ज्वर आ रहा है ; वह जाता रहेगा। डुम्मस में मन लगता था न।'

'हाँ', जरा खुश होकर जगत बोला—'माँ आपको प्रणाम कहा है।'

'किसने ?'

'तनमन आपको याद है ना ?' जगत ने पूछा। उसके मुँह की मुस्कराहट एवं स्वर का कंपन उसके हृदय के भाव को बता रहे थे।

'कौन वह तुम्हारी 'देवी' ? उससे भेंट हुई थी क्या ? अब तो वह बड़ी हो गई होगी ?'

जगत की इच्छा सब कुछ बता देने की हुई परन्तु उसकी जीभ ने जवाब दे दिया।

'जी हाँ, हरिलाल चाचा तो वृद्ध हो गये हैं।'

'अवश्य ही हो गये होंगे। तू कितना छोटा था और अब कितना बड़ा हो गया है ?'

जगत को डुम्मस स्मरण करने का अधिक समय नहीं मिला। गुणवन्ती की हालत दिनों दिन खराब होती गयी, दिन-रात उसकी सेवा में ही जगत को लगे रहना पड़ता था। उसे विचार करने का अधिक समय नहीं मिलता था ; फिर भी तनमन उसकी आँखों के सामने नाचा करती थी। कभी-कभी हवाई किले बनाने में ही वह मस्त रहता। तनमन पर पड़ी हुई विपद का उसे कुछ पता नहीं था। वह डुम्मस में इस प्रकार घूमती होगी, इस प्रकार गाती होती, आम्रवाटिका में बैठकर—'पिया तैं कहाँ गयो नेहरा लगाय' यह ललित पद गाती होगी, इस प्रकार के विचारों में वह मग्न हो जाता और गुणवन्ती की बीमारी की सेवा-सुश्रुषा से विमुक्त होते ही अपनी 'देवी' लायक होने का प्रयत्न करने का निश्चय करता। उसका जीवन अभी तक अनियमित था, अब उसमें तनमन का प्रवेश हो गया था। उसका मन गर्व से प्रमुदित हो गया, साहस बढ़ा। संसार में विजय प्राप्त करना, यह बहुत साधारण-सी बात प्रतीत हुई। अपनी प्रियसी की प्रशंसा एवं उसका प्रेम प्राप्त करने के लिए उच्च प्रयत्न करना ही बहुत से मनुष्यों के जीवन का ध्येय होता है।

ऐसे सुखमय स्वप्न में एक दिन विपमता आई। डाक्टर के वहाँ से लौटते समय अचानक राह में रघुभाई से उसकी भेंट हो गई। रघुभाई अनन्तानन्द से पराजित होकर रत्नगढ़ से यहाँ एक दिन पहले ही आया था। जगत और रघुभाई की आखें मिली। दोनों विचार में पड़ गये। छः वर्ष पश्चात दोनों मिले थे परन्तु न मिले होते तो ही अच्छा हुआ होता—यह विचार दोनों के मन में एक साथ ही आये। उनकी समझ में नहीं आया कि एक-दूसरे को बुलायें या नहीं। रघुभाई की नीति-निपुणता ने इस समय भी उसकी सहायता की।

'ओ हो हो जगत किशोर ? कैसे हो भाई ?'

'अच्छा हूँ।' थोड़ी विरक्ति से जगत ने उत्तर दिया। रत्नगढ़ क्यों और कैसे उसे तथा उसकी प्यारी माँ को छोड़ना पड़ा था; यह याद आया और उसके हृदय में विप व्याप गया।

'भाभी कैसी है ?'

'अच्छी हैं।' कहकर रघुभाई को छोड़कर जगत चलता बना।

रघुभाई को पुरानी घटना याद आ गई। इस देश निकाले से उसका मन पीड़ित था, सूरत में लोग उसे तिरस्कार से देखते होंगे, इस विचार से उसे दुख होता था। उस पर इस विचार ने तो आग में घी का काम किया। गुणवन्ती का रूप, गुण एवं विवेक का उसे स्मरण आया। एक बार फिर उससे मिलने की इच्छा हुई परन्तु कौन सा मुँह लेकर जाय ?

सूरत में कुछ दिन रहकर बम्बई जाने का उसने विचार किया था। वहाँ के अथाह जनसमूह में उसकी ओर कोई ध्यान न देगा ; वहाँ के वैचित्र्य में उसके जैसे मनुष्यों के भी मिल जाने की पूर्ण सम्भावना थी। वहाँ की नवीन जान-पहचान में उसके किए हुए कर्मों के अज्ञान से लोगों में प्रतिष्ठा प्राप्त करने की महत्वाकाँक्षा भी परिपूर्ण होने की उसे भरपूर आशा थी। वहाँ जाकर जीवन का नवीन अध्याय प्रारम्भ करने से पहले गुणवन्ती से मिलने की उसे इच्छा हुई। उससे भेंट करने का बहाना वह ढूँढ़ने लगा।

इसी विचार में लीन वह घर पहुँचा। बरामदे में रमा खड़ी थी। उसकी बड़ी, निदोष आँखें दूर गलियारे में खेलते हुए बालकों को देख रही थीं। वह मिष्टभाषी थी। अभी उसका शरीर अशक्त तथा इकहरा था परन्तु भविष्य में सुन्दर और सुदृढ़ हो जायगा ऐसा अभी से जान पड़ता था।

रमा रघुभाई से बहुत डरती थी। नीति-निपुण बाप के मस्तिष्क में स्नेह के लिए अधिक स्थान जो नहीं था। वह विवश होने पर ही उसे बुलाता था। उसके ठंडे, भावहीन शब्दों में बालकों के निदोष हृदय को आकृष्ट करने की कोई विशेषता नहीं थी।

'रमा ? तुम्हारी माँ क्या कर रही हैं ?

रमा थोड़ा हँसकर बोली—'भीतर हैं।'

कमला ऊपर सामान निकाल रही थी। उसमें कोई गुण बड़ा था तो केवल पति में अगाध श्रद्धा। उसके लिए रघुभाई ईश्वर थे, उसका कथन वेद प्रमाण था। रत्नगढ़ से उन्हें अचानक क्यों भागना पड़ा। नायब दिवानी क्यों छोड़नी पड़ी आदि बातों के सम्बन्ध में कभी वह कुछ सोचती नहीं थी। एक तो रघुभाई से बहुत डरती थी जिसे पत्थर की मूर्ति एवं उसके पुजारी में जितनी सहानुभूति हो सकती है उतनी ही इन दोनों में थी। वहाँ आने पर भी वह अपनी पूर्व सरलता से गृहकार्य में लग गई।

'अरे ओ ? गुणवन्ती भाभी से मिल आई ?'

'हाँ कल हो आई।' एक थाली साफ करते हुए उसने उत्तर दिया—'मुझ से तो रहा ही नहीं गया।'

कैसी हैं ?'

'बेचारी बीमार पड़ी है; किन्तु कैसी भली है ?'

'अभी तो संसार से जाने की आशा नहीं है न ?'

'कुछ कहा नहीं जा सकता। बिलकुल सूखकर काँटा हो गई है।'

रघुभाई ने कुछ उत्तर नहीं दिया। उसके मन में अनेक विचार उत्पन्न हो रहे थे।

४२

अगले दिन गुणवन्ती की स्थिति और भी खराब हो गई। अन्य दिनों की अपेक्षा आज ज्वर बढ़ गया था और आँखों की पलकें बड़ी कठिनता से खुलती थी। बच्चू और उनकी पत्नी कुन्दन पास में बैठे थे डाक्टर के वहाँ से जगत के लौटकर आने पर गुणवन्ती ने आँखें खोलीं और जरा फीकी हँसी हँसने की चेष्टा भी की। जगत चारपाई पर बैठा और नाड़ी देखने लगा।

'माँ, कब तबीयत कैसी है ?'

'अच्छी है बड़ी कठिनता से गुणवन्ती ने कहा। उसकी स्पष्ठ निर्बलता ने जगत के मन में भयंकर विचार उत्पन्न कर दिया। उसे भय होने लगा कि माँ की साधारण बीमारी कहीं घातक न सिद्ध हो।

'कुछ बेचैनी तो नहीं है ?'

'नहीं ! बेकार क्यों घबरा रहे हैं बबुआजी !' कुन्दन ने कहा।

'बेटा !' अधिक प्रयास करके गुणवन्ती बोली—घबराओ मत, मुझे कुछ होना नहीं है, यदि कुछ हो भी कुछ चिन्ता भी नहीं है। मुझ जैसी के जिंदा रहने से लाभ भी क्या ?'

'चाची ! यह आप क्या कह रही हैं !' बच्चू ने कहा।

'बच्चू ! जीवन सब को प्यारा है। अभी मुझे जगत को ठिकाने लगाना है, परन्तु मेरा विचार पूर्ण होते दिखाई नहीं देता।'

'माँ यह सब विचार कर अपनी शक्ति क्यों नष्ट कर रही हो ? जल्दी ही सब ठीक हो जायगा।'

गुणवन्ती ने आँखें बन्द कर लीं। अब अधिक बोलना उसके लिए असह्य था। सभी चुपचाप बैठे थे; उसकी श्वाँस तेजी से चलने लगी। उसके गाल बैठ गये थे, हड्डियाँ बाहर निकल आई थीं जिससे चेहरा भयानक लग रहा था। जगत की छाती धड़कने लगी।

'बच्चू भाई ! आप बैठिये, डाक्टर को एक बार फिर बुला लाऊँ।

'जगत बेटा !' जगत की बात सुनने पर गुणवन्ती अपनी निस्तेज आँखों

को खोल कर बोली और जगत को हाथ उठाकर कहीं जाने से मना किया।

'कहो माँ, क्या है ?'

'कुछ···नहीं···।' शब्द अत्यन्त धीरे-धीरे निकले रहे : 'जरा···बैठ।'

जगत चुपचाप बैठ गया।

'जगत ! मेरा जी उड़ा रहा है। घबरा मत। बच्चू भाई ! कुन्दन ! मेरे जगत की देखभाल करना, समझे !'

'बहुत अच्छा चाची !' स्नेही भोले बच्चू की आँखे भर आईं।

'जगत ! पढ़ना; बच्चू भाई इसका विवाह कर देना समझे। मैं इसका विवाह देख सकती तो अच्छा होता पर नहीं देख सकूँगी।'

'माँ, माँ, यह क्या कह रही हो। मुझे डाक्टर को तो बुला लाने दो।'

'जरा ठहर तो सही। मुझे अब अपना भरोसा नहीं लगता। कई बार ·· ऊँ···ऊँ···जगत ! जगत ! अँधेरा मालूम पड़ रहा है। रामकृष्ण दासजी से प्रणाम कहना और···और ·।' मन्द पड़ता हुआ स्वर काँप उठा, रघुभाई से कहना कि भगवान उन्हें क्षमा करे। जगत बेटा ! अपने बाप का नाम रखना कुन्दन ! जाओ, अपनी माँ को बुला लाओ, अभी तुम लोग बच्चे हो।' कह कर गुणवन्ती ने आँखें बन्द कर लीं।

'जगत भाई ! जाओ, डाक्टर को बुला लाओ।'

जगत को घबराहट हो रही थी, छाती मानो फटी जा रही थी। अब तक उसे स्वप्न में भी यह विचार नहीं आया था कि उसकी माँ का अन्तकाल निकट है। इस समय उसे चारों ओर शून्य दिखाई पड रहा था। अतिशय दुःख एवं भय ने जड़ता उत्पन्न कर दी थी। वह उठा और तेजी से निकल पड़ा। माँ का कथन अक्षरशः उसके हृदय में अंकित हो गया था रामकृष्णदासजी रघुभाई; एकाएक हृदय में दूसरा विचार आया। अवश्य ही रघुभाई के पाप से ही रतनगढ़ छोड़ना पड़ा था, अन्यथा मरणासन्न माँ यह कभी न कहतीं। माँ—उसकी परम पूज्य माँ—को रघुभाई ने क्या-क्या दुःख दिया होगा ? दुःख से भी सहस्रगुण दुःखमय क्या-क्या अनुभव कराया होगा ? माँ की मृत्यु के भय से जो प्रेम-सरिता बहने लगी थी वह इस प्रवाह में बह निकली। उसे अपने पर तिरस्कार आया, उसकी माँ ने जो-जो सहन किया, उसका उसने क्या बदला लिया ? इसी प्रकार विचार करते हुए वह डाक्टर के यहाँ पहुँचा, दुर्भाग्यवश डाक्टर घर पर नहीं था। पता लगाकर जहाँ डाक्टर गया था वहा गया; वहाँ भी डाक्टर नहीं मिला। उसकी व्याकुलता का ओर-छोर नहीं था। कुछ सूझ नहीं पड़ रहा था कि कहाँ जाए और क्या करे ? शायद माँ को कुछ हो जाए, यह सोच कर वह फिर दौड़ता हुआ डाक्टर के घर पहुँचा। वह घर नहीं आया था। कुछ देर बैठा रहा और फिर लाचार होकर घर की ओर चल पड़ा।

४३

रघुभाई ने दूसरे दिन सुना कि गुणवन्ती की तबियत आज और भी खराब हो गई है। यह सुनकर वह अधिक व्यग्र हुआ। गुणवन्ती के प्रति उसके मन में प्रेम तथा आदर था जिससे चाहे जैसे भी हो मृत्यु के पूर्व एक बार उसका दर्शन करने के लिए रघुभाई का मन तड़प रहा था। वासना व काम के वश हो रघुभाई ने जो कुछ भी किया हो फिर भी वह नैतिक अधोगति की सीमा तक नहीं पहुँचा था। उसके हिमवत् ठंडे, निष्प्राण जीवन-काल में एक ही व्यक्ति ने कुछ उष्णता उत्पन्न की थी और उसे मरण शैय्या पर पड़ा हुआ सुन कर उसे सचमुच बड़ी पीड़ा हुई। कृतज्ञता, पत्नी-प्रेम, सन्तान-प्रेम उसके लिए तुच्छ थे। प्रेम-रस की एक बूँद भूले-भटके जो उसके पाप-क्षेत्र में चू पड़ी थी उसने इस अवसर पर उसे एक कदम और आगे बढ़ने के लिए प्रेरित किया। इसे उसने बुरा नहीं समझा। दूसरे कोई भाव अथवा बन्धन से अनजान होने से वह समझ ही नहीं सकता था कि गुणवन्ती पर मुग्ध होने से उसने कौन-सा अपराध कर डाला ? इस समय वह जो उसे देखने जा रहा था इससे हानि होने की सम्भावना है, इसका उस के मन में विचार तक नहीं आया। अनन्तानन्द द्वारा दी गई शिक्षा से उस ने कुछ भी शिक्षा ग्रहण नहीं की कि संसार में केवल स्वेच्छा ही नहीं चल सकती।

रघुभाई कपड़े बदल कर नीचे उतरा, साफा बाँधते हुए फिर विचार आया कि जाने से क्या लाभ है ? उस का हाथ काँप उठा। परन्तु इच्छा शक्ति की विजय हुई; साफा बाँध कर वह बाहर निकला। रायजी के घर के पास पहुँचने पर वह कुछ रुका। रायजी के घर में नौकर की हैसियत से काम कर के पीछे उन की पत्नी और पुत्र को दर-दर का भिखारी बना दिया था इस पापके लिए उस के मन में तनिक भी पश्चात्ताप नहीं हुआ। साथ ही जिस स्त्री का स्वयं उसने अपमान किया था उसे आसन्न मृत्यु के समय भी अपनी राक्षसी उपस्थिति से क्यों दुखी करे ? यह विचार भी उसके मन में नहीं आया। परन्तु गुणवन्ती शायद कुछ कहे सुने जिसे पास में बैठे हुए लोग सुनें और जिस से उसकी प्रतिष्ठा को धक्का लगे, इस विचार ने उसे व्यग्र कर दिया परन्तु यह विचार अधिक देर तक उस के हृदय में न टिक सका।

घर में प्रवेश करने पर चारों ओर शान्ति दिखाई पड़ी। घर की दन्य दशा देख कर बम्बई में अपने नाम से बैंक में जमा किए हुए रुपए स्मरण हो आए जिस से वह पुलकित हुआ। भीतर कमरे में झाँक कर देखने पर मालूम हुआ कि गुणवन्ती वहीं है और सद्भाग्य से उस समय वहाँ पर कोई उपस्थित नहीं था। जगत डाक्टर के यहाँ गया था, कुन्दन अपनी माँ को बुलाने गई थी और

बच्चूभाई चाची को सोई हुई समझ कर पास ही कमरे में झपकी ले रहा था।

गुणवन्ती की चारपाई के पास रघुभाई गया। पास ही एक छोटी-सी दीवट पर दीपक जल रहा था। उसका अस्थिर प्रकाश गुणवन्ती के अर्द्ध निष्प्राण शरीर पर पड़ रहा था। उस के शरीर में हुए परिवर्तन को देख कर रघुभाई का मन दुःखी हुआ। गुणवन्ती का तेजोमय शरीर इस दशा को पहुँच गया होगा, यह उसने स्वप्न में भी नहीं सोचा था। दो क्षण तक वह एक टक देखता रह गया। वही आँखें, वही नाक, वही मस्तक किन्तु कितना परिवर्तन ?

कुछ देर बाद गुणवन्ती संज्ञाहीनता की मूर्च्छा से जाग्रत हुई। अपनी ओर देखने वाले को जल्दी नहीं पहचान सकी। उसका चेहरा और पगड़ी परिचित सी लगी किन्तु स्मरण-शक्ति निर्बल पड़ गई थी, आँखों में प्रकाश कम हो गया था, जिस से वह ठीक-ठीक देख नहीं सकती थी। उसी समय किसी गुफा से आ रही हो ऐसी आवाज कान में पहुँची 'गुणवन्ती।' आवाज अधिक परिचित जान पड़ी। दूर का शहर गुणवन्ती को स्मरण आया। रायजी की मृत्यु स्मृति पट पर अंकित हो गई और एक घर, यह मनुष्य, रात का समय, सभी वस्तुएँ स्मरण हो आईं। तदुपरांत यह मनुष्य, कुछ अत्याचार करता-सा मालूम पड़ा। मंद चलती हुई श्वाँस तेज हो गई, भय का संचार हुआ। आँखों से ठीक-ठीक दिखाई नहीं दे रहा था वह बड़ी-बड़ी हो गईं। नाम स्मरण आया, 'र-र-र···' किन्तु जीभ ने जवाब दे दिया। सब कुछ गह्वर में बैठा जाता हुआ-सा मालूम दिया—नीचे और नीचे बिलकुल नीचे। वह मन में बोली, राम-राम ? जगत ? क्या ? कौन ?' चारों ओर अँधकार छा गया।

रघुभाई ने नाम बताया तो अवश्य परन्तु उसने देखा कि उसे देख कर गुणवन्ती भयभीत हो गई सी लगी, उसकी आँखें फट गई थीं। एकाएक श्वाँस बढ़ गया था। अब कहाँ जाय, किसे बुलाए, यह विचार करने लगा। गुणवन्ती बड़ी कठिनाई से श्वाँस ले रही थी।

जगत दौड़ता हुआ आया और घर में घुसा। भीतर घुसते ही एक तारा श्वाँस की तेज आवाज सुनकर वह और तेज दौड़ कर भीतर आया। उसने अपनी माँ को मरते हुए देखा। मूर्तरूप रघुभाई को वहाँ पर, विजयी होकर शत्रुता का बदला ले रहा हो, इस प्रकार, स्वस्थ खड़ा देखा। उसका माथा चकरा गया। स्वभाव में विष था वह बाहर आया। माँ की मृत्यु का शोक उन्मत्तता में बदल गया। पवित्रता के अवसर अपवित्र क्रोध आया। रघुभाई की ओर झपटा, बलपूर्वक उसे बाहर ढकेल दिया। चारपाई के पास पहुँचने पर उसने माँ को दम तोड़ते हुए देखा और बच्चूभाई को पुकारा। देखते-देखते बच्चूभाई और पड़ोसी दौड़ आए; गुणवन्ती को चारपाई से उठा लिया और चौक में ले जाकर उस पर गंगा के शुद्ध पानी से छींटा देने लगे। एक स्त्री ने

सातिया बना दिया, जिस पर गुणवन्ती को सुला दिया गया और 'श्री राम' 'श्री राम' के कोलाहल से मरने वाले व्यक्ति का जीवन और भी उद्वेलित कर जल्दी स्वर्ग में भेजने का प्रयास प्रारम्भ हुआ। इस गड़बड़ी में रघुभाई वहाँ से निकल भागा।

४४

दो प्रकार के शोक होते हैं, एक मनुष्य को दबा देता है, आँसू और आवाज द्वारा बाहर निकल कर अन्तर को आशा, धैर्य एवं शक्ति से हीन बना देता है। दूसरे प्रकार का शोक रग-रग को खींच कर शरीर में तत्कालिक शक्ति प्रदान करता है। वह रोते नहीं देता वह मिलाप द्वारा संसार के बहरे कानों पर असर डालना निरर्थक समझता है और भयंकर गाम्भीर्य की आड़ में विचार-शून्यता भर देता है। जगत का शोक भी द्वितीय श्रेणी का था। वह एक शब्द तक नहीं बोला। उसने एक आँसू भी नहीं गिराया। कठोरता एवं स्वच्छता-पूर्वक प्रचलित रूढ़ि के अनुसार गुणवन्ती को जलाकर उसने कपाल-क्रिया की। बच्चू समझ नहीं सका कि दूसरे लोगों की तरह बिना रोये-धोये, अधर पर अधर बैठाये हुए नीचा सिर किये उसका भाई क्यों विचारमग्न भूत जैसा घर में घूमा करता है। परन्तु जगत का शोक तो विषपूर्ण है। जब से उसने गुणवन्ती की मृत्यु शैय्या के पास रघुभाई खड़ा देखा था तभी से उसके सभी भावों में शून्यता आ गई थी केवल रघुभाई के प्रति द्वेष ही शेष रह गया था श्मशान में भी उसे दूर बैठ कर बुद्धिमानी से गुणवन्ती की प्रशंसा करते हुए देखकर उसका हृदय उछल रहा था। उसके सब विचारों का केन्द्र स्थान एक ही था—रघुभाई को भिखारी बनाना। रघुभाई ने अपमान कर घर से निकाल बाहर किया था, माँ की अन्तिम घड़ी के समय भी अपनी पापमय उपस्थिति से माँ को चैन से उसने मरने तक नहीं दिया। हाथ, पैर, मन सभी रघुभाई की बोटी-बोटी नोच डालने के लिये, उसे मिट्टी में मिला देने के लिए तड़प रहे थे। रघुभाई से बदला लेने का उसने बहुत सा लड़कपन से पूर्ण मंसूबा बाँधा। 'क्या करूँ ? रघुभाई से कैसे प्रतिशोध लूँ ?' जीवन का उद्देश्य बन कर यह समस्या उसे हर क्षण कचौटती रहती थी। मनुष्य हृदय में रहने वाली विष की सरिता जब अचानक फट निकलती है तब उसका जोर भयंकर होता है। उसके तट पर खड़े रह कर स्नान कर अन्तर की ज्वाला शांत करने के लिए मन तरसा करता है। जगत इस सरिता-तीर पर पहले ही पहल आया था। उसके जादू वाले प्रभाव ने उसे पागल बना दिया। कभी-कभी तनमन स्मरण हो आती किन्तु उस

रसीली मूर्ति का प्रभाव अब कम हो गया था। तनमन और रघुभाई दोनों के चेहरे एक एक साथ ही आँख के सामने आकर खड़े हो जाते किन्तु रघुभाई का चेहरा अधिक प्रभाव डालता। मस्तिष्क में प्रतिशोध की लहरें उछल रही हों ऐसा मालूम पड़ता। द्वेष विचार में जगत राक्षस बन जाता। प्रतिशोध के विचार ने उसके मन में भयंकर उथल-पुथल मचा दिया था।

इस प्रकार पन्द्रह दिन व्यतीत हो जाने पर उसमें कुछ स्वस्थता आई। अब क्या करे? अभी वह बालक था; एक तरफ तनमन उसकी बाट जोहती हुई बैठी होगी दूसरी ओर प्रेतलोक से गुणवन्ती बैठी हुई जगत को पूर्ण मनुष्य देखने के लिए उत्सुक होगी। साथ ही कॉलेज खुलने का समय निकट आ जाने से व्यवहारिक बुद्धि बम्बई जाने के लिए भी प्रेरित कर रही थी। एक दिन उसका जी अत्यन्त व्याकुल हो उठा, रघुभाई का चेहरा मुँह देखकर, उस पर थूकने की तीव्र इच्छा हुई। एकाएक वह उठ खड़ा हुआ, और रघुभाई के घर जा पहुँचा। आँगन में रमा खड़ी थी। विस्मय से इस क्रुद्ध बालक को देखती रही, कुछ डरी।

'रघुभाई हैं?'

'जी नहीं, वह तो बम्बई गये हैं।'

जगत दाँत पीसकर रह गया; रमा की ओर देखे बिना वहाँ से निकला। रमा के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। उसके सरल, छोटे संसार में अमृत को छोड़ अभी तक अन्य किसी पदार्थ का समावेश हुआ ही नहीं था।

जगत पहले तो अत्यधिक कुपित हुआ, पश्चात् विवेक आया। तनमन के लिए और रघुभाई को पूरी शिक्षा देने के लिए उसे जीवित रहना है सर्वोत्तम मार्ग पर चलकर और अभ्यास पूरा कर सुचारू रूप से बदला लेना है। अभी बालपन में कुछ कर सकना असम्भव-सा था। यह विचार दिनों-दिन दृढ़ होता गया, जिससे कालेज खुलते ही वह बम्बई चला। जैसे-जैसे ट्रेन बम्बई के नजदीक पहुँचतीं गई वैसे ही वैसे उसकी अशान्ति बढ़ती जाती थी।

प्रत्येक मील के पत्थर के पीछे छूटने पर ध्यान आता कि वह रघुभाई के निकट पहुँचता जा रहा है। वह कालेज में पहुँचा। परन्तु छुट्टी के पूर्व एवं पश्चात् के जगत में बड़ा अन्तर था। पूर्व का जगत बालक था अब प्रेम और द्वेष से परिपूर्ण एक गम्भीर युवक हो गया था। पहले तो उसके मित्र जरा उस से खिजलाये। जगत दो महीने में ही इतना गम्भीर, चिन्तनशील और व्याकुल हो जायगा ऐसा किसी ने सोचा भी नहीं था।

उसमें बहुत परिवर्तन हो गया था। संसार के मधुर जड़ और चेतन पदार्थों पर उसे आसक्ति नहीं रह गयी थी, बालपन अथवा कालेज का स्वतन्त्र आनन्द उसे अब सारहीन प्रतीत होता। उसके जीवन में तो केवल सुख में तनमन का

स्मरण और दुःख में माँ की अकाल मृत्यु; एवं साधारण स्वभाव में उन्मत्तता अथवा गम्भीरता; एवं नियम में कठोर अभ्यास इतना ही रह गया। उसने देखा कि उसका संसार उसके सहाध्यायियों से भिन्न हो गया है। घंटों वह समुद्र तट पर बैठा-बैठा विचार करता रहता और इस नवीन संसार के नवीन प्रश्नों का उत्तर खोजता। प्रायः कोई उत्तर न मिलता जिससे बाध्य होकर फिर पढ़ाई में वह लग जाता था।

४५

सेठ करमदास त्रिभुवन आधुनिक डिजाईन की पतलून की जेब में हाथ डाले हुये अपने बंगले के बरामदे में खड़े थे। उनके मुँह में विलायती सिगरेट सुशोभित थी। जागरण एवं मदिरा पान से कमजोर पड़ गई उनकी आँखें, नाक पर रखे हुये चश्मा के अन्दर से समुद्र की ओर देख रहीं थीं। इस प्रकार स्थित सेठ को देख बम्बई का सार तथा असार दोनों वहाँ मूर्तिमान हुये हैं, ऐसा भास किसी भी द्रष्टा को हो सकता था। बढ़िया से बढ़िया कपड़ा तथा अच्छे से अच्छा 'कट,' बम्बई के कपड़े और दर्जियों की महत्ता का प्रदर्शन करते थे। सिगरेट की गंध को दबाकर सेंट की सुगन्धद्रष्टा इस बात का आश्वासन देती थी कि पेरिस दूर नहीं है। साथ ही आँखों का पीलापन, उसकी निस्तेजता, काले पड़ गये हुए होंठ, हाड़-पंजर के समान शरीर एवं चेहरे पर अच्छादित वासना का प्राबल्य इन सभी पर, बम्बई की स्वच्छन्दत्ता उसके खान-पान और अनीति-सेवन का प्रबन्ध, उसके भावनाहीन वातावरण तथा अधम कृत्रिमता की स्पष्ट छाप दिखाई पड़ रही थी।

जन्म के समय सेठ करमदास बड़े भाग्यवान् थे। इनके पिता सट्टे में करीब ढ़ह लाख रुपये कमाकर वृद्धावस्था में संतान के लिए जब तड़प रहे थे, उसी समय करमदास जैसे सुपुत्र को पाने में भाग्यशाली हुए थे। यदि बंबई के अच्छे से अच्छे ज्योतिषियों के भविष्य-कथन के ऊपर ही मनुष्य का भविष्य बनता होता तो करमदास कभी के ही कोटाधिपति बनकर, प्रेमचन्द रायचन्द की ख्याति को परास्त कर, कारनेगी की भूमिका पर पहुँच गये होते। किन्तु या तो ज्योतिषिगण गणना करने में भूल गये अथवा प्रख्यात ज्योतिषियों की सत्य भविष्यवाणी को एक वार गलत ठहराने के लिए द्वेषी देवताओं ने बृहद् षड्यंत्र रचा हो। जो भी हो परन्तु करमदास के पधारते ही उनकी माँ और बाप दोनों इस संसार को छोड़ परमधाम को सिधारे और वह स्वयं एक बृद्धा मौसी तथा एक चालाक सौलिसिटर की देख-रेख में बढ़ने लगे। करमदास जब तीन वर्ष के

थे तभी उनके माता-पिता का देहान्त हो गया था, अट्ठारह वर्ष बाद पैत्रिक सम्पत्ति उनके हाथ में आई तो अवश्य, परन्तु इस अन्तर में इनके बाप की पूँजी का अधिकाँश भाग उड़ चुका था। पंद्रह लाख रुपया शुभेच्छुकों के हाथ में से करमदास के पास आते-आते सात-आठ लाख हो गया था। लोग चाहे जो भी कहें किन्तु इतना धन बचा था, इससे स्पष्ट मालूम पड़ता है कि करमदास के संरक्षकों और ट्रस्टियों ने अत्यधिक प्रामाणिकता के साथ काम किया होगा। त्रिभुवन सेठ की गद्दी का काम सँभालने के लिए मौसी को दो जामाताओं की सहायता लेनी पड़ी थी। वह जब आये तब भिखारी थे, ऐसी लोकोक्ति थी। न मालूम कैसे तीन-चार वर्ष में भिखारी जामातागण लखपति बनकर त्रिभुवन सेठ की गद्दी के साझीदार बन गये और जब करमदास अट्ठारह वर्ष के हुए उस समय अपने बाप की स्वतन्त्र गद्दी में उनका केवल चार आना भाग मात्र और गंगा मौसी के दोनों जामाताओं का छः-छः आना भाग न जाने कैसे हो गया? मिस्टर पारखेरिया सौलिसिटर भी सम्पत्ति के प्रबन्ध में बड़ा उत्साहपूर्ण भाग लेते थे। पन्द्रह वर्ष के समय में चार-पाँच बड़े-बड़े मुकदमें करमदास की एस्टेट में खड़े हो गये थे जिनमें से दो तो प्रिवी कौंसिल तक गये थे। किया क्या जाय? एस्टेट के रक्षणार्थ खर्च किये बिना कहीं चल सकता था? और ऐसे चतुर, कार्यदक्ष व्यक्ति संरक्षण न करें तो भला दूसरा कौन करेगा?

हाथ में सम्पत्ति लेने पर करमदास ने उसका इस प्रकार विसर्जन करना प्रारम्भ कर दिया मानो उससे उन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया हो। उनका स्वभाव उमरावों जैसा था फलस्वरूप खुशामदी उन्हें घेरे रहते थे। येन-केन-प्रकारेण उमरावों को अपनी उदारता प्रदर्शित करने का अवसर देने का उद्योग प्रारम्भ हुआ। बाप कोलावार सट्टा करता था, बेटा पूना जाकर घुड़दौड़ पर सट्टा करने लगा। ज्यों-ज्यों पूना में घोड़े दौड़ते त्यों-त्यों हाथ में लक्ष्मी दौड़ती। मिस्टर पारखेरिया किसी प्रकार की भी बाधा डालने वाले व्यक्तियों में नहीं थे। अपने मालिक के कच्ची उम्र के बालक को घुड़दौड़ में घोड़ा दौड़ाने के लिए उन्होंने एक के बाद दूसरा मकान रेहन रखना प्रारम्भ कर दिया। चौबीसवें वर्ष में करमदास का घर व बंगला दो-दो तीन-तीन बार रेहन रखा जा चुका था। सेठ जरा घबराये, मिस्टर पारखेरिया कुछ गम्भीर दिखाई पड़े; सेठ की सेवा करते-करते मानो थक गये हों, इस प्रकार पहले जैसा भाव अब नहीं रहा। पहले सेठ के यहाँ प्रतिदिन जाकर स्वास्थ्य समाचार पूछकर अपना बिल सामने रखते थे, अब सेठ करमदास उनसे मिलने के लिए जाते तो कभी-कभी उन्हें भी बाहर बैठा दिया जाता। करमदास सेठ को भी ऐसा दिखाई देता मानो दुनिया का रंग बदल रहा है। उन्हें खबर नहीं थी कि उनके चेकबुक का पृष्ठ समाप्त हो गया है। किन्तु विचार जैसी व्यर्थ की वस्तु के लिए सेठ के छोटे

मस्तिष्क में स्थान नहीं था। सवेरे नौ बजे उठकर, चार मित्रों के साथ चाय पी कर, दोपहर को थोड़ा आराम कर, संध्या होने पर उनकी दिनचर्या प्रारंभ होती थी। मोटर में बैठकर दो-चार मित्रों को साथ लेकर क्लब में जाते। वहाँ 'ब्रिज' खेलकर अपनी जेब थोड़ी हलकी करते। तत्पश्चात् प्रायः फोर्ट में 'कारनेलिया' या 'मैजिनी' में भोजन करके कोलाबा में एक मित्र के यहाँ जाते। बारह बजे के लगभग सब मित्र अपने-अपने घर जाते और तीन बजे के लगभग करमदास सेठ मोटर में अपने बगले पर पहुँचते। दो-एक नौकरों का कहना था कि सेठ को उठाकर ऊपर ले जाना पड़ता था परन्तु यह बात भी संसार प्रसिद्ध है कि नौकर अपने मालिक के सम्बन्ध में यों ही बका करते हैं।

एक दिन सेठ की आँख पर पड़ा हुआ पर्दा कुछ हटा। मिस मेरी को हीरे की इयररिंग देने का वचन दे आये थे परन्तु खरीदने के लिए उसके पास पैसा नहीं था। मिस्टर पारखेरिया ने भी कोई रास्ता नहीं निकाला। मिश्री के समान मीठी नीति से उन्होंने सेठजी को विदा कर दिया। जाते समय उन्होंने कहा—'सेठ ? अब कहीं विवाह करलो, इसके सिवा दूसरा कोई चारा नहीं। समय बड़ा खराब चल रहा है।'

यह मार्ग कुछ ठीक जँचा। गंगा मौसी से पूछने पर उसने भी इस मार्ग की प्रशंसा की। उसने भी इधर-उधर देखा और तुरन्त ही अपने बड़े जामाता को बुलवाया।

'गुलाबदास ! तुम्हारे रिश्तेदार हरिलाल है न ?'

'कौन हरिलाल ? तुम्हारा मतलब सूरत वालों से तो नहीं है !'

'हाँ ! उन्हें अभी कुछ रुपया भी तो मिला है क्यों ?'

'हाँ, चार-पाँच लाख रुपया मिला है। क्यों, क्या काम है ?'

'अरे नवनीत मुझ से कह रही थी कि उनकी एक लड़की है। अपने करमदास के लिए वह कैसी रहेगी ?'

सास और जामाता की आँखें चार हुईं।

'हाँ—हाँ, यह तो आपने बहुत अच्छा सोचा। आप की लड़की को मैं अभी भेजता हूँ। हरिलाल की नई पत्नी की यह 'सहेली' होती है।'

'कौन, अपनी नवनीत ?'

'जी हाँ !'

'ठीक, जाओ तब उसी को भेज दो।'

'उधर।'

रात में सेठ मिस मेरी के पास गए। नौकर ने बताया कि मिस साहिबा सो गई हैं, यदि सेठ हीरे की इयररिंग लाए हों तभी उसे जगाने का साहस करें; ऐसी आज्ञा दे गई हैं। सेठ जरा चकित हुए, जरा डाँट कर बोलने की

कोशिश की तो नौकर ने धमकाते हुए कहा—'अधिक वकवक करोगे तो पुलिस को बुला कर हवाले कर दूँगा।' सेठ जी अपना सा मुँह लेकर लौटे दुनिया भर को गाली देने लगे। इतने में सामने 'बार' पर दृष्टि गई जिसमें घुस गए उन्हें देख कर एक फ्रेंच युवती उनके पास आई और जो कुछ माँगा उसे ला कर उन्हें दे दिया। सेठ ने पैर पर पैर रख कर एक के बाद दूसरा गिला खाली करना प्रारम्भ कर दिया। युवती ने भी सेठ के खर्चे से थोड़ा बहुत खाया पीया। सेठ को जरा हँसा-खिला कर जेब घड़ी उनके जेब से निकाल कर अपने जेब में डाल ली। सेठ फटे हुए गले से 'गौड सेव दी किंग' गा रहे थे किन्तु मुँह से क्या निकल रहा था इसका उन्हें पता नहीं था। थोड़ी देर बाद वह कुर्सी पर लम्बे हो गए, तब वह युवती सेठ के मोटर ड्राइवर को बुला लाई और 'बार' के नौकर और ड्राइवर ने मिल कर सेठ को मोटर में पहुँचाया। सेठ जी प्रभात के शुभ मुहूर्त्त में घर पहुँचे।

दूसरे दिन मिस मेरी के सौलिस्टर की नोटिस आई जिसमें चार महीने का बाकी दो हजार रुपये वेतन सात दिन के भीतर माँगा गया था। न मिलने पर दावा करने की धमकी भी थी। सेठ ने पत्र मिस्टर पारखेरिया के पास भेज दिया। पारखेरिया ने विवाह के सम्बन्ध में पूछताछ की और तिल मैं नया तेल आता हुआ देख कर मिस मेरी से जा कर मिला। फिर कुछ दिन तक सब ठीक चला और तनमन से विवाह करने की बातचीत होने लगी।

और फिर·····

तनमन का विवाह हो गया। विवाह के चार दिन पश्चात् हरिलाल स्वधाम सिधारे। पाणि-ग्रहण के समय तनमन मूर्च्छित हो गई थी। इतने दिनों की पीड़ा से अशक्त शरीर, तेज ज्वर और सन्निपात का शिकार हो गया। बहुत दिनों तक वह मूर्च्छित पड़ी रही। पारखेरिया की सलाह से सब लोगों ने बम्बई आने का निश्चय किया, नहीं तो हरिलाल की सम्पत्ति सूरत में रहने पर उस की देख-रेख भली वे कैसे कर सकते थे! पारखेरिया पुनः पूर्ववत् सरल एवं नम्र बन गए। लोगों को बम्बई जाने का कारण यह बताया गया कि तनमन की तबियत बम्बई जा कर अच्छे डाक्टरों को दिखाए बिना सुधर नहीं सकती। गुलाब ने पुत्री-प्रेमवश वैधव्य के दुःख को ताक पर रख दिया और सेवा करने के लिए वह भी बम्बई आई। श्यामू मामा ने सोचा कि यदि तनमन मर गई तो लोगों में बदनामी होगी इसलिए वह भी सेवा के लिए बम्बई आया। सब लोग बालकेश्वर जा कर ठहरे और हरिलाल के धन का सदुपयोग होने लगा। दो अंग्रेज नर्स तनमन की सेवा करने लगीं परन्तु घर में कोई बीमार है, यह इन को नर्सों को छोड़ सब लोग भूल गए।

इस प्रकार दिन बीतने लगे। तीसरी मंजिल पर इस वैभव की सच्ची

मालकिन मृत्यु-शैय्या पर पड़ी थी। उस खण्ड की भयंकर शान्ति में दो नर्स तथा दो नौकरों के सिवा कोई नहीं जाता था। कभी-कभी नीचे चलने वाली बात-चीत तथा हँसी की आवाज ऊपर भी पहुँच जाती थी। कभी सन्निपात-ग्रस्त पीड़ा से व्याकुल तनमन की चिल्लाहट से वहाँ की शान्ति भंग हो जाती। कभी-कभी उसके मस्तिष्क में सुखी संयोग आ खड़े होते और विक्षिप्तावस्था में उसका फिर अनुभव कर वह हँसती, अशक्त और टूटे हुए स्वर से गाती, दया उत्पन्न करने वाले स्वर में 'किशोर' अथवा 'पिताजी' पुकार कर मस्तिष्क में चक्कर लगाने वाली मूर्त्तियों को सम्बोधन करती। दूसरे ही क्षण किसी से प्रार्थना कर रही हो इस प्रकार विवशता से धीरे-धीरे बड़बड़ाती। ऐसे अवसरों पर उसकी दयाजनक स्थिति देख कर कठोर हृदय वाली विदेशी नर्सों की आँखें भी डबडबा जातीं। थोड़े ही दिनों में अपनी पुत्री के समान तनमन को प्यार करने लगी और नीचे से किसी के आने पर उसे तिरस्कारपूर्वक वहाँ से निकाल बाहर कर देती।

धीरे-धीरे तनमन की अवस्था सुधरने लगी—सान्निपातिक ज्वर कम होने लगा। चारपाई पर वह बैठने लगी, तब उसने अपने कपड़े मंगवाए।

नर्सों की स्नेहपूर्ण आनाकानी का कुछ ख्याल न कर काँपते हुए हाथों से उसने एक के बाद दूसरी जेब तलाश की, आखिर एक जेब में रूमाल मिला, एक हाथ से सब कपड़ों को दूर हटा दिया, कुछ देर तक रूमाल को देखती रही; आँख से आँसू गिरने लगे, रूमाल को उठा कर बिछड़े हुए प्रेमी की भाँति अधरों से लगा लिया।

नर्सों ने तनमन से लेट जाने के लिए कहा, यथाशक्ति नम्रता से मीठी बात करके समझाया। पहले तो तनमन कुछ बिगड़ उठी, पश्चात् शान्त होकर टूटी-फूटी अँग्रेजी में बोली—'मिसेज! कृपा कर केवल यह रूमाल रहने दीजिये; फिर जो कहियेगा करूँगी, अन्यथा कुछ भी न कर सकूँगी।'

'अच्छी बात है, रखिये।' कहकर नर्स चुप हो गई। नर्स बेचारी भली थी। उसे कुछ स्मरण आ गया। बहुत समय पूर्व, युवावस्था में अनुभूत सुख और उस सुख का दाता स्मरण आया; लण्डन के हास्पिटल में मृत्यु शैय्या पर पड़ी हुई पति की छाया आकर दृष्टि के सामने खड़ी हो गई। वक्षःस्थल पर लटकाए हुए उसके स्मृति-चिन्ह को उसने देखा और आँखों से दो बूँद आँसू टपक पड़े। इन आँसुओं ने तनमन और मिसेज कारपोरेल के बीच स्नेह सम्बन्ध को दृढ़ कर दिया।

ज्यों-ज्यों तनमन में शक्ति आने लगी त्यों-त्यों वह छत पर या इधर-उधर जाने के लिए हठ करने लगी। वह समुद्र को ऐसी आतुरता से देखती जैसे किसी पुराने मित्र को पहचानने का प्रयत्न कर रही हो। समुद्र की लहरों को देखते

ही उसे बचपन का गाना याद हो आता। वह सोचती कि यही मित्र उसके स्नेह-स्मरण का साक्षी है, और यही दो जीवन-वियोगिता को बाँधने की रज्जु है। प्रायः वह जीवित समझ कर उससे बातें करती। समुद्र भी उसी गांभीर्य से उसकी बातें सुनकर जो उत्तर उसके उत्फुल्ल यौवन के भावों को डुम्मस में देता था वही उत्तर उसके नीरस तथा वियोग बाल-वृद्धत्व को देता। जो व्यक्ति विश्व से सुखप्रद ढाँढस को त्याग कर अचिर मनुष्य-सम्बन्ध के आश्वासन की आशा रखता है वह पछताता है। विश्व की गोद में ही सुख है और वहीं दुःख का निवारण भी है।

सेठ करमदास बरामदे में मोटर के लिए खड़े थे। उनका मन उल्लसित था क्योंकि मिस मेरी उन पर पुनः निछावर हो गई थी और आज उन्हें विशेष रूप से बुलाया था। फिर से आबाद हो गई तिजोरी को छोड़ मिस भला कहाँ जाती ? मोटर आई, सेठ बैठे और तेजी से कोलाबा की ओर चल पड़ी।

४६

अब तनमन चल-फिर सकती थी। धीरे-धीरे वह छत पर घूमने लगी। उसका सुन्दर शरीर बिल्कुल सूख गया था किन्तु मन की उड़ान अपनी पूर्ववत् अवस्था में ही थी। उसमें कोई कमी नहीं आ पाई थी। अपनी चपल बुद्धि की सहायता से परिवर्तित परिस्थिति को वह समझ गई थी। विवाह, उसका भयंकर इतिहास, अपनी बिमारी, एक-दो बार देखा हुआ गुलाब चाची का वैधव्य-सूचक रूप इन सब बातों पर से कैसे विपद का पहाड़ उस पर टूट पड़ा था उस का विचार आया। जिस दृढ़ता से विवाह के पूर्व सब कुछ सहन कर लेने की चर्चा उसने हरिलाल से की थी वही दृढ़ता फिर उसमें आ गई थी। घूमते-घूमते वह खड़ी हो गई। अपने दोनों हाथ मुँडेरे पर रख कर समुद्र के सतह रूपी सिनेमा के पर्दे पर अपने विगत जीवन का पूरा वृत्तान्त उस पर देखने लगी। उसने रत्नगढ़ का मन्दिर देखा, फिर साधुओं द्वारा गाई जाने वाली आरती सुनी, किशोर के साथ प्रतिज्ञा की, उसके हाथ-में-हाथ रख कर सोई। दूर समुद्र की उछलती हुई तरंगों को देखा, अपने किशोर के हाथ-में-हाथ रख कर आनन्द का अनुभव किया, उसके साथ झगड़ा किया, रिसियाई, फिर मेल हुआ, स्वर्ग-लोक के उस वातावरण में उस सन्ध्या को उसने देखा, पश्चात् किशोर द्वारा किए गए अचानक आलिंगन के स्पर्श से उसके रोम-रोम पुलकित हो गए। मिले, आलिंगन किया और विलग हुए। हरिलाल ने क्रोध से काँप कर, उनके आश्वासन से फिर उसमें आशा का संचार हुआ, परन्तु श्यामू

मामा की आवाज ने पुनः उसे साहसहीन बना दिया ; प्रलयकाल के समान त्रासदायक दिनों का फिर उसने अनुभव किया ; विवाह के लिए किए गए श्यामू मामा के अत्याचारों को स्मरण कर वह भय से काँप उठी। पश्चात् पाणि-ग्रहण का दृश्य दिखाई दिया। सिनेमा का खेल समाप्त हो गया। काँपती हुई तनमन खड़ी रही। बड़े परिश्रम से उसने इन विचारों को दूर किया। ठंडी सांस भरकर इस रमणीय भूतकाल पर से अपने ध्यान को हटाया।

हँसती-कूदती, सुखी तनमन कोई दूसरी ही लड़की रही हो, इस प्रकार वह अपने को देखने लगी। स्मरण-शक्ति द्वारा विचित्र चित्रों के साथ उसका कोई सम्बन्ध न हो ऐसा सोचने का उसने प्रयत्न किया।

तनमन की मानसिक शक्ति विचित्र थी। भाग्य के साथ समझौता किस प्रकार किया जाता है, यह उसे ज्ञात नहीं था। जो अगाध साहस और निबन्ध सरलता बड़े वीरों में अथवा धर्म नेताओं में हम देखते हैं और उसकी प्रशंसा करते हैं उसी का कुछ अंश उसमें था। यदि वह चाहती तो अपना निर्दोष प्रेम संसार से छिपाने का प्रयत्न न करती परन्तु वह तो उसे अपना जीवन-धर्म समझती थी, उसे समस्त संसार पर व्यक्त करने में वह कभी भी लज्जा का अनुभव नहीं कर सकती थी। आज चारों तरफ से दारुण दुःख उसे घेरे हुए था। फिर भी उसकी अच्छाई-बुराई लाभ अथवा हानि आदि प्रश्नों ने उसके मन को विह्वल नहीं किया। उसने जीवन स्वच्छतानुसार व्यतीत किया था, अब जितने दिन जीवन रहे, वे दिन गौरव के साथ बिताकर केवल अपनी प्रेम-दीक्षा मात्र पूर्ण करने का उसे निश्चय किया। यह विचार उसे सरल मालूम पड़ा। सोलह वर्ष में वह निश्चलता अद्‌भुत मालूम पड़ सकती है परन्तु तनमन का सुसंस्कृत स्वभाव लड़कपन में भी परिपक्व था।

पास ही एक कुर्सी पर वह बैठ गई। हृदय में दबे हुए भाव फिर उबल पड़े। उसके पीले सूखे हुए गालों पर से अश्रुधारा बहने लगी। समुद्र पर बहने वाले शीतल पवन ने उसे ढाढस बँधाया। उसके पीछे से गुलाब आई।

'तनमन ! अब तबियत कैसी है ?'

तनमन सिर से पाँव तक यह आवाज सुनकर काँप उठी। उसके पापी स्पर्श से मानो वह दूषित हो गई हो इस प्रकार तुरन्त वह उठकर खड़ी हो गई और कुछ दूर हट कर तिरस्कार से गुलाब को देखने लगी। गुलाब के मन में फिर विष व्याप्त हो गया। वह अपने मन में समझ रही थी कि वैधव्य के शोक को ताक पर रख कर यहाँ आने में उसने भगीरथ आत्मत्याग किया है। ऐसे समय पर नीचे चलने वाले आनन्दोत्सव को वह भूल जाया करती थी वह लड़की जब ऐसा तिरस्कार प्रदर्शित करती तब उसके मन को कितनी चोट पहुँचती ?

'अरे वाह रे लड़की ! तेरे जैसी कृतघ्नी तो मैंने कोई देखी ही नहीं। तेरे आराम की चिन्ता में तो हम मर रहे हैं और·····'

'मेरा विवाह करने से पहले यदि इतनी मरी होती तो आज पति और पुत्री दो हत्याओं का पाप सिर पर चढ़ने का अवसर नहीं आया होता।' तनमन की आँखों में पहले के समान ही चमक आने लगी थी।

'हाय ! हाय ! रस्सी जल गई ; ऐंठन नहीं गई। शरीर तो ऐसा हो गया है पर घमंड और मिजाज सातवें आसमान पर ही हैं। देख अब वे दिन भूल जा अब तेरा बाप नहीं बैठा है कि तेरी सहायता करने के लिए आयेगा। अब तो करमदास सेठ की स्त्री है, वह क्षण भर में सीधी कर देगा।'

क्रोध से तनमन की आँखों में खून उतर आया। उसका निर्बल मस्तिष्क उबल पड़ा, 'मैं देखूँगी कि कौन मुझे सीधी करने वाला पैदा हुआ है। तुम्हारे सेठ-वेठ, किसी को भी कुछ नहीं जानती।' अधिक जोर से वह बोली।

किन्तु तनमन का उच्च स्वर ने कारपोरेल का ध्यान आकर्षित किया। अपनी दृढ़ चाल से वह वहाँ आ पहुँची और तनमन से अंग्रेजी में बोली—'बेटी ! यह क्या कर रही है ? शांत रह।' पश्चात् गुलाब की ओर देखकर हिन्दी में आज्ञा भरे शब्दों में कहा—'तुम नीचे जाओ। ऊपर मत आओ। क्या इसे मार डालने का विचार है ?'

गुलाब दाँत पीसती हुई वहाँ से चली गई।

'मिसेज ने तनमन को समझाते हुए कहा—'रो मत, बेटी ! अब इन लोगों को तेरे पास आने ही नहीं दूँगी।'

थोड़ी देर बाद कुछ शान्त होने पर तनमन को स्वयं इस प्रकार क्रोध करने पर पश्चात्ताप हुआ। क्रोध करना उसे व्यर्थ ही प्रतीत हुआ। शान्ति और दृढ़ता से ही काम लेने का समय है अन्यथा सब लोग उसे पागल बना देंगे। जो कुछ सहन किया है उससे कहीं अधिक सहन करना बाकी है। प्रेम के लिए वह मरने के लिए तैयार थी किन्तु गौरवपूर्वक मरना वह अधिक पसन्द करती थी। इस प्रकार बहुत देर तक विचार कर वह कोई रास्ता खोज निकालने का प्रयत्न करने लगी।

इस घटना के पश्चात् बहुत दिनों तक उसे किसी ने नहीं छेड़ा न मालूम क्यों नीचे रहने वाले लोग उससे घबराते थे। धीरे-धीरे उसमें नीचे उतरने की शक्ति आ गई। एक दिन मालूम करने पर उसे पता चला सब लोग बाहर घूमने गये हैं वह मिसेज के साथ बाग में घूमने के लिए नीचे आई। सृष्टि के शृंगार रूपी पुष्पों को देखकर अपने सुखी जीवन की स्मृति हरी हो गई ; डुम्मस याद आ गया, उसके किशोर की मूर्ति याद आई वियोग की तीव्र वेदना फिर उसे सताने लगी। वह तुरन्त लौट पड़ी और मिसेज के हाथ का सहारा

लेकर ऊपर चढ़ी। हृदय भर आया। दोनों हाथों से सिर पकड़कर फुक्का फाड़ कर वह रो पड़ी। उसे सम्पूर्ण संसार निर्जन लगा, ऐसा कोई नहीं था जिसकी गोद में सिर रख कर रोकर अपना दिल हल्का करती। विदेशी नर्स चाहे कितना ही स्नेह क्यों न करती हो, किन्तु उससे क्या सन्तोष हो सकता था ? न था पिता और न था उसके हृदय का हार। परिस्थिति ऐसी थी जो वज्र के समान कठोर हृदय को भी विदीर्ण कर देती।

अन्तःकरण जगत को देखने के लिए तरस रहा था इस भयंकार वन में केवल वही एक आश्रय दिखाई पड़ा। क्या करे ? जगत को लिखे ? मन लिया जाय कि उसे सब पता लग गया तब क्या होगा ? उसने एक गहरी साँस खींची अब वह अपने किशोर को कहाँ ? अन्धे और अधम लोग झूठे, दिखावटी धम को अस्वाभाविक दृष्टि से देखते हैं और उसके अनुसार उसका पति करमदास था। किशोर बेचारा क्या कर सकता है ? तनमन को इस नरक से निकालने का वह प्रयत्न करे, यदि पवित्र प्रेम की आज्ञा स्वीकार कर अपनी प्रियतमा को दुःखाग्नि में से बाहर निकाल कर अपना कर्त्तव्य पालन करे तो पापी संसार इस पुण्य कार्य को पाप कह कर, किशोर के निर्दोष मस्तक पर अनेक विपदाओं का पहाड़ ढा देगा ; अंधा समाज उसे दोषी ठहरा कर, अपनी मर्यादा से निकाल बाहर कर, जीवित रहते हुए भी उसके जीवन को श्मशान स्वरूप बना देगा। दूसरा विचार आया, 'करमदास को उसकी सम्पत्ति की आवश्यकता है इसलिए चाहे जिस प्रकार भी हो उसे घर में रखने का प्रयत्न करेगा। तनमन को कानून का डर लगा, शायद किशोर को वह कुचल डाले !' इस परिणाम की कल्पना कर वह घबरा गई। अपने हाथों वह किशोर को दुःख देगी ?

अपने प्यारे किशोर को—जिसके भविष्य की महत्ता पर कितने ही स्वप्नों की रचना की गई थीं उसे समाज से निकान कर बाहर करेगी ? उसके किशोर को कोई परेशान करे ? नहीं, नहीं ; इसकी अपेक्षा चुपचाप मर जाना कहीं अच्छा है, इसकी अपेक्षा इस नरक का कटु अनुभव करते हुए घुल-घुल कर मर जाना ही कहीं अच्छा है। किशोर भले ही अनजान में आनन्द के साथ पढ़ कर अपना जीवन सार्थक बनावे। वह स्वयं चुपचाप अपना जीवन अर्पण कर देगी, स्वयं दुःखी रहकर उसे दुःखी होने से बचायेगी।

इस निश्चय के पश्चात उसे कुछ शांति मिली आश्वासन देती हुई मिसेज से प्रेमपूर्ण धन्यवाद रूप बातें करने लगी। दूसरे दिन कागज और लिखने के साधन मंगवाये। धीरे-धीरे, कभी रोते हुये, कभी आह भरते हुए उसने एक पत्र लिखा—फाड़ा और फिर लिखा। लिखकर मोड़ दिया। जोर से गाया :—

'कब की ऊबी मैं मग जोऊँ, निस दिन बिरहा सतावे।
कहा कहूँ कछु कहत न आवे, हिवड़ो अति अकुलावे।

हरि कब दरस दिखावे !'

कमरा बिलकुल शान्त था। तनमन की हिचकी बँध गई, निराश होकर वह अपनी चारपाई पड़ गई।

४७

बोर्डिंग के एक कमरे में पाँच-छः लड़के बैठे हुए चाय पी रहे थे। बोर्डिंग में दिये जाने वाली एक पतली चौकी पर तीन और कुर्सी पर दो युवक बैठे थे। हनुमानजी की चिकनाई को भी मात करने वाला एक पुराना स्टोव, एक पतीली, मुड़ी हुई संडासी, छानने के काम के लिए एक मैला कपड़ा और चौकी के पास पड़ी ये वस्तुएँ बता रही थीं की चाय कैसी बनी होगी। स्वच्छता अथवा कला की दृष्टि से यह चाय भले ही अत्यधिक खराब हो पर चाय पीने का हेतु, उत्साह, निर्मल हृदयों का मिलाप एवं निर्दोष हास्य-विनोद हो तो ऐसी चाय दूसरे स्थल पर भाग्य ही से मिल सकेगी। कृत्रिमता के प्रभाववश अब युवकों को यह परिश्रम भले ही विष के समान लगता हो, होटल से आया हुआ चाय का प्याला भले ही अधिक अच्छा लगता हो किन्तु अपने हाथ से प्रस्तुत की हुई चाय का स्वाद कुछ अनोखा ही हुआ करता है।

आधी अँग्रेजी और आधी हिन्दी के मिश्रण से दी जाने वाली आधुनिक शिक्षा के प्रभाव वश कुर्सी पर बैठे हुए युवक आपस में हिन्दी अँग्रेजी मिश्रित भाषा में कुछ बातचीत कर रहे थे जिसे सुनकर दूसरे युवक खिलखिला कर हँस पड़ते। केवल एक युवक इस बातचीत में योग नहीं दे रहा था, उसके चेहरे के भाव से ही केवल पता चलता था कि उसका भी ध्यान उस ओर था। उसकी मुख-मुद्रा आयु की अपेक्षा अधिक गम्भीर और मुखमण्डल प्रभावोत्पादक था।

उसका शरीर अभी पूर्ण रूप से विकसित नहीं था, आगे चलकर वह ऐसा ही रह जायगा अथवा और लम्बा होगा, अभी यह कुछ नहीं कहा जा सकता था परन्तु उसके गाम्भीर्य में, शीघ्रतापूर्वक बोलने के स्वभाव में, नेत्रों में, चाल-ढाल में स्पष्ट रूप से आकर्षक व्यक्तित्व की झलक दिखाई पड़ती थी।

'परन्तु गमन !' कुर्सी पर बैठे हुए एक युवक ने उस युवक की ओर संकेत करते हुए, चौकी पर बैठे हुए एक युवक को संबोधित कर कहा—'हम समय व्यर्थ ही नष्ट कर रहे हैं। प्रोफेसर 'जगत दी ग्रेट' बडबड़ायेगा।'

वह युवक—हमारा जगत—जरा मुस्कराया, मुस्कराहट कुछ रसहीन थी।

'नहीं जी ! मेरी चिंता मत करो। तुम लोग तो दिशा और काल

दोनों से अवच्छिन्न हो न ?'

'किन्तु जगत ! तुम्हारे सिर पर तो कोई अजब भूत सवार है। इतना विलग कब तक रहोगे ? यदि ऐसा है तो हम तुम्हारा 'बॉयकाट' कर देंगे।'

'नहीं भाई ! यह तो अपनी 'वाइफ' का विचार कर रहे हैं।'

दूसरा बोला—'डोण्ट डिस्टर्ब हिम' [उसे परेशान मत करो।]

जगत ने अनजाने में दाँत पीसे, उसकी आँखें कठोर हो गईं। फिर वह मुस्कुराया।

'आइ विश आइ वेयर' [मैं चाहता हूँ कि ऐसा मैं करता होता।]

'यदि यही बात हो तब क्या बाजी लगाते हो ?'

'मिस्टर जगतकिशोर' पुकार कर पोस्टमैन ने आकर पत्र दिया। विरक्ति से जगत ने हाथ बढ़ा दिया, उसके पास आने वाले पत्रों में साधारणतः कोई आकर्षण नहीं रहता था।

अच्छा 'हियर यू आर' [अब बताओ !] किसका पत्र है ?' गमन ने जरा मजाक से पूछा।

जगत ने बेफिक्री से पत्र का सिरनामा देखा—पहले सूरत से 'रिडारेक्ट'-- होकर आया हो ऐसा जान पड़ा। मानो बिजली गिरी हो इस प्रकार वह चौंक उठा। चेहरे पर लाली दौड़ गई, उसने अक्षर पहचाने।

'जगत ! 'कौंग्रेचुलेशन !' [बधाई !] किसका है—'स्वीटी' [प्रियतमा] का क्या ?'

जगत ने गर्व से अपना सिर ऊँचा किया। गम्भीर, अस्खलित पद से चुप-चाप वह वहाँ से चला गया। उसके मित्र खिलखिला कर हँस पड़े।

जगत अपने कमरे में गया। धड़कते हुए हृदय को शांत करने का व्यर्थ प्रयत्न किया। दरवाजा बंद कर दिया और लिफाफा फाड़ा। आँखों पर से अंधकार दूर करने के लिए आँखें मलीं और मस्तक पर हाथ रखकर उसे पढ़ने लगा—

'मेरे किशोर !'

अपनी देवी क्या तुम्हें स्मरण है ? मेरा किशोर मुझे नहीं भूल सकता, किन्तु मैं तो भूल गई हूँ। तुम्हारी तनमन अब तुम्हारी नहीं रही; दूसरे की हो गई है। तुम्हें बुरा लगेगा परन्तु मुझे क्षमा करना। मैं दुःखी हूँ तुम्हें भी दुःखी करने से क्या लाभ ? हम कौन थे और क्या हो गये, यह सोच कर मेरी छाती फटी जा रही है।

उस दिन मैंने वचन दिया था वह तुम्हें स्मरण है किशोर ! मन में बुरा मत मानना। तुम्हें छोड़ दूसरे के साथ विवाह नहीं करूँगी यह मैंने कहा था। मेरा कहना तुम मानोगे ? मेरे शरीर में जब तक जीवन है तब तक लोग चाहे जो कहें मैं अपना प्रण नहीं छोड़ूँगी। मैं देख रही हूँ कि मेरे दिन पूरे हो गये हैं, अधिक

दिन अब इस सँसार में मुझे नहीं रहना है परन्तु जब तक हूँ तब तक अपने किशोर की ही रहूँगी। चाहे जो हो हम दोनों एक बने रहेंगे। इतनी विपदायें सिर पर आई हैं, संभव है आगे और भी भोगना पड़े। इस जन्म में तो भाग्य फूटा है किन्तु दूसरे जन्म में शायद सुधर जाय। किशोर! अब तुम्हें अपने वचन का पालन करना है, अपनी आशाओं को पूर्ण करना है। बड़े बनकर अपने जीवन को सार्थक करना। मैं भाग्यहीना यह देखने के लिए जीवित नहीं रहूँगी, परन्तु वह समय आए और कोई दूसरी स्त्री मेरा स्थान ग्रहण करे, तब मेरे किशोर! अपने हृदय का एक कोना मेरे लिए भी रख छोड़ना। रखोगे? यहाँ तुम्हारे साथ नहीं रह सकी यदि अपने हृदय में रखोगे तो मरते समय भी मुझे संतोष मिलेगा।

इसका उत्तर मत देना। यह पत्र अन्तिम है। जहाँ मैं पड़ी हूँ वहीं पड़ी रहने देना और कभी-कभी स्मरण कर लेना। इतने ही से मुझे सुख मिलेगा। बस एक बार, अन्तिम बार कह लूं—मेरे नाथ! मेरे किशोर?

तुम्हारी दासी या देवी
'तनमन'

एक साँस में जगत ने सब पढ़ डाला—कुछ समझ में नहीं आया। मस्तिष्क में कुछ विचित्र तूफान-सा लगा। नौकर जलता हुआ स्टोव भीतर रखने आया तब उसने पत्र को मोड़ लिया।

'जगत भैया! इधर रख दूँ?' नौकर ने इस प्रश्न का उत्तर सिर हिला कर हाँ में दिया नौकर के जाने पर पत्र खोला—पढ़ा। अक्षर सब नाच रहे थे। यह पत्र की ओर आँखें फाड़ कर देख रहा था किन्तु कुछ भी तो दिखाई नहीं पड़ रहा था। उसके मस्तिष्क की विषयग्राही शक्ति नष्ट हो गई थी। बहुतेरे बड़े तूफानों के समय, ठीक मध्यान्ह में जिस समय विश्व के तत्व ताण्डव-नृत्य करने के लिए निकलते हैं, झञ्झावात् चलता है, मूसलाधार वर्षा होती है, तूफान के पराकाष्ठा रूप से बादल में घोर अन्धकार फैलता है उस समय चारों दिशाओं में भयंकर अन्धकार के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नहीं पड़ता। अतिशय आश्चर्य, शोक अथवा क्रोध के आवेश द्वारा उत्पन्न मन के तूफान के समय ऐसा ही अन्धकार मस्तिष्क में व्याप्त हो जाता है। मनुष्य घूमता-फिरता है परन्तु उसके भीतर शून्यता होती है। जगत के मन में भी ऐसी ही शून्यता आ गई थी। एक टक वह पत्र देख रहा था। केवल एक विचार का प्रति-शब्द शून्यता में पड़ता था—तनमन, देवी का विवाह हो गया; अब वह फिर नहीं मिलेगी। वह कितनी देर तक इस प्रकार बैठा रहा, इसका भान नहीं रहा। इतने में गमन की आवाज सुनाई दी।

'कहो अभी भी पत्र पूरा नहीं हुआ क्या?' यह पूछने के पश्चात् गमन

की दृष्टि जगत के चेहरे पर पड़ी। उस पर अंकित महाशोक के चिह्न ने उसकी जीभ बन्द कर दी। वह अपने टेबुल की ओर चुपचाप मुड़ गया। शून्यता में यह भी पत्र मित्रों से छिपाने का स्वाभाविक विचार आया। क्या कर रहा है इसका विचार किये बिना पत्र और लिफाफा स्टोव पर रख दिया। क्षण भर में पत्र जलकर खाक हो गया। जोर से उसे मुट्ठी में दबाकर, जगत उठकर तेजी से बोर्डिंग के बाहर चला गया।

४८

बोर्डिंग से निकलने पर मन में व्याप्त शून्यता ने बहुत देर तक कुछ सोचने समझने का अवसर ही नहीं दिया। होश आने पर मुट्ठी में जले हुए पत्र की राख देखी, प्राणेश्वरी के अन्तिम संदेश की अपने ही हाथों की गई दुर्दशा का ज्ञान हुआ और अनायास एक आह निकल गई। दोपहर के समय समुद्र के किनारे एकान्त में बैठा था, पूरे पत्र की लिखावट आँख के सामने आकर उपस्थित हो गई, पुराने स्मरणों की मीठी दुनियाँ का विष उसने स्मरण कर पान किया और आँसू बहाए। अपने सुख के लिए वह रोया। दो ही तीन दिन में निराशा एवं दुःख से वह अधमुआ-सा हो गया। उसके सभी मित्र उसे शोकग्रस्त देखकर अपने शुद्ध हृदय से स्नेह से आश्वासन देने का प्रयत्न करते थे।

कुछ दिनों में अपनी कायरता पर उसे तिरस्कार उत्पन्न हुआ। दिन भर तनमन का नाम रटने से अथवा रात भर आँसू बहाने से कुछ हो जाना नहीं था। उसे स्मरण आया कि पत्र पर न तो पता लिखा था और न तारीख ही। अवश्य ही तनमन किसी कारागार जैसे घर में पड़ी होगी, अत्याचारी पति और लापरवाह सास रुला-रुला कर उसका प्राण लेते होंगे और सुकोमल, प्रसन्न, देवांगना के समान सुन्दर 'देवी' सब कुछ सहन करती होगी। इस विचार से उसका खून खौल उठा। उसने अपने आपको गाली दी। जब कि 'देवी' के सिर पर अनेकानेक विपदाओं के पहाड़ टूट पड़े हों—उस समय जिसके लिए वह इतना सब सहन कर रही है वह स्वयं, पागल के समान पड़ा-पड़ा केवल आँसू बहाया करे? क्या यही उचित है? क्या उसके हाथ में ताकत नहीं है? आवेश से वह अपनी कोठरी में बन्द सिंह के समान, घूमने लगा। अपने ट्रंक में से उसने दो कपड़े निकाल कर बाँधे और स्टेशन का रास्ता लिया। यदि रेलगाड़ी घण्टे में सौ मील की रफ्तार से जाती होती तो भी उसे धीमी ही लगती।

सूरत पहुँचते ही, घर जाकर, बच्चूभाई के प्रश्नों का जल्दी से उत्तर देकर, हरिलाल का घर खोजने के लिए वह निकल पड़ा। सूरत जैसे शहर के एक बड़े

मुहल्ले में किसी का घर खोज निकालना कोई सरल बात नहीं है। दो दिन में पता लगा, घर में ताला बन्द था।। पूछने पर पता लगा कि यह घर बिक गया था। उसे वहाँ खबर मिली कि मेसर्स पारखेरिया एण्ड कम्पनी के सौलिसिटर अपना काम इतनी तत्परता के साथ पूरा करने के लिए क्यों प्रसिद्ध है? घर जाकर जगत खूब रोया, उसे नहीं सूझ पड़ रहा था कि वह अब क्या करे। तीन-चार दिन बाद फिर वहाँ गया तब किसी ने बताया कि इस मकान के मूल मालिक बम्बई गये हैं। भाग्य को कोसता हुआ वह घर आया।

बच्चू ने जगत में कुछ नवीनता देखी परन्तु पूछने का साहस नहीं हुआ। संसार की विशालता का ज्ञान आज प्रथम बार उसे हुआ, साथ ही अपनी अल्पता का आभास भी। संसार के साथ जगत का साँघातिक युद्ध प्रारम्भ हुआ और पहले युद्ध में ही अपनी पराजय उसे स्वीकार करनी पड़ी।

बम्बई में जिस व्यक्ति को कोई खोजता हो, वह उसे मिल जाय तो पूछना ही क्या है? विद्याभ्यास को ताक पर रखकर दिन भर जगत बम्बई का भ्रमण करने लगा। जूनेश्वर के जनपमूह में, बालकेश्वर के विलासिताओं के विलास भवन में चौपाटी, महालक्ष्मी पर जहाँ-तहाँ वह जाता; किसी का कपड़ा, चेहरा दूर से देखकर उसका हृदय धड़क उठता, वहाँ दौड़कर जाता और निराश होने पर आँखों के नीचे अन्धेरा छा जाता, सिर में चक्कर आ जाता। उसकी 'देवी' तो मानो अचानक अन्तर्ध्यान हो गई हो ऐसा उसे लगा।

अन्त में शरीर थक गया; मन पराजित हो गया और विवश हो उसने पुस्तक की शरण ली। परन्तु अब न उसमें वह जोश था और न लगन ही थी जिससे वह पुस्तक पढ़ सकता! दिन-रात बीतने लगे किन्तु निद्रा अथवा शाँति का नामोनिशान नहीं थी। उसे माँ याद आतीं, रघुभाई याद आते और उसका खून खौल उठता। 'देवी' सदैव मन में बनी रहती और लहू में विष फैलाती। उसका दम घुटने लगता। एक ही प्रश्न उसके मन में चक्कर लगाया करता था—मेरी देवी कब मिलेगी? कब मिलेगी?···

४६

'शेठ! यह टो टुमे करना ही पड़ेगा। इस प्रकार घबड़ाते क्यों हो? 'शपैनियल और बुमन' की कहानी जानटे हो न? स्त्री से क्यों डरटे हो?' कह कर पारखेरिया ने अपने घर की पफ और पाउडर वाली बाघिन का अनुभव भूल कर अपनी पत्नी के पास जाने के लिए सेठ करमदास त्रिभुवन पर पानी चढ़ाया। सेठ करमदास की छाती में तो घण्टानाद जैसी ध्वनि हो रही थी।

कभी-कभी सफेद वस्त्र में इधर-उधर टहलती हुई अपनी स्त्री को उसने देखा था, इससे अधिक परिचय उसे नहीं था। लोक-लाज से अथवा हरिलाल की सम्पूर्ण सम्पत्ति हथियाने के लिए तनमन की सम्पत्ति की आवश्यकता थी, इस से अब घर बसाने की आवश्यकता सब को दिखाई दी। परन्तु सेठ तो इस विचार मात्र से बगले झाँकने लगते थे। चार धार जैकेट नीचे ताना, पाँच वार कालर का मध्य भाग खींच कर ठिकाने किया, छः वार खाँस कर नाक साफ किया परन्तु भीतर साहस नहीं आ रहा था। मह तनमन से डरता था, पर क्यों यह वह न समझ पाता।

'अरे यह क्या कर रहे हो सेठ ?' गुलाब बोल उठी—जाओ वह तो गरीब गाय के समान सीधी है, कुछ तो साहस से काम लो। साहस रखने का प्रयास करते हुए, पैर की कपकपी का अनुभव करते हुए सेठ सीढ़ी चढ़ने लगे, एक-एक सीढ़ी चढ़ कर पीछे देखते थे, ऊपर पहुँचने पर आँख का चश्मा उतारे कर पोंछा, मन में वापस लौट जाने का विचार आया; नाक पुनः साफ किया, पर नीचे खड़ी हुई गुलाब का हँसना सुनकर लज्जित हुए और आगे बढ़े, अन्यथा अवश्य ही नीचे उतर गये होते।

धीरे-धीरे सेठ कमरे के दरवाजे पर पहुँचे; पहले तो सोचा कि वहाँ कोई है ही नहीं, ध्यान से देखने पर अन्दर तनमन के साथ एक आठ-नौ वर्ष की बालिका को पहचान गए। उन्हीं के कम्पाउण्ड में एक बंगला था जिसमें नवागन्तुक भड़ैत की यह पुत्री थी। यदि करमदास सेठ में थोड़ी सी रसज्ञता अथवा तत्परता परखने की शक्ति होती तो एक मोमबत्ती के क्षीण प्रकाश में जो छोटा रमणीय चलचित्र उसके सामने दिखाई पड़ रहा था उसे देखकर यह आनन्दित होता रक्तविहीन मूर्ति के समान जगती हुई तनमन एक कुर्सी पर बैठी थी। उसकी सुन्दर आँखें शरीर के सूख जाने से बड़ी-बड़ी कुछ अस्वाभाविक-सी लग रही थीं। इतनी क्षीणता और साधारण वस्त्र पहने रहने पर भी, उसके अंग-प्रत्यंग से स्फुटित होनेवाला लावण्य अभी नष्ट नहीं था। सामने छोटी बालिका के कमनीय किंतु सुघटित शरीर में भी पर्याप्त आकर्षण था। बालिका की गम्भीर और विस्मयपूर्ण आँखें तनमन को देख रही थीं। उसके छोटे से ललाट पर आश्चर्य की रेखाएँ दिखाई पड़ रही थीं। अभी चार-पाँच दिन के सहवास से ही इस स्नेहार्द्र बालिका को तनमन के प्रति गहरी ममता हो गई थी। तनमन की विचित्रता उसके छोटे से मस्तिष्क को चक्कर में डाल देती थी।

मिसेज कारपोरेल के जाने के बाद ही तनमन को इस बालिका का साथ मिल गया था। उसके चेहरे पर पड़ने वाली दयालुता, गम्भीरता और सुन्दरता के भास ने उसके जलते हुए हृदय को आकृष्ट कर लिया था। उसके निर्जन जीवन में इस बालसखी का साथ भी आदरणीय हो गया था। इतनी छोटी सी

वय में भा यह बालिका इतनी सीधी-सादी और गम्भीर थी कि तनमन को कुछ ढाढस मिला। धीरे-धीरे बालिका के निर्दोष प्रश्नों के उत्तर में अपनी कुछ बातें बताईं; तनमन का हृदय अपनी कहानी किसी से कहने के लिए व्याकुल हो रहा था। अपने किशोर, पिता एवं अन्य किसी स्नेही की अनुपस्थिति में अपनी आशा का वर्णन किससे करे? विवश होकर इस बालिका से सब कुछ कह कर अपना मन शान्त करती। उसे तनमन में कोई अगम्य भेद दिखाई पड़ता। इतना अकेलापन, इतना दुःख—और वह भी इतने वैभव में! परन्तु जब तनमन अधिक रोने लगती तब चुपचाप उसका हाथ अपने हाथ में लेकर अपना स्नेह प्रदर्शित करती, और इतने से ही तनमन उसका उपकार मानती।

'तनमन बहन! अब मैं जाती हूँ। पिता जो बिगड़ने लगेंगे।'

'बहन! तु भी थक गई होगी, जा।'

बालिका जाने लगी।

'किन्तु रमा!'

रमा लौट पड़ी।

'देखो किसी से कुछ कहना मत, नहीं तो तू भी मुझसे अलग करदी जायगी।' इतने में तनमन को खाँसी आ गई। कुछ दिनों से उसके निर्बल शरीर में यह नया भूत अनजाने ही प्रवेश कर गया था। जब तक खाँसी आती रही, रमा वहीं खड़ी रही।

'अब मैं जाती हूँ।' कहकर पीछे की सीढ़ी से रमा उतर गई। उसके गम्भीर पिता को उसकी परवाह नहीं थी, काम-काजी माँ को फुरसत नहीं थी, बेचारी रमा का हृदय किसी का लाड़-प्यार नहीं पाता था। पहली बार तनमन का स्नेह देखकर इसे अपनी बहन अथवा माँ की तरह चाहने लगी थी।

रमा के जाने पर तनमन ने गहरी साँस ली। वह उठी। अँधेरे में दरवाजे पर खड़े-खड़े करमदास सेठ ने उसके शरीर की छटा देखी, दीपक के सामने शीशे में क्षीण प्रतिबिम्बित और मोहक चेहरा देखकर प्रथम बार उसे ज्ञात हुआ कि मेरी पत्नी इतनी है! उसने तनमन को शीशे के सामने जा कर अपनी चोटी खोलते हुए देखा। पास में पड़े हुए हारमोनियम के पास जाकर तनमन बैठ गई, ज्यों-त्यों उसकी उँगलियाँ चलने लगीं। उसका सिर छाती पर लटक गया था। धीरे-धीरे वह गाने लगी·····शब्द ठीक-ठीक नही निकल रहे थे।

गला रुँध गया, स्वर काँपने लगे। हारमोनियम को बन्द कर वह उठ खड़ी हुई। आँखों में से आँसुओं की धारा बह रही थी। पास ही सोफे पर गिर कर वह 'हाय किशोर? हाय पिताजी?' चिल्ला उठी।

करमदास सेठ साहस कर के खड़ा था, वह अपनी पत्नी पर कुछ प्रसन्न

हो रहा था। उसने सोचा कि यदि नीचे जाकर एक गिलास व्हिस्की पी आए तो अधिक साहस आ जाए किन्तु नीचे उपस्थित लोगों के हँसी उड़ाने के भय से वह नीचे नहीं जा सका। उसके मोटे दिमाग में यह विचार आया कि 'यह स्त्री इतनी दुःखी है, मैं आया हूँ तो शायद इससे इसका दुःख दूर हो जाए।' उसने खाँसा और कुछ आगे बढ़ा।

तनमन ने उसे देखा, उठ कर वहीं बैठ गई। उस समय शोक-विह्वल थी। उसने नम्रता से पूछा—'करमदास तुम यहाँ कैसे ?' उसने आँसू पोंछ डाले।

दो-एक बार खाँसने के पश्चात् चश्मा उतार कर और उसे पोंछ कर नाक पर ठीक से फिर रख कर दो-तीन बार बोलने के शब्दों के चुनाव में परिवर्तन कर उसने कहा—'सब लोगों ने···नहीं, यों ही···तुम्हारे लिए।'

इतना उत्तर देकर अपने को धन्यवाद देने लगा। उसने अपनी विषया-सक्त आँखों से तनमन का नख-शिख देख लिया।

तनमन थोड़ा चौंक पड़ी, उसकी दृष्टि से उसे सच्चा कारण प्रतीत हो गया। करमदास सेठ यह आनन्द लूटने की आशा रखते हैं, यह जान कर उसे अचम्भा हुआ। भगीरथ प्रयत्न कर उसने अपना मन दृढ़ तथा संयत किया और कहा—'मेरे लिए ? मुझे तुम्हारी आवश्यकता नहीं है।'

उसके शब्दों में कठोरता आ गई थी।

एक बार बात आरम्भ कर देने पर करमदास सेठ का भय जाता रहा। दो-तीन भाड़े की स्त्रियों को खरीद कर, उन्हें प्रसन्न कर लेने से वह स्त्री-वर्ग में अपने को अजित समझता था। मन में जरा अभिमान भी आया, करमदास की स्त्री को करमदास का कहना मानना पड़ेगा। यह कौन है ? घमण्ड का थोड़ा ढोंग कर आँखों में तेज लाने का प्रयत्न कर, एक हाथ 'हाफ कोट' की जेब में उसने डाल दिया। 'यह नहीं हो सकता। मुझ जैसे की पत्नी होकर तुम्हें इस प्रकार नहीं रहना है ? अभी तो बहुत दुनिया देखनी है।' करमदास के लिए संसार उसका क्लब, उसके खुशामदी, मिस मेरी और मिस्टर पार-खेरिया थे। तनमन यदि दुःख से पराभूत न होती तो वह खिलखिला कर हँस पड़ी होती। धीमी दुःखी आवाज से उसने कहा—'करमदास सेठ ! यदि कुछ भी बुद्धि हो तो यह सब बातें जाने दो। तुम्हारी जैसी इच्छा हो उस प्रकार रहो और मुझे अपनी इच्छानुसार रहने दो। तुम जानते हो कि हमारा विवाह घर बसाने के लिए नहीं हुआ है ? मेरे धन की तुम्हें आवश्यकता थी वह तुम्हें मिल ही गया है।'

यह स्पष्ट बात सुन कर सेठ की समझ में नहीं आया कि वह क्या उत्तर दे। वह बोला—'लेकिन इसमें बाधा ही क्या है ?'

'बाधा ? बाधा की क्या बात कर रहे हो ? तुम जानते हो कि मैं विवाह करना नहीं चाहती थी फिर भी मेरा जबरदस्ती विवाह किया गया। मैं तुम्हारे घर में रह रही हूँ, इससे अधिक और कर ही क्या सकती हूँ ? तुम्हारा भी कोई दोष नहीं है। अब जितने दिन जीवित हूँ सूखी रोटी खाकर पड़ी रहने दो, इतने से ही मैं तुम्हारा बड़ा उपकार मानूंगी।'

सेठ ने कभी भी हृदय के भावों को समझने का न तो प्रयत्न ही किया था और न उसका अनुभव ही था। पहली बार इतनी दयापूर्ण काँपती हुई आवाज से कोई उससे कुछ कह रहा था, यह सुनकर भीतर से उसे दया आई परन्तु यह नहीं सूझ पड़ा कि वह क्या जवाब दे, क्या करे।

'तुम्हारे पैर पकड़ती हूँ कि जाओ, मुझे अकेली पड़ी रहने दो। तनमन ने दोनों हाथ जोड़ कर सिर झुकाया। ऐसा करने से कन्धे पर फैले हुए बाल के सौंदर्य ने करमदास के मन में वासना जगा दी। दयापूर्ण शब्दों से उसका मनुष्यत्व जाता रहा।

मन में रहने वाली विषय-वासना की तृप्ति से निर्जीव पड़ा हुआ कीड़ा नए असन्तोष से जीवित हो उठा। तुरन्त पास में पहुँच कर तनमन की पीठ पर उसने हाथ रख दिया। हाथ रखा ही था कि तनमन सोफे से उछल कर दूर जा खड़ी हुई और गर्व से तन कर उसकी ओर देखने लगी। उसकी आँखों से तेज की ज्वाला निकल रही थी, वह सेठ को तिरस्कार से देख रही थी। सेठ सहमता-सा सोफे पर बैठ गया और डर से तनमन की ओर देखने लगा। यदि सम्भव होता तो वह सोफे के नीचे भी घुस जाता।

'सेठ !' तनमन की श्वाँस कठिनता से निकल रही थी। जिससे उसकी आवाज खोखली और रुक-रुक कर निकल रही थी, मैंने तुमसे नम्र बन कर प्रार्थना की, इसी से क्या ? देखो, मेरे में विष भरा है, छूते ही मर जाओगे।'

जैसे ऊँट बुद्धिहीनता से देखे वैसे ही सेठ भी गर्दन लम्बी करके देख रहा था। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि इस प्रकार जरा सा हाथ लगा देने में कौन सा पाप हो गया ? अभी तक मिस मेरी कभी-कभी हँसी में रूठ जाती थी जिसकी दवा हमेशा कुछ पुरस्कार देने से हो जाती थी परन्तु यह क्या ? फिर साहस बटोर कर वह बोला—'इसमें हो क्या गया ?'

'क्या हो गया ? तुम साफ सुनना चाहते हो ? सुनो, मैं दूसरे की हूँ, तुम्हारी नहीं। मेरे धन के मालिक भले हो तुम हो गए परन्तु मेरे शरीर का मालिक दूसरा है। जिस क्षण तुम ऐसा होने का प्रयत्न करोगे उसी क्षण दोनों में एक रहेगा—'तुम या मैं, समझे ? इसलिए जाओ, व्यर्थ मुझे सताने से कोई लाभ नहीं होगा।'

'तब मैं इसे कैसे सहन करूँगा ?' सेठ ने जरा आवेश में पूछा।

'सहना पड़ेगा ! अब अधिक मैं बात नहीं कर सकती, इसलिए जाइए। आपने बहुत कृपा की, बस।' उस ने उँगली से दरवाजे की ओर संकेत करते हुए कहा। सेठ उठा नहीं। क्या उत्तर दे ? इस कठिनाई को कैसे दूर करे, यह उस की समझ में भी नहीं आया। क्रोध करे, नीचे जाए अथवा तनमन को मनाए।

तनमन बोली—'अच्छी बात है, तुम्हें यहीं बैठना है तो घर तुम्हारा है।' कह कर मोमबत्ती का 'स्टैण्ड' उसने उठाया और दूसरे कमरे में जा कर बीच का दरवाजा बन्द कर दिया।

सेठ अंधेरे में घबरा उठा। नीचे जाने में शर्म लग रही थी फिर भी लाचार होकर जाना ही पड़ा। सीढ़ी पर बैठकर नीचे झुक कर देखा, नीचे कोई दिखाई न देने पर वह नीचे उतर गया। किसी को पता न चले इसलिए वहीं सोफे पर पड़ रहा और रात उसने वहीं बिताई।

५०

गंगा मौसी की नवनीत दिनों-दिन धनी होती जाती थी जिससे वृद्धा अब वर्ष में ग्यारह मास वहीं रहने लगी थी। करमदास सेठ के यहाँ श्यामदास तथा गुलाब यह ही दो घर के मालिक थे। गुलाब को जाने के लिए दूसरा स्थान नहीं था और श्यामदास सेठ का 'स्टेट-मैनेज' अर्थात् स्टेट का प्रबन्ध करने के लिए रह गये थे। उनके कुटुम्बीजन सब सूरत में थे जिनके पास प्रति-मास पचीस रुपये पहुँच जाया करता था जिससे उसके लिये किसी के मन में कोई पछतावा नहीं था। थोड़े ही दिनों पश्चात् पास ही के बंगले में आकर रहने वाले काठियावाड़ी गृहस्थ के घर में भी उसका आना-जाना हो गया था और उसकी नजर पर भी वह चढ़ गया था। यह रघुभाई थे लोग जिन्हें काठि-यावाड़ी ही समझते थे।

सेठ को ऊपर भेज कर मिस्टर पारखेरिया के विदा होने के पश्चात् श्यामू भाई और गुलाब कुछ देर तक बड़े कमरे में खड़े रहे। कुछ दिनों से अकेले मिलने पर दोनों एक दूसरे से बोलने में अजीब प्रकार का प्रतिरोध अनुभव करते थे।

सर्व प्रथम गुलाब बोली—'श्यामूभाई ! सेठ तो बिलकुल ही तड़फणदास लगता है। इतनी-सी लड़की से कितना घबराता है ?'

'बिलकुल निर्जीव है जी ! इस में घबराने की कौन-सी बात है ?' कहकर श्यामू ने विचित्र प्रकार से गुलाब की ओर देखा। दोनों का मन साक्षी दे रहा

था कि दोनों के मन में एक ही विचाराधारा भ्रमण कर रही थी। बाधा को तोड़ने का मार्ग दिखाई नहीं दे रहा था।

श्यामू ने उस बाधा को अनुकूल बनाने की निश्चय किया—'गुलाब ! तू कितने वर्ष की हुई है ?'

'क्यों ?' उसके चेहरे पर लाली दौड़ गई, 'मुझे तो याद नहीं है यही चौबीस-पच्चीस हुआ होगा।'

चुपचाप दोनों अपने सोने के कमरे की ओर चले पहले खण्ड के बड़े कमरे के पास ही गुलाब सोती थी और दूर अंतिम कमरे में श्यामू सोता था। गुलाब के कमरे के पास पहुँच कर दोनों खड़े हो गये।

'मालूम पड़ता है कि सब नौकर सो गये, अभी इतनी देर तो हुई मालूम नहीं पड़ती ?' श्यामू बोला।

'अभी देर कहाँ हुई है ? साढ़े नौ बजे होंगे।' कहकर गुलाब मुस्करा कर दरवाजे की ड्योढ़ी पर खड़ी हो गई। दोनों को बात के लिए कोई विषय ही नहीं मिलता था।

'तुम अभी से सो जाते हो ?'

'नहीं जी,' श्यामू बोला, 'मुझे तो बहुत देर से नींद आती है।'

'तब आओ न ! मुझे भी नींद नहीं आती। जरा बैठें, बोलें, बातचीत करें। आओ, बिजली जलाऊँ ?' गुलाब की आँखों में निमन्त्रण स्पष्ट दिखाई पड़ रहा था।

श्यामू भीतर गया, बिजली के 'बटन' के पास गुलाब के पहुँचने के पूर्व ही वह श्यामू के आलिंगन-पाश में जकड़ गई और अँधेरा ज्यों का त्यों बना रहा।

रात के बाद प्रातःकाल पाँच बजे श्यामू चोर के समान अपने कमरे में गया।

५१

रमा तनमन के कमरे में बैठी हुई थी। तनमन के साथ उसका स्नेह इतना बढ़ गया था कि छाया की तरह वह सदा उसके पीछे-पीछे घूमा करती। नौकर चाहे जितनी सफाई कर जाय फिर भी जब तक वह स्वयं अपने हाथों से सब चीजें यथास्थान सजा कर रख न लेती तब तक उसे चैन नहीं पड़ता था। रमा और तनमन की विरक्ति इतनी बढ़ गई थी कि उसका कमरा दस मिनट भी स्वच्छ नहीं रहने पाता था। इस छोटी बालिका ने थोड़े ही समय में तनमन के साथ अपना जीवन एक कर दिया था। इस समय भी मन में तनमन का ही

गीत गुनगुना रही थी।

इतने दिनों पश्चात् तनमन प्रथम वार बाहर गई थी। मिसेज कारपोरेल का जन्म-दिवस था। जिसके उपलक्ष में अपने यहाँ आने का उसने अत्यधिक आग्रह किया जिसे तनमन अस्वीकार नहीं कर सकी। वह अपोलो वन्दर पर रहती थी; वहाँ तनमन को अपने साथ लिवा ले गई थी।

नीचे रमा को कुछ हो-हल्ला सा लगा जिससे उसने समझ लिया कि तनमन आई होगी। कुछ ही देर में तनमन नौकर का हाथ पकड़े हुए ऊपर आई किन्तु चेहरे से वह वहुत व्याकुल लग रही थी। उसकी छाती उछल रही थी, आँखें निकली पड़ रही थीं; चेहरा तीव्र वेदना से मुरझा-सा गया था।

'रमा! पानी दो हा···ऽ···ऽ···य···' कह कर कुर्सी पर लेट गई। उसकी छाती इतनी जोर से उछल रही थी मानो वह वहुत दूर से दौड़कर आई हो। 'रमा! बैठ। तुम नीचे जाओ!' नौकर से उसने कहा। नौकर नीचे चला गया।

तनमन के कन्धे पर हाथ रखकर रमा चुपचाप खड़ी रही। सदा की तरह मूक आश्वासन दे रही थी।

'रमा! वहन! आज मैंने देखा।'

'किसे?'

अपने किशोर को!' पूरे जोश से वह बोली, 'मिसेज़ के यहाँ से आते समय करमदास सेठ से भेंट हो गई। वह साथ हो गये। हम रेलगाड़ी से आये। चर्च गेट स्टेशन पर मिले। हा···य···जी बड़ा घबरा रहा है। चलो, बाहर छत पर बैठें, यहाँ तो मेरा दम घुट रहा है।'

दोनों ऊपर पहुँची। तनमन अपने निश्चित स्थान पर बैठ गई। जेब से 'किशोर का रूमाल निकाल कर उसने हाथ में ले लिया और दूर अस्ताचल-गामी सूर्य की किरणों पर दृष्टि डाली।

'मेरे नाथ से फिर भेंट हो गई! रमा! तू जानती नहीं? अब मैं निश्चिन्तता से मर सकूँगी।'

'तब उन्हें आपको यहाँ लाना था?' निर्दोष रमा बोली।

'नहीं! नहीं!' जोर से तनमन चिड़चिड़ा कर बोली, 'तू अभी बच्ची है, तू क्या समझेगी? यहाँ कैसे आने दूँ? मेरी स्थिति देखकर वह जल मरेगा, तू मेरे किशोर को जानती नहीं। देखते ही मुझे यहाँ से ले जाने का हठ करेगा। यह चाण्डाल उसे नोच खाएंगे। तुझे खबर है? मेरा किशोर बड़े कोमल हृदय का है बेचारा अकेला रहेगा। संसार में उसका कौन है? उसकी 'देवी' तो यहाँ पड़ी है···' श्वाँस लेने में रुकावट पड़ रही थी, इसकी परवाह किये बिना तनमन बोलती चली जा रही थी।

'भेंट कैसे हुई?'

'मैं वेटिंग रूम में यूँ ही खड़ी नकशा देख रही थी, इसी समय वे आ गये। बिल्कुल सूख कर काँटा हो गये हैं। मेरे किशोर! हम दो-चार शब्द ही बोल पाये थे कि गाड़ी आ गई और सेठ मुझे ले जाने आया। जान-बूझ कर मैं चली आई। रमा! नहीं तो अधिक समय बात-चीत करने का दुष्परिणाम क्या होता, कहा नहीं जा सकता? मेरा मन वश में नहीं था, हाथ आलिंगन के लिए तड़प रहा था। मैं चली आई। यमराज अब भले ही पधारें उनका स्वागत है। नाथ के दर्शन हो गए। अब मुझे किसी बात की परवाह नहीं है। मेरी आशायें सभी नष्ट हो चुकी हैं, इतनी इच्छा बाकी रह गई थी उसे भी भगवान् ने पूर्ण कर दी। रमा! रमा! ओ रमा! जरा नीचे से नौकर को बुला तो मुझे यहाँ छाती में पीड़ा हो रही है। बहन जा तो, जल्दी आना।'

रमा नीचे दौड़ी। वह घबरा गई क्योंकि कभी भी उसने इतने जोर से तनमन को इस विचित्र ढंग से बोलते नहीं सुना था। उसने जोर-जोर से पुकारा परन्तु किसी ने उत्तर नहीं दिया, न कोई नौकर ही दिखाई पड़ा। शीघ्रता से वह वापस लौटी. आराम कुर्सी पर हाथ रखकर तनमन झुककर बैठी दाँत पर दाँत बैठा कर होंठ दबाते हुए वेदना को दबाने का प्रयत्न कर रही थी, एक हाथ से छाती दबाये हुए थी—तनमन ने पूछा—'कौन? रमा!।

रमा—'हाँ, मैं ही हूँ, नौकर तो कोई है ही नहीं।'

'हाय रमा! मेरे प्राण निकले जा रहे हैं। जाओ, जाओ किसी को बुला लाओ। यहीं, रुको, एक बात कहूँ—रमा! सुनो। मेरे हाथ में यह जो रूमाल है न, वह मेरे किशोर का है। देखना, यह किसी के हाथ में पड़ने न पाये। ले जाकर इसे जला डालना। किसी को छूने तक मत देना—सभी पापी हैं। मेरे किशोर! मेरे नाथ! 'हाय···राम' कह कर तनमन चीख उठी और कुर्सी से नीचे गिर पड़ी।

रमा घबरा उठी। उसने समझा कि तनमन मर गई। रमा नीचे दौड़ी, उस की चिल्लाहट से घर गूँज उठा, आखिर माली आया जो रघुभाई के यहाँ बैठी हुई गुलाब को बुला लाया। दूसरा नौकर डाक्टर को बुला लाया सभी ने तो समझा कि तनमन मर गई। यह समझ कर रमा छाती फाड़ कर रोने लगी। डाक्टर ने आकर तनमन की परीक्षा करके बताया कि हृदय निर्बल हो जाने से मूर्च्छा आ गई है। आध घण्टे के उपचारोपरान्त तनमन होश में आई किन्तु उसकी छाती में इतनी पीड़ा हो रही थी कि उसकी चिल्लाहट से घर गूंज उठता था।

सम्पूर्ण रात उसने इसी प्रकार व्यतीत की। रघुभाई की स्त्री कमला और गुलाब दोनों वहीं सोईं क्योंकि जीवन की आशा का डाक्टर ने जवाब दे दिया था। धीरे-धीरे हृदय की गति रुकने की तैयारी कर रही थी। जितनी देर तक

चिल्लाती नहीं थी उतनी देर तक तनमन मूर्छा में अपने कन्धे पर माथा झुकाये पड़ी रहती। वेदना कुछ कम होने पर 'पिया तें कहाँ गयो नेहरा लगाय' गाती। प्रातःकाल हुआ, पक्षी वृन्द का आह्लादमय संगीत प्रारम्भ हुआ। तनमन ने खिड़की से बाहर समुद्र रेखा और प्रकृति माता को प्रणाम किया। धीरे-धीरे उसकी मूर्छा बढ़ती गई और चिल्लाहट कम होती गई। एकाएक उसकी मूर्छा भंग हुई, दो-एक बार चिल्लाई और जो नौकर उसके कन्धे पर हाथ रखे बैठा था उसी के हाथों में लुढ़क गई। कमला और गुलाब दोनों दौड़ आईं।

उस अन्तिम चीख के साथ ही तनमन के हृदय का स्पन्दन बन्द हो गया। उसका प्राण-पखेरू उड़ गया और वह ऐसी सुख-भूमि में पहुँच गई जहाँ साँसारिक दुःख की पहुँच नहीं थी। उसकी सभी आशायें, उसका लावण्य, उसकी चतुराई लोगों के अत्याचार से पीड़ित होकर सोलह-सत्रह वर्ष में ही समाप्त हो गई। पूर्व में सूर्योदय का रक्ताभ आकाश उसके शव पर प्रकाश डाल रहा था, पक्षीवृन्द समुद्र के किनारे उसका मृत्यु-गीत गा रहे थे। सच्चा दुःख रमा को छोड़ दूसरे को नहीं हुआ ? लोगों को दिखाने के लिए गुलाब ने सिर धुना परन्तु उस समय भी मन में वह तनमन को गाली दे रही थी। हृदय कड़ा कर सभी ने तनमन के सुकोमल शरीर को बाँधा, श्मशान ले गये। तनमन—अपने बाप की जीवनाधार अपने किशोर के हृदय की रानी, उसकी आशा एवं भावना द्वारा पूजित 'देवी' प्राणेश्वरी जला दी गई। उसके अनुपम रूप, अलौकिक गुण एवं उसकी अपूर्व बुद्धि के स्थान पर केवल राख रह गई।

५२

जब जगत ने तनमन को चर्च-गट स्टेशन पर देखा तब पहले तो वह चौंक उठा, उसे पहचान भी नहीं सका।

दोनों एक ही साथ बोल उठे, 'किशोर !' 'देवी !'

बहुत दिनों से जिस प्रसंग की खोज में जगत था, वह हाथ लगा, परन्तु सूझ नहीं पड़ा कि क्या कहे।

'क्या मेरा पत्र मिला था ?' तनमन ने पूछा। उसकी व्याकुलता स्पष्ट दिखाई पड़ रही थी।

'हाँ मिला था। तुम्हारी यह क्या हालत हो गई ? यह कौन है ?'

तनमन की आँखों में पूर्व का तूफानी तेज चमक उठा, एक ठंडा साँस भर कटाक्ष कर करते हुए वह बोली—'मेरे पति परमेश्वर !'

जगत को कुछ सोचने का भी अवकाश नहीं मिला। दूसरे ही क्षण करमदास

आ पहुँचा, तनमन ने जगत पर स्नेहपूर्ण दृष्टि डालकर विदा ली। वह चली गई और गाड़ी भी चल पड़ी। जगत को जैसे काठ मार गया था, वह कुछ बोल ही नहीं सका। दूसरे क्षण उसकी तन्द्रा भंग हुई, रेलगाड़ी के अन्तिम डिब्बे को प्लेटफार्म छोड़ते हुए तक उसने देखा और अपने आप पर क्रोध हुआ। कितनी भूल हुई ? फिर साथ ही चढ़ जाता तो पता तो लग जाता। फिर वेटिंग रूम में जाकर एक कोने में बैठ गया और सिर धुनने लगा। कैसा सुअवसर उसने हाथ से निकल जाने दिया ? दूसरी लोकल आई, उसमें वह बैठा परन्तु अब इससे होता क्या था ? खीजता हुआ वह बोर्डिंग पहुँचा।

वह चारों ओर ढूँढता रहा किन्तु तनमन तथा उसके पति परमेश्वर का कुछ भी पता न लगा। पन्द्रह दिन के कठिन परिश्रम के पश्चात् फिर पुस्तक की शरण ग्रहण की। वह इस प्रकार पढ़ता, भोजन करता, घूमता मानो उसके सिर पर भूत सवार हो। सोने की तो उसने मानो कसम खा ली थी। दिन पर दिन बीतने लगे साथ ही उसकी बेचैनी बढ़ती गई। प्रतीक्षा समाप्त होते ही वह फिर खोज करने लगा किन्तु सब निष्फल। उसे पता नहीं था कि उस की 'देवी' स्वधाम पहुँच गई है। परीक्षाफल निकला, वह उत्तीर्ण हो गया ; उस दिन अपनी माँ एवं देवी को याद कर वह खूब रोया। तनमन ने सच कहा था संसार में वह एकाकी था, उसके विचार तथा उसकी महत्वाकांक्षा का भागीदार कोई था ही नहीं।

लाचार भारी हृदय से वह सूरत चला। इतने दिनों के विद्याभ्यास, जागरण एवं शोक से उसका मन और शरीर थक गया था परन्तु उसका साहस तथा दृढ़ता अब भी पूर्ववत् बने हुए थे। बच्चूभाई का पत्र पाकर वह घर जा रहा था, साथ ही उसने यह भी सोचा कि सूरत में खोज करने से ठीक-ठीक पता चलेगा। तीसरे दर्जे के भरे हुए छोटे-से डिब्बे के एक कोने में बैठकर वह अनेकों प्रकार का विचार करने लगा। गुणवन्ती की मृत्यु, रघुभाई से प्रतिशोध लेने का संकल्प, तनमन से कैसे भेंट होगी—इसका विचार आया। सूरत के पास पहुँचने पर डिब्बे में बैठे हुए एक व्यक्ति के शब्दों ने उसे चौंका दिया।

'निकृष्ट पैसे की तो बात ही जाने दो। मेरे एक रिश्तेदार थे, हरिलाल। उन्हें एक निःसन्तान का धन मिला, वह स्वयं भी मर गये और उसकी एकमात्र लड़की भी मर गई।'

जगत पर तो वज्रपात-सा हुआ, विनय का ज्ञान जाता रहा, बीच में ही वह बोल उठा : 'कौन ?' उसका स्वर बिलकुल बदल-सा गया था।

'कुछ नहीं मिस्टर ! यह तो मैं यों ही कह रहा था।'

'कौन हरिलाल ?'

'क्या तुम जानते हो ? वही हरिलाल वरजीवनदास !'

'सूरत के ?' जगत का गला भर आया, 'मर गये ?'

'हाँ!' उत्तरदाता ने सोचा कि यह बेचारा हरिलाल का कोई आश्रित होगा।'

'वह तो भाई ? अपने कष्ट से छुटकारा पा गये; लकवा मार गया था। परन्तु तनमन कैसी चतुर लड़की थी ?'

व···ह ?' जगत की साँस रुँधने लगी।

'मर गई।'

जगत चित्रलिखित-सा उसकी ओर देखता रहा। ऐसा लगा कि श्वाँस ही बन्द हो जायगी। वह दाँत पीसने लगा। वक्ता को जगत पागल-सा प्रतीत हुआ।

भाई ? लड़की तो बड़ी बुद्धिमती थी, परन्तु उसके श्यामू मामा एवं उस की विमाता दोनों ने मिलकर उसे मार डाला। क्या तुम उसे जानते हो ?'

जगत ने केवल 'हाँ' कहा। वह अपने विचार स्थिर करने का प्रयत्न कर रहा था किन्तु सफल नहीं हो पा रहा था। उसे अपने मस्तिष्क का यन्त्र-चक्र स्खलित होता हुआ-सा लगा। दोनों हाथों से उसने अपना माथा दबा लिया, भीतर कुछ पीड़ा मालूम पड़ रही थी। सूरत आने पर गाड़ी से उतर गया, परन्तु कैसे उतरा इसका ज्ञान उसे नहीं रहा। बच्चूभाई उसे लेने के लिए आया था किन्तु पहले तो वह जगत को पहचान ही नहीं सका। जगत के कंधे बैठ गये थे, सिर झुक गया था, पाँव लड़खड़ा रहे थे। उन्मत्तता एवं सन्निपात से उत्पन्न तेज उसकी आँखों में दीख पड़ रहा था। बच्चू ने सोचा कि जगत बिमार है।

'कैसी तबियत है ?'

'अच्छी है ?' बहुत ही धीमी आवाज में जगत ने उत्तर दिया।

घर पहुँचकर जगत चारपाई पर पड़ गया। इस समय वह विचार-विहीन और दुःख-विहीन था। अब तक दुःख एवं वियोग से उसका बल ज्यों का त्यों बना हुआ था, किन्तु अब वह भी जाता रहा। साहस, बल, शौर्य कुछ भी बाकी नहीं रहा। तेजस्वी युवक असहायावस्था में कायर बन गया। पति की मृत्यु के समय गुणवन्ती द्वारा अनुभूत निराश्रयता भी इस निराश्रयता की तुलना में तुच्छ थी। बड़े परिश्रम से वह थोड़ा बहुत खा लेता और घंटों दोनों हाथों से माथा दबाकर बैठा रहता।

दो-तीन दिनों में उसके विचार करने की कुछ शक्ति आई। पहले तो अपने को वह धिक्कारने लगा। अपनी 'देवी' को जिसने मर जाने दिया। अकर्मण्य बन कर कुछ किया नहीं। वह दोनों हाथों से अपने बाल पकड़ कर खींचता पीछे बड़बड़ाता, 'पापी, कुत्ता, चाण्डाल, स्वयं इधर-उधर भ्रमण करता रहा और निर्दोष स्नेहमूर्ति 'देवी' को दुःख और वियोग से मर जाने दिया ? किसलिए उसके

कोमल हृदय को प्रेम करना सिखाया ? और सिखाया भी तो किसलिए उसे दुनिया की दया पर छोड़कर विलग हो गया ?' दीवाल पर सिर पटक कर मर जाने का विचार उत्पन्न हुआ, वह फिर बड़बड़ाने लगा, 'अब जीने से लाभ ? किस के लिए ? संसार के वैभव, अत्यधिक परिश्रम से प्राप्त सुख किस 'देवी' के पदाम्बुज में रखने के लिए ? किसलिए खाया-पीया जाय ? कपड़ा पहनने-ओढ़ने से क्या लाभ ? संसार की दासता, उसके व्यवहार, उसके जंजाल सब उसे व्यर्थ लगे। किस के लिए ? किस के लिए ?' यह नाद उसके कान में प्रतिध्वनित होने लगा।

इस धुन से छुटकारा मिलने पर फिर दूसरे विचार-जाल में जा फँसा। समाज, उसके बन्धन, ईश्वर, प्रकृति के नियमादि के प्रति उसे घोर तिरस्कार उत्पन्न हो गया। समाज ने उसकी 'देवी' का जाति-बन्धन की रक्षा के हेतु वध किया था; उसके बंधनों ने उसे रुला-रुला कर अकाल के गाल में पहुँचा दिया था। ईश्वर ने उसे दुःखी किया, निर्दोष तनमन को दुःखी किया। किस लिए ? किस अधिकार से ? दुःख देना था तो उत्पन्न ही क्यों किया ? क्यों मिलाया—क्यों विलग किया ? सभी को वह धिक्कारने लगा। मनुष्य के चेहरे, वैभव, सुख से उसे विरक्ति सी हो गई। सृष्टि संहार करने के पूर्व शंकर जैसी मनःस्थिति उसकी हो गई। उसकी इच्छा सबका—अपना, समाज का, सृष्टि का—विनाश करने की इच्छा हुई। इस विचार को उसने किसी पर प्रकट नहीं किया बल्कि अपने मन में ही ऐसा विचार कर अपने मस्तिष्क को अमानुषी बना डाला।

लहरी स्वभाव वाले बच्चू की समझ में कुछ नहीं आया। पन्द्रह दिनों तक समझा कर वह थक गया। जगत को भी भाई के घर में बेकार पड़ा रहना अच्छा नहीं लग रहा था, वह भी वहां से भाग जाना चाहता था। वह किसी ऐसे निर्जन स्थल में जाना चाहता था जहाँ वह दिल खोल कर रो सके। निर्बाध विलाप कर सके। उसका सभी कुछ तो नष्ट हो गया था। वह गुम-सुम बैठा रहता और पागल के समान एक दिशा में एक टक देखा करता था।

अन्त में एक वर्ष की बाकी छात्र-वृत्ति लेने का बहाना निकाल कर उसने रत्नगढ़ जाने का विचार किया। बच्चू ने भी स्थान परिवर्तन से कुछ चैन मिलेगा यह सोच कर वहाँ जाने की आज्ञा दे दी।

दूसरे दिन जगत सूरत से निकल पड़ा।

५३

बहुत दिनों बाद जगत रत्नगढ़ आया था। स्टेशन से उतरते ही वह घटना याद आई जब गुणवन्ती के साथ उसे वहाँ से भागना पड़ा था, किन्तु उसके सब ज्ञान-तन्तु नष्ट हो गए थे। एक मास पूर्व रघुभाई का नाम अथवा रत्नगढ़ के अनुभव का स्मरण कर जिसमें सिर से पैर तक प्रतिशोध लेने की ज्वाला प्रज्वलित हो उठती थी, उसमें द्वेष के विचार करने की भी शक्ति नहीं रह गई थी। तनमन की मृत्यु के असह्य वज्र-घात ने उसे अभिभूत एवं कायर बना दिया था। सम्मान और गर्व का भाव जाता रहा, उसके स्वभाव में केवल मनुष्य जन्तु की निराश्रयता और जड़ता मात्र रह गई थी।

रत्नगढ़ में पहले जहाँ तंग गंदी गलियों में से होकर जाना पड़ता था, जहाँ जाते समय हमेशा यह डर बना रहता कि कहीं दो सौ वर्ष के पुराने मकान गिर कर कुचल न डालें वहाँ अब चौड़े, स्वच्छ, और आकर्षक राज-मार्ग बने हुए थे। ऐसा लग रहा था कि रेवाशंकर द्वारा एकत्र किए हुए धन का सदुपयोग किया जा रहा है। वहाँ के निवासियों की चाल-ढाल में भी पहले से बड़ा अंतर था परन्तु इन सब परिवर्तनों की ओर जगत का ध्यान नहीं था, तेजी से वह राम मन्दिर की ओर चला जा रहा था। वहाँ पहुँचने पर आमूल परिवर्तन की ओर उसका ध्यान आकृष्ट हुआ कि पुराने मन्दिर के स्थान पर उसने एक भव्य विशाल मन्दिर और उसके पास बना हुआ एक रमणीय उपवन देखा। एक व्यक्ति से रामकृष्णदास जी के सम्बन्ध में पूछने पर उसे मन्दिर में जाने का उसने संकेत किया।

मन्दिर थोड़े ही दिन का बना हुआ मालूम पड़ता था। जिस कोठी में पहले रामचन्द्र जी एक छोटे से घृत-दीप के प्रकाश में विराजते थे वहाँ आज बाहर से सूर्य का चमकता हुआ प्रकाश आ रहा था।

जगत ने एक शिष्य को बुलाकर रामकृष्णदास जी के बारे में पूछ-ताछ की। वह शिष्य जगत को बैठाकर रामकृष्णदास जी को बुलाने गया। जगत ने पाषाण की अंचलता में विराजमान रामचन्द्रजी की ओर देखा और उसके निष्प्राण मस्तिष्क में पूर्व के प्रसंग की स्मृति जागृत हो उठी। करुणोत्पादक रीति से हाथ पर अपना सिर रख वह पूर्व के स्वप्न देखने लगा।

थोड़ी देर में बाबाजी आये। दस वर्ष में भी उनमें कोई अन्तर नहीं आया था। उनकी चाल पूर्ववत् हाथी के समान, उनकी आवाज पहले ही जैसी तेज और स्नेहपूर्ण थी। अलबत्ता वह जगत को पहचान नहीं सके।

'कौन है ? तेरा नाम क्या है, भाई ?'

जगत ने सिर उठा कर ऊपर देखा और कहा—'बाबाजी ! आप मुझे नहीं पहचानते ? मैं नीलकंठराय का जगत हूँ।'

'कौन मेरा जगत ?' कह कर बाबाजी ने उसे उठाकर गले से लगा लिया। थोड़ा विरक्ति से जगत अपने को छुड़ाकर दूर खड़ा हो गया।

'बेटा ! तेरा पत्र आया था। गुणवंती बेचारी मर गई। जैसी रामजी की इच्छा। तू अच्छा है न ?'

'हाँ,' कहकर जगत सूखी हँसी हँसा, 'मेरा पत्र मिला था ?'

'हाँ, मिला था परन्तु अब तो मैं भूल जाता हूँ, मेरी स्मरण-शक्ति निर्बल हो गई है। बहुत बूढ़ा हो गया हूँ न ?' कहकर वृद्ध हँसे, 'अच्छा आकर बैठ। हाँ देख, मन्दिर अपना ही समझना।'

जगत वहीं रहने लगा किंतु बाबाजी उससे इतना अधिक स्नेह करते थे कि वह खीझ उठता था। जगत ने जीवन से विग्रह करना प्रारम्भ कर दिया था, उसे सभी मनुष्य शत्रु लगते थे। ऐसे समय इतना निःस्वार्थ स्नेह उसके मन में व्याकुलता पैदा कर देता था। बाबाजी ने भी देखा कि जगत का मन अस्वस्थ है। उसके खाने-पीने, सोने और बोलने की विरक्ति ने उन्हें कुछ-कुछ जगत के मन को सच्ची स्थिति का ज्ञान करा दिया। बाबाजी जी जगत को सचमुच बहुत चाहते थे और अपनी साधारण भावना से उसका मनोरंजन करने का भी प्रयत्न किया करते थे। ज्यों-ज्यों बाबाजी उसका मन बहलाने का प्रयत्न करते त्यों-त्यों वह और भी बिगड़ता था। अभी भी उसकी शोक-जन्य विक्षिप्तता नष्ट नहीं हुई थी। बिछौने पर लेटा-लेटा वह सबेरे तक रोया करता और प्रातःकाल से संध्या समय तक शोकाग्नि की धुन से प्रेरित विषमता से अनाप-शनाप बकता अथवा मूक बैठा रहता। या तो वह उन्मत्त के समान शून्य मस्तिष्क से माथा झुकाकर बैठा रहता अथवा जंगली के समान विभत्स विचार करता रहता था। रामकृष्णदास जी ने बहुत कुछ प्रयत्न किया किन्तु उनका एक भी प्रयत्न सफल नहीं हुआ। इसके विपरीत उनकी सरल श्रद्धा द्वारा दी हुई शिक्षा से जगत अधिक उत्तेजित हो उठता और जहाँ चाहता चला जाता। धीरे-धीरे मंदिर का परित्याग कर के पास ही के उपवन में उसने भटकना प्रारम्भ किया।

आठ-दस दिन में उसका जी उचट गया। अब किसी नये स्थान में जाने की उसकी इच्छा हो रही थी। कहाँ, यह नहीं जानता था। उसने बाबाजी से कहा, बाबाजी दृढ़ थे, तबियत में सुधार न होने तक कहीं जाने देना उन्होंने अस्वीकार कर दिया।

जगत हँसा, 'सुधार ? बाबाजी ! अब सुधार कैसा ? अब तो सब बिगड़ना ही शेष रह गया है।'

बाबाजी टस से मस नहीं हुए। उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि गुणवंती की

अनुपस्थिति में तुम पर मेरा पहला अधिकार है।

जगत ने उत्तर दिया—'मुझ पर अधिकार है ? अधिकार करने वाला तो चला गया। बाबाजी सभी कुछ तो जलकर राख हो गया। मैं तो भटकने वाला, इधर-उधर मारा-मारा फिरने वाला, बिना मालिक का जानवर हूँ। मुझे क्यों रख रहे हैं ? आप मुझे रख भी सकेंगे ? अच्छी बात है आपकी इच्छा है तो आज रह जाऊँगा परन्तु मेरी फिर इच्छा हुई तो चला जाऊँगा। संसार में मेरा कौन है जिसकी मुझे परवाह हो ? परवाह करने वाला तो निर्मोही निकला, सदा के लिए छोड़ कर चला गया।'

बाबाजी से उसने दुःख के आवेश में तनमन की सभी बातें कह दी थीं किंतु उससे इतना चित्त-भ्रम कैसे हुआ यह बाबाजी की समझ में नहीं आ सका था।

सन्ध्या समय बाबाजी को चैन नहीं पड़ी; उनका सरल बुद्धि इस रोग की परीक्षा नहीं कर सकी। जगत की देख-रेख का भार एक शिष्य पर देकर पास ही के एक मकान में वे चले गये।

५४

वह बाट जोहता हुआ खड़ा था। रमणीय चन्द्रिका अवनि पर अमृतमय वर्षा कर, दूर नाचती हुई समुद्र तरंगों को चाँदी से मढ़ रही थी। उसकी आधीनता में उपवन के पौधे पुष्प एवं समुद्र तट तक फैले हुए सघन वृक्षों के समूह, अमृतनाथ चन्द्रमा की शान्तिपूर्वक एकाग्र चित्त से सेवा कर रहे थे। जगत युवावस्था के जीवन में कृतकृत्यता द्वारा लाये हुए सन्तोष के बल में गर्व से खड़ा था। ज्योत्सना उसके तेजस्वी मुख पर, उसके ललाट पर फैले हुए बालों पर नाच रही थी, उसके अंग-प्रत्यंग से मनुष्यत्व का अनिर्वाच्य गौरव प्रकट हो रहा था। उसने एक कठघरे पर हाथ रखा। एकाएक दूर से चन्द्रिका ने मानो मधुर गीत गाया हो इस प्रकार बाँसुरी बजी, उसके आह्लादमय संगीत ने उसके प्रफुल्ल जीवन को गुञ्जारित कर दिया। अपने सामने विस्तृत रमणीय चित्रपट को अनुभवी स्वभाव की रसज्ञता से उसने देखा, और उमड़ते हुए हृदय से सुख की श्वाँस ली।

पास में आने वाली गाड़ी की घड़घड़ाहट सुनाई दी। वीण-नाद से जैसे हरिण ऊँचा मुँह करके देखे उसी प्रकार जगत ने देखा। उसके हृदय में रसमय लहरें उमड़ पड़ीं।

गाड़ी बाहर रुक गई उसमें से कोई उतरा। जगत ने देखा यह चन्द्रिका का मानुषी अवतार के समान एक स्त्री थी जिसका नख-शिख शुभ्र चमकते हुए

वस्त्रों से सुशोभित था। शीघ्रता से पड़ने वाले जोश से पूर्ण उसके प्रत्येक पद से रस और लालित्य झर रहा था। उसके देदीप्यमान नेत्रों ने जगत को देखा, जगत ने उसे देखा। थोड़े समय का वियोग युग के समान हो इस प्रकार दोनों के हृदय एक दूसरे में समा जाने के लिए दौड़े।

'देवी ! आ गई ?'

जवाब में आगन्तुका स्त्री हँस पड़ी। रस की वर्षा करने वाला उसका हास्य चन्द्रिका के रसपूर्ण वातावरण में प्रतिध्वनित हो उठा, मानो कह रही हो—'कितना अधीर है ?'

स्त्री आई। जगत सीढ़ी उतरने लगा। दोनों कुछ पग आगे बढ़े, एक दूसरे का आलिंगन किया। अल्प वियोग से उत्पन्न भयंकर दुःख पल मात्र में प्राण-में-प्राण सम्मिलित कर नष्ट हो गया। दोनों एक दूसरे का हाथ पकड़े हुए ऊपर चढ़े। मुख, रूप, रस एवं प्रेम से तेजस्वी बन गया था। आँखों में अलौकिक तेज चमक रहा था। जगत उसे बरामदे में ले गया। चन्द्रिका स्त्री के लावण्यमय शरीर को और भी सुन्दर बना रही थी। जगत थोड़ी दूर पर खड़ा होकर उसे सस्नेह देख रहा था।

'देवी ! किस शुभ मुहूर्त्त में प्रभु ने तुम्हारा निर्माण किया था ?'

'नाथ ! आपके निर्माण के तुरन्त पश्चात्।' कहकर स्त्री ने जगत के कन्धे पर अपना प्यारा, रसाल मुखड़ा रख दिया।

तुरन्त अजीब प्रकार से सहस्रों मनुष्यों का एक समूह आसपास में दिखाई दिया—मनुष्य एक दूसरे के कन्धे पर दर्शनातुर नेत्रों से झाँक-झाँक कर देख रहे थे, एक दूसरे के कान में कुछ प्रशंसात्मक शब्द कह रहे थे। थोड़ी दूर पर देव की दुन्दुभी गड़गड़ा रही हो इस प्रकार वाद्ययन्त्र का विजय नाद सुनाई दिया। जगत बाहर निकला; चारों ओर माननीय महाजन उसका अभिनन्दन कर रहे थे। जगत की चाल में नरेशों की गर्व-युक्त छटा थी। उसके खिले हुए नम्र चेहरे पर देवों को दीप्त करने वाली तेजस्वी निश्चलता प्रकट हो रही थी। उसके नेत्र विजयमद से मत्त अग्नि के समान चमक रहे थे। उसके हाथ पर हाथ रख कर चलने वाली, प्रेम गर्व से गर्वित, रस सुन्दरी के अप्सरा जैसे मुख पर उसके नेत्र गड़ गए थे और असीमित हर्ष से मुस्करा रहा था। वह सुन्दरी उसके कान में कुछ कह रही थी जिसे सुनकर जगत मुस्करा रहे थे। जगत का सिर स्वर्ग के सिंहासन को स्पर्श कर रहा हो ऐसा लगा। सम्पूर्ण जनसमूह ने विजयनाद किया। जगत अपना जीवन सफल देख कर हँसा और अपनी प्यारी सहचरी की ओर घूम पड़ा। सहचरी दूर गई···जगत पकड़ने के लिए दौड़ा, परन्तु अब वह कहाँ ? उसके दोनों नेत्र अन्धकार में चमकते हुए दिखाई पड़े। जगत ने पकड़ने का प्रयत्न किया। चारों दिशायें गूञ्ज उठीं। जगत और

तेजी से सुन्दरी के पीछे दौड़ा।

शान्त निष्ठुर चन्द्रिका राम-मन्दिर के चौक में बिखरी हुई थी। दूर कहीं सियार की त्रासदायक चिल्लाहट सुनाई पड़ रही थी। जगत पास ही कोठरी के बिछौने पर बैठा हुआ आँखें मल रहा था। पहले यह परिवर्तन उसकी समझ में कुछ नहीं आया, कहाँ पर है, इसका भी ज्ञान नहीं रहा। पश्चात् वन में एकाएक झञ्झावात् आ जाए, उसी प्रकार अपनी स्थिति, अपने वियोग, दुःख का तीव्र घातक स्मरण आ गया। स्वप्न-सृष्टि में प्राप्त 'देवी' का मुखोच्छवास अभी भी शरीर पर प्रतीत हो रहा था, वह बिछौने से उठ खड़ा हुआ और बाहर निकला। चाँदनी की सुन्दरता देखकर वह काँप उठा। उसकी आँखें शव के समान स्थिर, भावहीन हो गई। उसने जेब से तनमन के सुन्दर केशराशि की प्रेम-भेंट एवं पुड़िया में रखी हुई उसके पत्र की जली हुई राख निकाल कर अधरों से लगाई।

'मैं आ रहा हूँ देवी! आता हूँ।' कहकर चला, फिर रुक गया। चारों ओर उसने देखा। सौन्दर्य को, सृष्टि को एवं सृष्टि के कर्त्ता को मानो हार्दिक श्राप दिया। वह आगे बढ़ा, थोड़ी दूर पर एक बड़ा-सा कूप था, उसकी ओर चला। यन्त्रवत् वह सीधा, धीमी चाल से चल रहा था। कूप के पास पहुँचा, ऊपर चन्द्र की ओर, नीचे पानी की ओर देखा, पीछे घूमकर राम-मन्दिर की ओर देखते ही उसे बालपन में ली हुई प्रतिज्ञा स्मरण आ गई; हाथ के प्रेम चिन्ह का चुम्बन किया। वह कूएँ की जगत पर चढ़ा और कूएँ में कूदने के लिए उछला—

इतने ही में किसी ने उसकी गर्दन धर दबाई। रोष, निष्फलता से उत्पन्न उन्मत्तता से वह पीछे घूम पड़ा। एक सन्यासी उसे पकड़े हुए खड़ा था। उसकी आँखों से जगत के प्रति कठोर व्यंग टपक रहा था।

'कौन है? मुझे क्यों पकड़ा है?' जगत ने क्रोधावेश में क्षुद्रता से कहा, 'छोड़ दो मुझे!'

'छोड़ूँगा परन्तु आत्म-हत्या करने के लिए नहीं। चबूतरे से नीचे उतरो, तब छोड़ूँगा।' शान्ति से संन्यासी ने कहा।

जगत और भी चिढ़ गया। 'छोड़ दो! मुझे जाना है। मेरी 'देवी' मेरी बाट देख रही है।' उसका गला बैठ गया था।

कूएँ की ओर संकेत कर अनन्तानन्दजी बोले, 'वहाँ जाने की आज्ञा नहीं है, दूसरी जगह जाने के लिए स्वतन्त्र हो।'

अनन्तानन्दजी का मठ मन्दिर के पास ही था। अभी उन्होंने पागल के समान जगत को जाते हुए दूर से देखा। संध्या समय रामकृष्णदासजी आकर उनसे सहायता माँग गये थे, फल-स्वरूप वह तुरन्त समझ गये कि हो-न-हो

यही वह व्यक्ति होगा और तुरन्त आकर उसे रोका।

'आज्ञा ! आज्ञा !' जगत बड़बड़ाया—मुझे आज्ञा देने वाला तू कौन है ? मुझे रोकने का तुझे क्या अधिकार है ? छोड़, मुझे छोड़ !' कहकर छुड़ाने का उसने निष्फल प्रयत्न किया।

'अधिकार !' स्वामीजी जरा हँस कर बोले, 'अधिकार तो है—जीतने वाले का प्राबल्य। जो तुझे इस समय मरने के लिए प्रेरित कर रहा है उसे मैंने जीत लिया है; इतना ही मेरा अधिकार है।' यह कह कर जगत को कूएँ की जगत से नीचे उतारा। जगत ने स्वामी की ओर देखा, चाँदनी में उनकी भव्यता देख कर उसका क्रोध कुछ कम हुआ।

'मुझे जाने दीजिये, मैं आपके पैर पकड़ता हूँ। मेरा संसार में कोई नहीं है। मेरी वहाँ सब खड़े बाट जोह रहे हैं—विलम्ब हो रहा है।'

'होने दो विलम्ब।' न्यायाधीश जैसे अचल आदेश के समान वह बोले, 'यदि उन्हें तेरी आवश्यकता होगी तो वह यहीं आयेंगे। जब तक तू यहाँ है तब तक तू अपना काम तो कर पीछे उनकी सोचना।'

'अपना ? उनके बिना सब व्यर्थ है; जीवन सब विषमय है। मुझे तत्त्व-ज्ञान की आवश्यकता नहीं है, मुझे जाने दीजिये !' जगत खीज कर बोला।

'मुझे तत्त्व ज्ञान बताना भी नहीं है, मुझे तो इतना ही बताना है कि मृत के पीछे मरने से लाभ ? कैसे जानते हो कि वह तुम्हें वहाँ मिलेगी ही ? मिलेगी तो यहीं मिलेगी। आओ, तुम्हें ऐसा सुख दिखाऊँ कि जिसे तुमने स्वप्न में भी नहीं देखा होगा।'

जगत स्वप्न का स्मरण कर काँप उठा।

जगत पर स्वामी के अद्‌भुत व्यक्तित्व का प्रभाव होने लगा। वह नम्र बन कर बोला—'स्वामीजी ! व्यर्थ की बातों से क्या लाभ ? वह भला कहीं मिल सकती हैं ! मैं बहुत दुःखी हूँ, स्वामीजी ! बहुत दुःखी हूँ। जीवन की अपेक्षा मृत्यु सहस्रगुण अच्छी है।'

'अच्छी बात है तब जीवित रहते हुए मरना सीखो। चलो, इस समय तो चलो, प्रातःकाल बातें होंगी ! यदि तुम्हें रहने की इच्छा न होगी तब कूआं तो कहीं भागा जा नहीं रहा है ! एक बार देख तो लो !'

'कहाँ ले जाइयेगा ? आप कौन हैं ?'

'मैं यहाँ का स्वामी हूँ। लोग मुझे अनन्तानन्द कहते हैं।'

'स्वामीजी आप ही हैं !' जगत ने अनन्तानन्द के विषय में बहुत कुछ सुना था, अच्छी बात है आता हूँ किंतु जब मेरा मन चाहेगा चला जाऊँगा।'

स्वामीजी बोले मानो अपने पुत्र को समझा रहे हों। उनका शरीर क्रोध से भर गया, तुम अपनी निरर्थक शिक्षा के वशीभूत हो किसी तुच्छ धुन में

व्याप्त होकर अन्त में इस दशा को पहुँच जाते हो; साधारण चींटी के काट लेने पर जीवन का अन्त कर देने के लिए तत्पर हो जाते हो। एक प्रकार के जीवन ने तुम्हें इस दशा को पहुँचा दिया, दूसरे प्रकार का जीवन तुम्हें कहाँ ले जाता है, यह तो जरा देख लो। अधीरता में ही वर्तमान समय की बुद्धिमत्ता समा गई प्रतीत होती है। चलो, यदि तुम्हें जीवन निर्थरक लगेगा तो मैं तुम्हें चले जाने की आज्ञा दे दूँगा, और कुछ ?'

जगत का हाथ पकड़ कर स्वामीजी अपने साथ मठ में ले गये।

५५

'सिद्धनाथ अभी तक क्यों नहीं आया ?' द्वार की ओर देखते हुए अनंतानन्द ने पूछा। गत प्रकरण की घटना को व्यतीत हुए आज दस वर्ष हो गये थे किन्तु अनन्तानन्द में कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ था। वही गौरव, वही राजाओं की भव्यता को लज्जित करने वाला तेज, आँखों में भी वही अवर्णनीय चमक, केवल शरीर थोड़ा सूख गया था, और चेहरे पर सिकुड़न पड़ जाने से वृद्ध प्रतीत होते थे। वे खड़े-खड़े दो-तीन सन्यासियों के साथ वार्त्तालाप कर रहे थे। थोड़ी दूर पर एक टेबुल पर बैठी हुई चम्पा किसी वृद्ध के आँगन में स्थित गृहिणी के समान शोभायमान हो रही थी। पूर्वाश्रम की नायिका—अब वह नहीं थी। अनन्त मठ के बड़े कमरे में तीस-चालीस सन्यासी एकत्र हो कर धीरे-धीरे कुछ बातें कर रहे थे। प्रातःकालीन बालसूर्य एकत्रित संन्यासियों के गेरुआ वस्त्र को एवं देदीप्यमान मुख को दीप्त कर रहा था। सभी किसी की बाट जोहते हुए प्रतीत होते थे।

अनन्तानन्द ने अनन्तमठ में अपने मुख्य शिष्यों को बुलाया था। कोई-कोई तो कुछ देर ही पहले आये थे वैसे तीन-चार दिन से शिष्यगण आ रहे थे। सन्यासियों के मुख से ऐसा तेज प्रकाशित हो रहा था कि साधारण से साधारण व्यक्ति भी उन्हें देख कर कह सकता था कि उनमें से एक भी भारत लिए श्राप रूप, धर्म के नाम पर पैसा लूटने वाला पाखण्डी संन्यासी नहीं है। सभी के बोलने-चालने की रीति और गौरव ऐसा था मानो अनन्तानन्द के लघु संस्करण मात्र हों। इस मण्डल को अनन्तानन्द का कुटुम्ब कह सकते हैं, यह उनके बीस वर्ष के अथक परिश्रम का परिणाम था।

'सिद्धनाथ अभी तक क्यों नहीं आया ? गाड़ी 'लेट' है क्या ?'

'जी हाँ ! ऐसा ही लगता है। लीजिए यह रणुभा आ गये।' एक संन्यासी ने कहा। फिर रणुभा को ही सम्बोधित कर उसी ने कहा, 'पधारिये।'

रणुभा का शरीर कुछ मोटा हो गया था, चेहरा भर गया था जिससे शान्ति और भलमनसाहत प्रकट हो रही थी। उन्होंने आते ही अनंतानंद को प्रणाम दूसरों को नमस्कार किया। उसके पास दस पन्द्रह सन्यासी आ गये और अनंतानंद के चारों ओर एक झुण्ड-सा एकत्रित हो गया।

'कहो रणुभा, कुँवर कैसा है ?'

'अच्छी तरह है, अभी जसुभा की मृत्यु भूला नहीं है। उसका स्वभाव बड़ा कोमल है।'

'इस कोमलता में शौर्य लाना तुम्हारा काम है। सोलङ्की सूर्य में तेज भी तो चाहिए।' अनंतानंद ने कहा, 'देखा अविभावक हुए तो यह लाभ हुआ। हमारा दो वर्ष का परिश्रम सफल हुआ।'

'बहुत परिश्रम पड़ा, क्यों महाराज ?' एक सन्यासी ने पूछा। वह सन्यासी लम्बा और काला था।

'सरकार राज्य रेसीडेन्ट को सौंप देना चाहती थी।'

'दयानन्द ! अभी बंगाल की खुमारी दूर नहीं हुई क्यों ?' अनंतानंद ने कटूक्ति करते हुए कहा, कितना परिश्रम पड़ा, यह तो हमारा मन जानता है। यह रेसीडेन्ट नियुक्त किया गया तो हमारे सभी प्रयत्नों पर पानी फिर गया होता। तब हमारा वीरसेन फूटबाल. क्रिकेट और बहुत होता तो पोलो अथवा शिकार खेलने में अवश्य ही अद्वितीय होता। संसार को इतना नुकसान तो अवश्य हुआ।'

यह सुन कर सभी हँस पड़े।

रत्नगढ़ का दस वर्ष का इतिहास बहुत ही संक्षिप्त है।

खेल-कद कर जी बहलाते हुए जसुभा स्वधाम सिधारे, अपने पीछे एक छोटा सा बालक छोड़ गये थे। इस अवसर से लाभ उठा कर बम्बई में बैठे हुए रघु-भाई ने तूफान खड़ा किया और बालक के पूर्ण वय प्राप्त करने तक रेसीडेंसी राज्य का कारोबार सँभाले, ऐसी आज्ञा प्राप्त करने का उसने प्रयत्न किया। बहुत परिश्रम के पश्चात् अनन्तानन्द विजयी हुए, रणुभा दीवान बनाये गये। परन्तु इस तूफान से पार उतरने में अनन्तानन्द को बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था।

रणुभा के आने पर अधिकांश संन्यासी उनके पास आ गये। केवल चार-पाँच खिड़की में खड़े कुछ बातचीत कर रहे थे।

'अमरानन्द ! अब कौन बाकी रह गया है ? दिन चढ़ रहा है और रात में मुझे बाहर जाना है।'

'देखिये !' अमरानन्द ने मजाक में गंभीरता धारण कर कहा। अमरानंद देखने लायक व्यक्ति थे। उनका शरीर नाटा और मजबूत था। चेहरा गोल,

आँखें छोटी, हँसमुख और लम्बा सुडोल सिर शीशे के समान चमकता था। वह हमेशा हँसकर बोलते एवं लोकप्रिय बनने का प्रयत्न करते। वे अनन्तानन्द के मुख्य शिष्य थे ; इस समय लक्ष्मणपुर स्टेट में रहते थे। अनन्तानन्द उन पर पहले अत्यधिक विश्वास करते थे किन्तु इस समय दोनों में कुछ असन्तोष उत्पन्न हो गया था। उनके कथन में गुप्त कटाक्ष दिखाई पड़ता था। अपनी छोटी आँखें स्थिर कर उन्होंने कहा—'देखिये, अभी तक आपके सिद्धनाथ कहाँ आये है ? सिद्धनाथ है कौन ? वही जो आपका आधार एवं आपके प्रयत्नों का प्रेरक है। उसके बिना भला काम कैसे प्रारम्भ किया जा सकता है ?' दो-तीन व्यक्ति हँस पड़े। एक संन्यासी इस कटाक्षपूर्ण भाषा से ऊब कर दूर जा खड़ा हुआ।

कुछ देर पश्चात् नीचे गाड़ी के पहियों की आवाज सुनाई दी सभी चुप हो गये।

'सिद्धनाथ आ गया।' अनन्तानन्द ने कहा। शक्तिशाली पैरों से कोई सीढ़ी चढ़ रहा था। अनन्तानन्द थोड़ा प्रेम से हँसकर बोले—'इसके सिवा दूसरा कोई इस प्रकार चढ़ ही नहीं सकता।'

क्षण भर बाद एक लम्बा साधु आया। उसकी छोटी दाढ़ी और लम्बे बाल उसके चेहरे की कान्ति को बढ़ा रहे थे। उसका चेहरा सुन्दर, सहस्रों पुरुषों के बीच में भी ध्यान आकृष्ट करने वाला था। उसके अंग-प्रत्यंग से रूप की अपेक्षा अटल दृढ़ता एवं दुर्जय सत्ता अधिक प्रकट होती थी। चेहरे की रेखाएँ कठोरता से दबी हुई थीं। आँखों में कठोरता और प्रभाव का प्रकाशमान तेज था ; उसे देखते ही मनुष्यों में नम्रता का भाव पैदा होना स्वाभाविक था। सम्पूर्ण शरीर से भी वही व्यक्तित्व प्रकट हो रहा था। पद-पद पर, प्रत्येक अभिनय में, प्रत्येक शब्द में सत्ता की निश्चलता दिखाई पड़ती थी। वहाँ पर उपस्थित तेजस्वी पुरुषों में भी उसका तेज भिन्न था। अनन्तानन्द की भव्यता देवताओं का स्मरण कराती, सिद्धनाथ का कठोर गौरव नैपोलियन जैसे नरवीरों की याद ताजा करती थी। प्रसंगशात् वह भिन्न-भिन्न रूप धारण कर सकता था जब कि दूसरा अचलता का सत्व बना रहता था। एक शान्ति का अवतार लगता जब कि दूसरा सत्ता का। सिद्धनाथ ने अपने लम्बे सुदृढ़ शरीर कर अनन्तानन्द के सामने झुकाया, चम्पा का आशीर्वाद ग्रहण किया और बाकी सब से दो-चार बातें कर कुशल क्षेम पूछा।

'सिद्धनाथ !' अमरानन्द ने आगे आकर अपने स्वाभाविक कटाक्षमय भाव से कहा—'बहुत देर लगा दिया ? स्वामी जी घबरा रहे थे।'

'इसका मुझे खेद है, किन्तु इसमें मेरा कोई दोष नहीं है, गाड़ी लेट थी। चलिए महाराज ! अब काम प्रारम्भ कीजिए।' अनन्तानन्द की ओर घूम कर

स्वस्थ दृढ़ आवाज में सिद्धनाथ ने कहा ।

'अच्छा ! परन्तु अभी तू मद्रास से चला आ रहा है ; थोड़ा विश्राम तो कर ले ।'

'विश्राम करने का बहुत समय है ।' सिद्धनाथ बोला । वह जरा हँसा किन्तु उसकी हँसी नीरस थी ।

सब लोग जाकर वहीं पर रखे हुए एक बड़े गोल टेबुल के चारों ओर बैठ गए । यह सभा ऐसी लग रही थी मानों सतयुग के ऋषिगण सदेह मृत्युलोक में आ कर सभा कर रहे हों । एक किनारे अनन्तानन्द बैठे । सभी में उन का स्वरूप निराला ही था । एक तरफ रणुभा और चम्पा और बांई तरफ कुछ कागज लिए हुए सिद्धनाथ बैठे थे । सब के बैठ जाने पर अनन्तानन्द जी उठ कर बोले—

'मेरे शिष्यगण ! जिस कार्य के लिए हम लोग आज यहाँ एकत्र हुए हैं उसे प्रारम्भ करना चाहिए । आप लोगों में से अनेक व्यक्ति दूर देश से आए हैं जिनमें से कुछ लोग तो आज रात को ही चले जाएँगे । आपके जाने के पूर्व मुझे एक बहुत ही गम्भीर प्रश्न आपके सम्मुख रखना है ।' अनन्तानन्द की सुन्दर आवाज धीरे-धीरे गम्भीर होती गई ।

'बीस वर्ष पूर्व मैंने अपना यह प्रयत्न प्रारम्भ किया जिसके फलस्वरूप आप जैसे शिष्यों को प्राप्त करने का गौरव मुझे मिला है । हम तीन सौ संन्यासी एवं बारह सौ बाहरी मनुष्यों को अपने कार्यक्षेत्र में ला सके हैं, जिसके कठोर परिश्रम से आज तीन देशी राज्यों में हमारा प्रभाव व्याप्त हो चला है । बीस विद्यार्थियों को हम विदेश भेज सके हैं । सात महाविद्यालय एवं छब्बीस विद्यालय हम चला रहे हैं तथा छोटी-बड़ी पाँच सौ पाठशालाओं में अपने भाव को प्रेरित कर सके हैं । अब हमारे कोष में लगभग चालीस लाख रुपए हैं, ऐसा सिद्धनाथ का कथन है । अब तक यह सब मैं अकेले ही करता चला आया था किन्तु अब मैं वृद्ध हो चला हूँ, मुझसे सब काम होता नहीं इसलिए मेरा विचार है कि यह सब प्रयत्न एवं संस्थायें एक क्षण-भंगुर देह के अस्तित्व पर न टिकी रहें, इसकी अपेक्षा उन का भार यदि एक बड़ी संस्था पर हो तो अपना कार्य अधिक सुचारू रूप से चले । हम में से बहुतों ने वैराग्य को अपनाया है फल-स्वरूप अहं का विनाश भी हुआ होगा ; ऐसी मुझे आशा है । अतः बिना किसी भी प्रकार के विरोध के हमें यह कार्य उठा लेना चाहिए । मेरी विनती है कि हम सैंतीस व्यक्ति जो यहाँ उपस्थित हैं उनकी एक कार्यकारिणी समिति बना दीजिए, जिनमें से तीन मुख्य कार्यकर्ता चुन लिए जाएँ, जिनके हाथ में सब सत्ता रहे और जो दूसरे के कार्यों पर दृष्टि रख सकें । इसके बाद आप को एक अध्यक्ष भी निर्वाचित कर लेना चाहिए ताकि अपने काम में किसी प्रकार

का स्खलन न होने पाये और जिसकी सत्ता सबसे अस्पर्श्य रहे…'

'मैंने इन नियमों के सम्बन्ध में आप में से कई व्यक्तियों के साथ परामर्श किया है और उस के परामर्श के अनुसार बहुत से नियम बनाए हैं जिन्हें आप को दयानन्द जी बतायेंगे। इसके पूर्व एक मतभेद आ खड़ा हुआ है जिसे मैं दूर कर देना चाहता हूँ। मैं लोक-शासन का सेवक हूँ। सृष्टि में उसका प्रसार करना मैंने अपना धर्म समझा है किन्तु लोक-शासन अपने मंडल में प्रविष्ट कर, अपने कार्यकर्त्ता एवं अध्यक्ष को स्वतंत्र सत्ता न दे कर बार-बार उन से हिसाब लेना मुझे पसन्द नहीं है। हम काम क्रोध से मुक्त हैं, हमारी बुद्धि निर्मल है, ऐसी मेरी धारणा है। इसलिए हमें ऐसे ही व्यक्तियों को निर्वाचित करना चाहिए जिन की व्यवसात्मिका बुद्धि शुद्ध हो और जो विश्व के अचल नियमों को देखते हुए अपने निर्धारित कार्य को पूर्ण कर सके। ऐसे व्यक्ति के प्रत्येक कार्य के सम्बन्ध में उससे मोह-विनोद करने से अवश्य ही अपने तंत्र के टूट जाने की संभावना है। इस स्थिति में कोई भी योगी कभी भी हमारी सहायता करने के लिये तत्पर नहीं होगा। इसलिए यह नियम एकमत से स्वीकृत कर अपना कार्य सफलीभूत करेंगे ; ऐसी मुझे आशा है।'

अनन्तानन्द के बैठ जाने के पश्चात् दयानन्द ने सब नियम पढ़ कर सुना दिए। उस पर विवेचन प्रारम्भ हुआ। कुछ लोगों के संशोधन के पश्चात् अमरानन्द उठे। सब को धन्यवाद देने के उपरांत नियमों के संबंध में बोलने लगे। मीठी चुटकी लेते हो इस प्रकार वह सबका खण्डन करने लगे। जो संन्यासी नहीं हैं उसे मण्डलों में प्रविष्ट करने का कारण ? सिद्धनाथ, चम्पा और रणुभा की आवश्यकता ? स्त्रियाँ संन्यास नहीं ले सकतीं ऐसी शास्त्राज्ञा का उदाहरण दिया और ऐसा विचित्र मण्डल बनाकर संन्यासियों का अपमान न करने की अनंतानंद से प्रार्थना की। दूसरा प्रश्न मण्डल के स्थायित्व व भलाई का था 'हम ऐसी प्रवृत्तियों को अपनायें ही क्यों ? संन्यासियों के लिए देश क्या ? उनके लिए हिन्दुओं के प्रति विशेष प्रेम क्यों हो ? उनके लिए मानव-मात्र बराबर हैं, संसार में इतने दुःख फैले हुए हैं उन को दूर करने के बदले लोगों को पढ़ाना, उनमें एक प्रकार की भावना लाने का प्रयत्न करना क्या मिथ्या नहीं है ?' तीसरा प्रश्न उन का लोक-शासन संबंधी था। 'अध्यक्ष को क्यों स्वतंत्र सत्ता दी जाय ?' दो घंटे तक वह इस प्रकार खंडन मंडन करते रहे। अन्त में लक्ष्मणपुर में की हुई अपनी सेवा के संबंध में दो शब्द कह कर वह बैठ गये।

सब संन्यासी कुछ आतुरता से देखते रहे, सब जानते थे कि अमरानंद ने लक्ष्मणपुर में बहुत अच्छा कार्य किया है फिर भी अपनी सत्ता बढ़ाने में वह चूके नहीं थे, और धीरे-धीरे अनंतानंद के मुकाबले में खड़े होने का उनका स्पष्ट

मनोभाव दिखाई पड़ रहा था। बहुतों की सद्बुद्धि उन्हें तिरस्कार से देखती। जब से वे आये थे अननंतानंन उन्हें बहुत समझा रहे थे, किंतु उसका कुछ परिणाम नहीं हुआ, यह सब लोग जानत थे। पूज्य अनन्तानंद के विरोध में इस प्रकार धृष्टता से बोलने पर सब लोग अमरानंद को घृणा से देखने लगे।

एक स्वामी ने उठ कर अमरानंद की आलोचनाओं का संक्षेप में जवाब दिया। दूसरे कोई उठे, इसके पूर्व ही अननतानंद ने स्वयं उत्तर देने का निश्चय किया। पहले उन्होंने पिता की तरह शिक्षा दी। रजोगुण की प्रधानता के संबंध में प्रकाश डाला। धीरे-धीरे उनका स्वर तेज होने लगा, उनकी आँखों से अंगार से बरसने लगे, उनके हृष्ट-पुष्ट शरीर की भव्यता चमक उठी। ऋषियों की सभा में कोई दुर्वासा गर्जना करे इसी प्रकार उन्होंने गर्जन किया, अमरानंद की दलीलों के चिथड़े उड़ा दिये। उन्होंने कहा—'संन्यस्त दिलाकर भारत के समाज को फिर शुष्क ज्ञानयोग के चक्र में मुझे नहीं डालना है; मेरे सभी शिष्य सुसंस्कृत स्त्रियों के साथ विवाह कर भारतीय प्रजा में वीरता लायें, इसके विपरीत दूसरा कुछ मैं देख ही नहीं सकता। मेरे मतानुसार इस मंडल का कर्त्तव्य आर्यावर्त के वृद्ध नसों में शुद्ध रक्त का संचरण करने के सिवा दूसरा कुछ है भी नहीं और लोक शासन मनुष्य के लिए हैं, योगी के लिए नहीं, उस नियम से बँधकर मंडल में अन्धाधुन्धी प्रविष्ट करने से हमारा अधःपतन हुए बिना नहीं रहेगा ; अपूर्व योग के बतलाये हुए सच्चे दृष्टिकोण पर चलना, सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक आवश्यक है। यदि अभी से राग-द्वेष करना हो, भेदाभेद की तकरार प्रारम्भ करनी हो तो मंडल की आवश्यकता नहीं है ; मैं स्वयं मरते दम तक काम करूँगा और मृत्यु के समय किसी भी उपयुक्त व्यक्ति को अपनी शक्ति दे जाऊँगा।'

अननंतानंद सभी शिष्यों को पुत्र से भी अधिक मानते थे. सब को उन्होंने कुछ न कुछ सिखाया था। आज उनके प्रताप से सभी विद्वान् थे और सभी ने योग की शक्ति का अनुभव किया था। सभी अमरानंद के संयमहीन व्यवहार से परिचित थे और दुःखी भी थे। अमरानंद ने देखा कि सभी लोग—जिसमें कोई भी साधारण या तुच्छ नहीं है—मेरे विरुद्ध है तो वह दब गये और सभी नियम बहुमत से स्वीकृत हो गये।

इसके बाद कार्यकर्त्ताओं की नियुक्ति का प्रश्न उठा। प्रत्येक व्यक्ति ने एक कागज पर तीन-तीन नाम लिखे। अननंतानंद ने सबका कागज लेकर मत गिन कर बताया ; सिद्धनाथ ३६, दयानंद २५, चम्पा २२, निगमानंद ७, रणुभा १६, प्रणवानंद ६, अमरानंद ५। इस प्रकार पहले के तीन व्यक्ति कार्यकर्ता नियुक्त हुए। इससे अमरानंद अत्यधिक अपमानित हुए। वह दाँत पीसने लगे, छोटी-छोटी आँखों में विष भर गया जिसे उन्होंने कठिनाई से दबाया।

अध्यक्ष का चुनाव बड़ी सरलता से हो गया। सबने अनंतानंद से यह पद स्वीकार करने के लिए कहा परन्तु उन्होंने यह कहते हुए अस्वीकार कर दिया कि मुझे देखना है कि मेरे बिना काम कैसे चलता है। मैं कहीं जाता थोड़े ही हूँ, इसलिए किसी दूसरे को निर्वाचित करो।

पुनः मत लिये गये। नियमानुसार तीस मत मिलने चाहिये थे। मत की गणना कर अनंतानंद ने खड़े होकर कहा कि सिद्धनाथ निर्वाचित हुए। सिद्धनाथ खड़े हुए। दृढ़ता से धीरे-धीरे बोले। अपने थोड़े अनुभव को बताने के पश्चात् उन्होंने कहा—'इसके अतिरिक्त मैं संन्यासी नहीं हूँ, बाहरी स्वरूप में तथा अन्तर में संन्यासी होने के योग्य नहीं हूँ। मेरी 'व्यवसात्मिका बुद्धि' जैसी चाहिये वैसी निर्मल नहीं है; मेरी वासना का अभी तक नाश नहीं हुआ और ऐसे पवित्र महात्माओं का अध्यक्ष बनकर मैं उनका अपमान करना नहीं चाहता।'

यह सुनकर सभी चिन्ता में पड़ गये। अनंतानंद ने भी सिद्धनाथ द्वारा कही गयी सत्यता को देखकर उसे स्वीकार किया। फिर मत लिये गये परन्तु किसी को तीस मत नहीं मिले। नियमानुसार कार्यकर्ताओं की सभा को अध्यक्ष का नाम उपस्थित करने के लिए कहा गया। चम्पा, दयानन्द और सिद्धनाथ ने विचार कर कहा कि अभी एक वर्ष तक अनंतानंद के पास रह कर कोई काम करने वाला चाहिये जिसके लिए रणुभा का नाम उन्होंने रखा। सभा ने बहुमत से उन्हें निर्वाचित किया और इसके पश्चात् सभा के विसर्जन का समय आया।

अध्यक्ष और कार्यवाहक दूसरे कमरे में आगामी वर्ष का कार्यक्रम निश्चित करने के लिए गये। कार्य के बटवारे में अमरानंद को दक्षिण में काम करने की अध्यक्ष ने आज्ञा दी।

अमरानंद कुर्सी पर कूद पड़े। लक्ष्मणपुर में किए समस्त परिश्रम, प्राप्त की हुई समस्त सत्ता पर पानी फिर गया। जले पर नमक! अध्यक्ष नहीं, कार्यवाहक नहीं उसपर लक्ष्मणपुर के अधिकार से भी पदच्युत! वह कहने के लिए उठ रहे थे कि अनंतानंद ने उन्हें रोक दिया। अमरानद आपे से बाहर हो गये परन्तु इस सात्विक सभा में क्रोध दर्शाने से स्थिति हास्यजनक हो जायगी यह सोचकर चुप रह गये। निगमानंद को लक्ष्मणपुर स्टेट में जाने की आज्ञा देकर सभा विसर्जित हुई।

पश्चात् सब लोग सिद्धनाथ और दयानन्द के पास आये। सिद्धनाथ ने गत दस वर्षों में सबका मन हर लिया था। यह लोक सेवी स्वामियों का समूह—संसार की वासना त्याग कर उसका उद्धार करने के लिए तत्पर योगियों का मन्डल—सिद्धनाथ को अपने उदीयमान नायक के समान देखता था।

५६

सिद्धनाथ वहाँ से चम्पा के साथ निकला। उस विशाल मठ के एक कोने में चम्पा का निवास था। वह वहाँ सिद्धनाथ को ले गई। सिद्धनाथ को यात्रा की थकावट मिटाने का वहीं अवसर मिला। स्नानोपरान्त उसने अल्पाहार किया और कुछ देर पश्चात् मठ के पीछे उपवन में चला गया। मठ में सभी निवासी उसे पहचानते थे और बहुत दिनों बाद आने से सभी बहुत स्नेह से उसे सम्बोधित करते थे। वह मार्ग के दोनों किनारे पर लगे हुए रमणीय वृक्षों की पात से होकर नदी तट पर गया। थोड़ी दूर पर सुलभा नदी मंद-मंद बह रही थी और पश्चिम में जहाँ क्षितिज में वह लीन हो दृष्टिगोचर हो रही थी वहाँ पर अस्ताचल-गामी सूर्य का बड़ा बिम्ब लटक रहा था। सिद्धनाथ एक पत्थर पर बैठ गया और मस्तक पर हाथ फेर कर निराशापूर्ण आँखों से बहुत देर तक सूर्य-विम्ब को देखता रहा। थोड़ी देर बाद उसने एक आह ली और बड़बड़ाया—'हे मन तू···।'

'अब तक अस्थिर बना रहेगा ?' पीछे से स्वामी का हँसता हुआ दयापूर्ण स्वर सुनाई पड़ा।

सिद्धनाथ ने पीछे घूमकर अपनी ओर स्नेहपूर्ण आँखों से देखते हुए अनंतानंदजी को देखा उनकी आँखों में वत्सल पिता का औत्सुक्य और प्रेम था। सिद्धनाथ के सत्ता दर्शन, गौरव पूर्ण चेहरे पर नम्रता और मान का भाव दिखाई पड़ा और उसने अपनी दृष्टि नीची कर ली।

'सिद्धनाथ ! बेटा ! कब तक अस्थिर बना रहेगा ?'

'स्वामीजी !' सिद्धनाथ की दृढ़ आवाज मनोवृति के भार से काँप रही थी। 'कभी-कभी तो ऐसा होता है कि स्थिरता कभी आवेगी ही नहीं। मेरे जैसे स्वभाव को पूर्णता किसी दिन मिलेगी मुझे विश्वास नहीं है ? मुझे लगता है कि योग मेरे लिए अप्राप्य है।'

'अप्राप्य ! यह पागल मनुष्यों का प्रलाप है। हमारी चारित्र्य भावना भिन्न-भिन्न मनुष्यों के लिए भिन्न नहीं है। अन्तर केवल इतना ही है कि कुछ लोग सरलता से उसका साधन कर लेते हैं और दूसरों को कुछ कठिनता होती है। सृष्टि में ऐसा कोई भी भावना-शिखर नहीं है जहाँ अभ्यास और वैराग्य न पहुँचा जा सके।'

सिद्धनाथ ने ऊपर देखा।

'आप मुझ पर व्यंग कर रहे हैं महाराज ? आज दस वर्षों से आपके किस कथन का पालन मैंने नहीं किया है ? क्षमा कीजियेगा, अभिमान नहीं करता,

किंतु आपकी मेरे सम्बन्ध में निर्धारित सभी आशायें···।'

'बहुत कुछ पूर्ण हो गई हैं : मनुष्यत्व की रूपरेखा की अपने विचारों में जो मैंने कल्पना की थी उसे सिद्ध होते हुए तुम्हारे में देखा है। तुम्हारा वैराग्य, तुम्हारा योग देश को दीप्त करेगा परन्तु एक ही भय मेरे मन में बना रहता है कि तुम्हारी बुद्धि निर्मल नहीं है। विश्व-नियमों में अपने व्यक्तित्व को लय कर देना अभी तक तुमने पूर्णरूप से नहीं सीखा है।'

'मैं जानता हूँ, स्वामी जी ! जानता हूँ। अन्तर में प्रायः ऐसा दावानल जल उठता है कि तब यह वैराग्य शुष्क, धिक्कार का पात्र प्रतीत होता है ; खोये हुए प्रेम का स्मरण, दबाए हुए बैर का पागलपन मन को व्याकुल कर देता है, आपकी दी हुई शक्ति में राक्षसी स्फुरण स्फुरित होता है।'

'इसी से तुम अपने कर्त्तव्यों को वैराग्य-बुद्धि से देखने के बदले अपनी विकारपूर्ण आँखों से देखते हो।' स्वामी ने समझाया।

सिद्धनाथ यह सुनकर नीचे देखने लगा।

'इस प्रकार चलोगे तो किसी भी दिन हम लोगों का प्रयास चौपट हो जाएगा। जगत के नेता की दृष्टि सर्वग्राही और निर्मल होनी चाहिए।

'मुझे नेता होने की आशा नहीं है—मुझे नेता होना भी नहीं है।' सिद्धनाथ ने कहा।

'तू होगा—तू है। नेता बनना न बनना किसी के हाथ की बात नहीं है। जितने अंशों में तेरे में देश और समय के गुण खिलेंगे उतने अंश में तेरा नेता बनना निश्चित है। जिस परिस्थिति में तेरा जन्म हुआ उस समय के, सृष्टि की उत्क्रांति की सहायता करने वाले, जीवित लक्षण तेरे में प्रकट होंगे, उससे तू नेता बनेगा और साधन पूर्ण हो जाने पर तू देव बन जाएगा।'

'मेरे में ? शायद ही···' निराशा से सिर हिलाते हुए सिद्धनाथ ने कहा।

'नहीं, तेरे में नहीं हैं। हमारा दयानन्द तुझसे अधिक बुद्धिशाली है—किंतु वह वर्तमान समय के योग्य नहीं है। जंगल में जाकर तपश्चर्या करना ही यदि मनुष्य के उत्थान के लिए आवश्यक होता तो अवश्य ही वह नेता बनता। परन्तु उसका सच्चा स्थान ईस्वी सन् पूर्व के भारत में था ; इस समय नहीं है। इस समय हमें ज्वलन्त, विजयी, मनुष्यत्व—मनुष्यत्व जो आत्मा पर विजय प्राप्त कर, बाहर की सृष्टि को जीत ले—ऐसे व्यक्तित्व की आवश्यकता है।'

'और आप समझते हैं कि मैं—स्वार्थी, विलासी, अपने वैराग्य का अभिमानी—' सिद्धनाथ को अपने अवगुणों पर अधिक ध्यान रहता था।

'सिद्धनाथ ! हाँ, तेरे दोषों को मैं जानता हूँ—दो हैं—बहुत बड़े। परन्तु उनके दूर हो जाने पर तू देव समान बन जाएगा, भारत के लिए तो विशेष रूप से तेरे भारत की कोमलता, स्नेहार्द्रता है। तुझ में भूतकाल की तीक्ष्णता

है, गम्भीर विचार करने की, ऊँची भावनाओं तक पहुँचने की बुद्धि है। वर्तमान उत्क्रान्ति के लिए आवश्यक दृढ़ता और सत्यता तूने पाई है। तूने ऐसी सच्ची कार्यदक्षता, अध्यवसाय, सर्जन शक्ति प्राप्त की है कि जिसके अभाव से ही भारत दरिद्र हो गया है। आधुनिक इतिहास की महामन्त्र रूपी स्वतन्त्रता तेरे में स्वभाव से ही विद्यमान है।'

'स्वामी जी ! बहुत हुआ। आपने तो प्रशंसा करके मुझे बिगाड़ दिया है।'

'नहीं, प्रशंसा करने का अर्थ उत्कृष्ट बनना सिखाना है ?'

'किन्तु मेरे दोषों को दूर करने का उपाय क्या है ?'

'मार्ग बताऊँ ? तेरे जैसे के लिए तो सरल है।'

'क्या ?'

'बिलकुल स्वाभाविक बात है। बस विवाह कर ले।'

'विवाह !' चौंककर सिद्धनाथ ने पूछा।

'हाँ ! तेरे में आर्द्रता है—शुष्कता नहीं आवेग है। दबाई हुई आर्द्रता ठीक नहीं।'

'कैसे ?'

'सब पूर्णता अकेले प्राप्त की जा सकती है परन्तु इस सम्बन्ध में नहीं। उत्क्रान्ति की पूर्णता के बिना सहानुभूति के नहीं मिल सकती और व्यक्तियों का सहजीवन इस उत्क्रान्ति का आधार है। ऋषिगण सभी विवाह करते थे, ढोंगी योगी स्त्री को घर से निकालकर अपनी अपूर्णता के द्वार को स्वयं खोल देते हैं।'

'आप जानते हैं कि यह विषय मुझे अधिक पसन्द नहीं है।'

'यह भ्रमणा है। उत्क्रान्ति से मनुष्य को आगे बढ़ाना है एक सिद्धनाथ का अनेक बनाना है।'

'तब जिससे कहिए विवाह कर लूँ।' कुछ चिढ़कर कटाक्षमय आवाज में सिद्धनाथ बोला।

'योग्य लड़की मिलने पर अवश्य बतलाऊँगा। सभी लड़कियाँ योग्य नहीं होतीं। उनमें कोमलता, निराधारता की कमी होती है। वह तेरी अपूर्णता पूर्ण करने योग्य नहीं हैं ; नहीं तो···'

'नहीं तो विवाह कर लेता ? स्वामी जी ! क्षमा कीजिए इस सम्बन्ध में मेरा विचार बिलकुल ही भिन्न है।'

'मुझे खबर है क्योंकि तू पूर्ण योगी नहीं है। अच्छा अब तेरे दूसरे दोष पर आता हूँ। दोनों दोष परस्पर सम्बन्धी हैं।'

'दूसरा कौन सा ?'

'तुझ में करुणा नहीं है। तू सरलता से शिक्षा पा गया, इससे दूसरे भाग्य-हीन व्यक्तियों की ओर दया से नहीं देखता बल्कि तू अपनी जाति को भिन्न

मान कर अधर्मियों के प्रति जैसी चाहिये वैसी समदृष्टि नहीं रख सकता।'

'स्वामी जी ! करुणा नहीं आती, लाने का सतत् प्रयत्न करता हूँ···'

'नहीं आती क्योंकि तेरी निर्धारित योजनायें अभी तक बिलकुल नष्ट नहीं हो पाई हैं। विश्व-नियम के प्रबल प्रवाह के सामने तू तुच्छ है, इसका ज्ञान अभी तुझे नहीं हुआ है। उस प्राबल्य में जितना तेरा बल मिल जाता है उतना ही तेरा बल है, बाकी सब निर्बलता है।'

'आपका मतलब यदि मेरे शत्रुओं से हो तो महाराज, उन्हें मैं कैसे क्षमा कर सकता हूँ ?'

'तू क्षमा करने वाला है कौन ? तू प्रतिशोध लेने जाएगा—कर्मफल का हेतु बनेगा—तो परिणाम में तू स्वयं ही दुःखी होगा। यदि तेरे शत्रुओं ने सचमुच अपराध किया होगा तो वह अवश्य उसका फल भोगेंगे। पाप और उसका फल भिन्न है ही नहीं। दोनों के बीच में समय चाहे कितना व्यतीत हो जाए फिर भी वे दोनों एक ही रहेंगे।

'कैसे ?'

'देखो सिद्धनाथ ! जिस मनुष्य ने गुणवन्ती को पीड़ित किया उसका शुष्क हृदय ही उसकी शिक्षा है। जिस दुःख से तेरा उत्कर्ष हुआ यही उसकी निकृष्टता है। तेरी प्रियतमा को दुःख देने वाला जीवित नरक में होगा; तूने उस के वियोग में निर्मलता प्राप्त कर मनुष्यत्व का सच्चा रहस्य सीखा। प्रतिशोध कहाँ रहा ? पाप-पुण्य का प्रतिशोध कभी बाकी रहता ही नहीं।'

सिद्धनाथ सूखी हँसी हँसा, स्वामीजी ! जो कुछ आपने कहा, मैंने सुन लिया किन्तु मन में उतरता नहीं। इसके विपरीत ऐसा प्रतीत होता है कि उन से प्रतिशोध लेना ही विश्व-नियम की आज्ञा और मेरे कर्तव्य का प्रथम चरण है। अपराधी को क्षमा करना, निरपराधी के दलन करने के समान है। इसी से आप से एक प्रार्थना है !'

'क्या ?' अनन्तानंद ने हँस कर पूछा।

'अमरानन्द अब क्रुद्ध हुए बिना नहीं रहेगा, बम्बई जा कर वह रघभाई से मिलेगा और दोनों मिलकर कोई तूफान खड़ा करेंगे। वहाँ जाने की मेरी इच्छा हो रही है। इसी बहाने अपनी प्रतिज्ञा भी पूर्ण कर आऊँगा।'

'सिद्धनाथ ! तू मूर्ख है। अच्छी बात है। बिना अनुभव के तू सीखेगा नहीं। जब अनुभव का स्वाद चखेगा तभी पता चलेगा कि तेरे अनुभव किए हुए विचार व्यर्थ हैं।'

'महाराज ! मैं भले ही निष्फल हो जाऊँ किंतु मन में संचित अन्तिम वासना पूरी कर अपनी पूर्णता का मार्ग सरल बना लूँगा।'

'ठीक ! किन्तु अमरानंद वहाँ तुझे पहचान लें तब ?'

'जी नहीं बम्बई में पैर रखते ही सिद्धनाथ साधु अंतर्ध्यान हो जाएगा और जगत फिर प्रकट हो जाएगा जिस से उससे कोई नहीं पहचान सकेगा।'

'अच्छी बात है, जा! परन्तु ध्यान रखना अमरानन्द एक कुशल और चालाक व्यक्ति है, मेरे पत्रों को सुरक्षित रखना भी सरल नहीं है। अनन्तानंद को अन्त में सिद्धनाथ के हठ पर आज्ञा देनी ही पड़ी।

'तब आज्ञा दीजिए परन्तु.....' जरा रुक कर सिद्धनाथ ने कहा।

'क्या? कुछ पूछना बाकी रह गया है क्या? पूछ ले!'

'क्षमा कीजिएगा?'

'क्षमा? सिद्धनाथ! केवल तेरे सिए सब छूट है।'

'महाराज! धृष्टता क्षमा कीजिएगा। आप मुझ से तो विवाह करने के लिए कह रहे हैं तब स्वयं अविवाहित ही क्यों रहे।

'मैं?' और ऐसा लगा मानो स्वामी के चेहरे का तेज बढ़ रहा हो, मेरे संयोग भिन्न थे। मैं बाल्यावस्था में ही संन्यासी हो गया था। मेरे योग्य सहचरी जीवन में मुझे मिली नहीं, साथ ही मेरी भावना भिन्न है। किसी समय नहीं—किसी देश या समाज के नहीं बल्कि सम्पूर्ण विशाल मनुष्यत्व के सब लक्षणों को अपना कर—अपने जीवन में से एक-एक स्वर निकाल कर 'निस्त्रगुण्य' बनने की बड़ी आशा रख कर बहुत कुछ मैं विजयी हुआ हूँ।

'तब क्यों एक देश के लिए इतना परेशान हो रहे हैं स्वयं आपने पूर्णता प्राप्त की फिर हमें क्यों अपने देश के लिए जीवन अर्पण कर देने की शिक्षा दे रहे हैं?'

'सृष्टि की अपनी प्रकृति में किसी देश का सन्देश विशेष उपयोगी हो जाता है इस समय वह भारत के मंत्र की बाट देख रहा है। नवीन संस्कृति उत्पन्न करने से पूर्व भारत की दीनता दूर होनी चाहिए। इसे दूर करना सच्चे मनुष्यत्व का प्रथम प्रयास होगा। इतना ज्ञान होने के लिए, वह प्रयास किस प्रकार सरल बने यह ढूँढ़ निकालने में मुझे कठिन परिश्रम करना पड़ा है अब मार्ग का ज्ञान हो गया है परन्तु उसके अनुसार चलना मेरे लिए दुस्तर है। मैं वृद्ध हो चला हूँ। दस हजार दृढ़ संकल्पवान वीर नर-नारियों को हम अपने मंत्र से जिस समय प्रेरित कर सकेंगे, उसी समय भारत-भूमि के उद्धार का प्रारम्भ हो जाएगा। मेरा कर्त्तव्य दीप-गृह प्रकाशित कर दिशा दिखाना था वह मैंने कर दिया। तुम्हारा कर्त्तव्य अब नौका चला कर समुद्र पार जाना है।' कह कर गुरु और शिष्य दोनों मठ में वापस आये।

सिद्धनाथ अपने कमरे में गया और रोशनी जला कर एक कोने में पड़ी हुई एक छोटी सी पेटी में से दृढ़तापूर्वक जलाए हुए कागज की राख, कुछ मुलायम काले बाल निकाल कर मेज पर उसने रखे। कुछ देर तक इन

वस्तुओं की तरफ गौर से देखता रहा, उसके दाँत पर दाँत बैठ गये। इन वस्तुओं को उठा कर उसने अपने वक्षःस्थल से लगा लिया; अपना सिर गौरव से ऊँचा किया। उसकी आँखें दो स्थिर तारों के समान चमक रही थीं। वह बड़बड़ाया, 'जगत बालक गया, किशोर प्रणयी भी जाता रहा, अभ्यासी शिष्य सिद्धनाथ बना। अब जगत विनाशक आयेगा। ओह, अभी कितने अवतार बाकी हैं ?'

दूसरे दिन रणुभा, चम्पा, दयानन्द और सिद्धनाथ अथवा जगत ही कहना उपयुक्त होगा, एकत्र हुए। चम्पा ने हिसाब का काम लिया, दयानन्द ने उत्तर विभाग में जाकर वहाँ के वातावरण पर देख-रेख रखने का भार लिया क्योंकि लक्ष्मणपुर में कुछ उपद्रव होने की आशंका थी। रणुभा अध्यक्ष रूप से रत्नगढ़ में ही रहे।

'किंतु सबसे कठिन काम सिद्धनाथ को लेना पड़ेगा।' दयानन्द ने कहा। निर्दोष रणुभा ने पूछा, 'क्या ?'

'क्या कल देखा नहीं ? अमरानन्द को अपना कट्टर दुश्मन समझ लो। यह अब रघुराई से मिलकर हमारे किए-धरे को धूल में मिलाने का प्रयत्न करेगा। यदि रघुभाई उसके साथ मिलकर सेक्रेटेरियट में प्रयत्न करेगा तो रत्नगढ़ हाथ से निकला हुआ ही समझो, उस समय हमारा सब परिश्रम निरर्थक हो जायेगा और हमें कहीं जाने के लिए स्थान भी नहीं रहेगा।' जगत ने समझाया।

'फिर वही बात ?' दयानन्द अपनी बात कहना चाहता था।

'जी हाँ आपको खबर नहीं है। बीच में रघुभाई ने अपना मंडल ब्रिटिश सत्ता द्वारा तुड़वाने का प्रयत्न किया था, ऐसा पता चला था। यह तो रेसीडेण्ट एवं पोलीटिकल सेक्रेटरी से मिलकर स्वामीजी ने शंका समाधान कर दी जिनमें अपने निर्दोष प्रयत्न नष्ट होने से बच गये।'

'तब तो यह बात भी ध्यान में रखने की है, इसलिए जैसा स्वामीजी कह रहे थे, यह काम सिद्धनाथ ही कर सकेंगे।' चम्पा बोली।

'अवश्य, किंतु सिद्धनाथ ! वे कागज आपके पास हैं ?' रणुभा ने पूछा।

'कौन से ?' दयानन्द ने पूछा।

'स्वामीजी के जन्माक्षर आदि सिद्धनाथ के पास हैं, जिन्हें प्राप्त करने के लिए रघुभाई प्रयत्न किया करता है। यदि वह उसे मिल जायँ तब तो सब कुछ चौपट ही हो जाय।'

'उन्हें तब जला क्यों नहीं डालते ?'

'जी नहीं, स्वामीजी की ऐसी आज्ञा है कि वीरसेन के बड़े होने पर उसे दे दिया जाय।'

'अच्छा ! तब सिद्धनाथ उन्हें अपने साथ ले जायगा ?'

'हाँ, यहाँ किसके पास रहेंगे ?'

'कब जायेंगे ?'

'कल, जितना जल्दी जाऊँ उतना अच्छा। अमरानन्द तो आज रात में जा रहे हैं।' सिद्धनाथ बोले।

'ठीक. ऐसा ही करो।' दयानन्द ने उठते हुए कहा। 'सिद्धनाथ ! तुम सन्यासी हो जाओ, अवश्य ही तुम स्वामीजी का नाम रखोगे।'

सिद्धनाथ का चेहरा अधिक गम्भीर बन गया। जरा तिरस्कारपूर्ण आवाज में उसने कहा—'बन तो जाऊँ ! किंतु होता कहाँ है ? अभी तो आपका पैर धोने जितना भी वैराग्य मेरे में नहीं आया है।'

'सिद्धनाथ ! हँसी की बात नहीं है परन्तु यदि हमारा मण्डल विजयी हुआ तब उसका समस्त श्रेय स्वामीजी को और तुम्हें होगा।'

सिद्धनाथ ने जरा फीकी हँसी से कहा—'अभिमानी को अधिक अहंभाव की शिक्षा क्यों दे रहे हैं ?'

५७

प्रातःकाल के रमणीय समय में एक बाला अथवा भारतीय गणना के अनुसार एक स्त्री—फूल चुन-चुन कर आँचल में रख रही थी। वाटिका छोटी किंतु हरी-भरी और सुन्दर थी। जगह-जगह पर छोटे-बड़े वृक्षों पर अगणित पुष्प, घटा रूपी नील आकाश में रंग-बिरंगे तारों के समान चमक रहे थे। समुद्र का शीतल मन्द पवन डालियों को हिला रहा था और बाला के आँचल को उड़ा रहा था।

उसका चेहरा मोहक दिखाई पड़ रहा था। रूप में कोई विचित्रता नहीं थी परन्तु बड़ी-बड़ी निर्दोष आँखें, तोते की ठोर के समान नाक और मानों आकांक्षा से खुले रह जाते हों ऐसे ओंठ, यह एक प्रकार का ऐसा भाव अंकित कर देते थे कि फिर से देखने की इच्छा होती थी। उसका शरीर लम्बा, कुछ पतला और सुगठित था। ऊँचे वृक्ष पर से पुष्प लेने के लिए जब उसके सुकोमल हाथ ऊपर उठते तब 'ललिता' शब्द का प्रयोग ऐसे ही बाला के सम्बन्ध में किया जा सकता है ; ऐसा विचार सहज देखने वाले के मन में आये बिना नहीं रह सकता उसका अंतर सुख से छलक रहा था। कालेज में आज छुट्टी थी जिससे पढ़ने की आवश्यकता नहीं थी। जाति में कन्याओं को बड़ी-बड़ी उम्र तक अविवाहित रखने का रिवाज था इसलिए उसे सास का भय अथवा पति की धमकी का भी

डर नहीं था। पिता को भी पुत्री की अधिक परवाह नहीं थी जिससे यह भी डर न था कि वह उसकी बाट जोहते हुए बैठे होंगे। उसके मत से सृष्टि सभी पुष्पपूर्ण वाटिका थी ; एक बड़ा अनन्त, रसमय काव्य।

उसका आँचल पुष्प से भर गया था उसने चलने का निश्चय किया। परन्तु एक ऊँच डाल पर के एक खिले हुए पुष्प पर उसकी दृष्टि पड़ी जिसे तोड़कर ही वापस लौटना उसने निश्चय किया। पैर के अंगूठे के बल खड़ी होकर फल तोड़ने के लिए उसने हाथ ऊँचा किया, पत्ती पकड़कर डाल नीची करके उसमें फूल तोड़ा। पकड़ी हुई डाल हाथ से छूटते ही कमान के समान ऊपर पहुँच गई। डाल के नुकीले काँटों में बाला की धोती का छोर फँस गया। एक हाथ में फूल वाले अंचश का दूसरा छोर था दूसरा हाथ काँटे वाली डाल तक पहुँचना असम्भव था। धोती का छोर काँटों में फँस जाने से उसके बालों की सुन्दरता एवं रमणीप उत्तर शरीर की अपूर्वता, घनघोर घटा के बिखर जाने पर कौमुदी जैसे चमक उठती है वैसे ही चमक उठी। रमणी संकोच और दुविधा में पड़ गई, फूल जाने दे कि धोती खींचकर उसे फट जाने दे अथवा किसी को बुलाकर धोती को काँटों में से छुड़वा ले ? उसकी कठिनाई वास्तव में संस्कृत कवियों की रसीली लेखनी को प्रेरणा देने वाली जैसी थी।

उसी समय किसी ने कम्पाउण्ड के दरवाजे में प्रवेश कर उसकी किंकर्तव्य-विमूढ़ता को और बढ़ा दिया। यदि कोई माली होता; या वृद्ध, कुरूप पुरुप होता तब कोई चिंता नहीं थी। बीस वर्ष की नवयुवती को जब दो दुविधाओं के कारण सिर और कन्धे पर बिना धोती के खड़ी रहना पड़े, और सामने से कोई स्वरूपवान, स्वच्छ वस्त्रों से सुसज्जित युवक आये उस समय उनके मन में कैसे भाव उत्पन्न होंगे, उसकी क्या स्थिति होगी यह लिखने की आवश्यकता नहीं है। बाला घबरा गई, एक अन्तिम प्रयत्न डाल पकड़ने के लिए किया परन्तु पैर फिसल गया और फिसलते ही पैर में एक काँटा चुभ गया। काँटा प्रणयी का पुराणकाल से सहायक रहा है किन्तु यह वास्तविक कांटा था और बाला प्रणयी भी नहीं थी ; इसी से वेदना से कराहते हुए उसने सिर झुका लिया।

आगन्तुक स्वस्थ, लम्बा और गठीले बदन का युवक था। वह ऐसे गौरव एवं आत्म निष्ठा से बंगले की ओर जा रहा था मानो सृष्टि का साम्राज्य खरीद कर जेब में रख लिया हो। चीख सुनते ही घूम कर उस ने बाला को देखा। बाला की लज्जा की सीमा न रही, उसके मुँह पर लाली दौड़ गई, वह नीचे से सिर उठा कर ऊपर तक नहीं देख सकी। आगन्तुक दो कदम में उस के पास पहुँच गया और तुरन्त डाल झुका कर उसने उसकी साड़ी को काँटों से छुड़ा दिया। बाला ने अँग्रेजी में कहा—'धन्यवाद !' आगन्तुक ने उत्तर दिया—'नहीं, इस में धन्यवाद कैसा !' उसकी आवाज सुन कर बाला

ने ऊपर देखा। आगन्तुक का स्वर भाव हीन, कठोर और शान्त था। कोई दूसरा व्यक्ति अपने नौकर से भी बात करते समय शायद उससे अधिक मीठे स्वर से बोलता होगा; उसके चेहरे पर, उस की आँखों में कपड़ा छुड़ाने के पश्चात् तनिक भी अन्तर नहीं आया था बाला ने सोचा कि इतनी निरपेक्षता और अरसिकता से तो शायद डाक्टर भी रोगी का निरीक्षण नहीं करता होगा।

रघुभाई यहीं रहते हैं ?' आगन्तुक ने पूछा। बाला ने अधिक बारीकी से देखा। नवागन्तुक तीस वर्ष का लगता था। उसके वस्त्र सादे किन्तु शानदार थे। उसकी मुखमुद्रा सदा आज्ञा देने के लिए ही गढ़ी गई हो ऐसी स्वस्थ तथा तेजस्वी थी। उसके मुख पर की कठोरता से बाला को दुःख हुआ। संसार की अनाकर्षक वस्तुएँ यौवन में अच्छी लगती नहीं थीं।

'जी हाँ, भीतर हैं चलिये। बाला का कंठ-स्वर मीठा और धीमा था। 'आप कौन हैं ? क्या पहली बार आये हैं ?'

आगन्तुक ने बाला की ओर देखा, दृष्टि में तिरस्कार और कर्कशता थी, 'हां !' उत्तर में केवल इतना कहा।

इस व्यवहार से बाला को अपना अपमान-सा लगा। उसकी धारणा थी कि शिक्षित पुरुषों में स्त्रियों के सम्मान का ज्ञान अधिक होता है, परन्तु आज यह बात असत्य प्रतीत हुई।

आगन्तुक ने पूछा—'आप तो रघुभाई की पुत्री हैं न ?'

'जी हाँ !'

'आपका नाम रमा है, क्यों ठीक है न ;'

'जी हाँ, परन्तु आपको कैसे मालूम हुआ ?'

'जिस समय आपका नाम रमा रखा गया उस समय मैं उपस्थित था।' जरा हँसते हुए आगन्तुक ने कहा। हास्य सूखा 'हं.....हं' से अधिक सरस नहीं था।

'ऐसा ? तब भी मैं आपको क्यों नहीं पहचान सकी ? आपका नाम ?'

'जगत।'

'कौन ? गुणवन्ती चाची के जगतकिशोर ? ओहो, माँ बराबर बात किया करती थीं परन्तु आपको तो मैंने बहुत दिनों बाद देखा।' रमा का हृदय भर आया। उसके कोमल हृदय को रिझाने के लिए माँ या कोई भाई-बहन नहीं था और पिता था रसहीन। बाल्यावस्था में कमला की वार्ता द्वारा सृजन किये हुए उसके मनोराज्य में जगत का स्थान बहुत बड़ा था। आज उसे देखकर रमा का अन्तःकरण हर्षित हुआ, भ्राता-विहीन बहन को भाई मिलने के समान ही उसे आनन्द हुआ।

पर जगत का उत्तर ठंडा—बरफ जैसा ठंडा करने वाला—शान्त कुछ कटाक्षमय था—'कमला चाची को मरे हुए तो बहुत दिन हो गये ?'

रमा को पुनः दुःख हुआ, उसकी स्नेहार्द्रता को गहरा धक्का लगा। इतनी निष्ठुरता !

'ठहरिये, पिताजी को सूचना दे दूं।' कहकर रमा भीतर चली गई।

जगत जिस उदासीनता से रमा को देख रहा था, उसी भाँति वह वृक्ष को देखने लगा।

५८

रघुभाई चालीस वर्ष राजनीतिज्ञ रहे, इस समय साठ वर्ष की वय में वृद्ध गौरव की मूर्ति लगते थे। वृद्धावस्था ने बाल सफेद कर दिये थे और चेहरे पर विचार की रेखाएँ डाल दी थीं। यदि किसी ने उसकी आँख में चमकने वाली शठता और अधरों पर कभी-कभी दिखाई दे जाने वाली नीचता ध्यानपूर्वक न देखी हो तो भले ही उसे सज्जन एवं परोपकारी समझ ले। उसका चेहरा प्रेक्षक के मन में मान तथा विश्वास का अंकुर उत्पन्न करने वाला था। साधारण बाहरी आने-जाने वालों को वह अनुकम्पा का अवतार और रत्नगढ़ के स्वर्गीय राजा का प्रतिष्ठित दीवान-सा लगता था। रमा की स्वतन्त्रता के पक्षपाती तथा अधिक वय तक उसे कुँवारी रखने से सन्तुष्ट भी थे। पुराने विचार वाले सदैव प्रातःकाल उसे पूजा कर बैठकर बात करते हुए और हाथ गौमुखी में देख कर उसे पूज्य मानते, सरकारी नौकरी वाले मध्यम श्रेणी के कार्यकर्ता उसका आदर करते, क्योंकि सभी साहबों का उसके साथ घनिष्ट व्यवहार था। काँग्रेस के नेता उससे पूछ कर काम करते क्योंकि प्रायः संस्था को वह अच्छी रकम देता और कभी-कभी प्रेसीडेंसी एसोसियेशन को पार्टी दे कर उसमें भी उसने अपना स्थान बना लिया था। बम्बई में वह प्रतिष्ठा का अवतार था, उसके नाम से प्रतिष्ठा का आवरण अच्छे-अच्छे लोगों पर चढ़ जाता। वास्तविकता की अपेक्षा टिप-टाप में ही उसकी महत्ता थी। उसका जीवन बाहरी आडम्बर से परिपूर्ण था।

इस समय वह रुहहले तार से बने हुए छोटे गद्दीदार झूले पर बैठा था। पास ही में पान का डिब्बा रखा था। कमरे में जसुभा का एक बड़ा तैलचित्र टँगा हुआ था जिससे लोग समझें कि अवश्य ही रघुभाई ने नमकहलाली की होगी। दूसरा चित्र स्वर्गीय रानाडे का था। इसका उपयोग किसी नीतिमान अभ्यागत के मन पर उचित प्रभाव डालने के लिए होता था। सुन्दर किन्तु

सादे फर्नीचर यथा स्थान ठीक से सजा कर रखे हुए थे जिन पर उसके घर की 'प्रतिष्ठा' स्पष्टाक्षर में लिखी हुई दिखाई पड़ रही थी।

'पिताजी ! बाहर जगतकिशोर आये हैं।'

'कौन ?' रघुभाई की विचार माला टूट गई। रमा समझ नहीं सकी कि उसका बुद्धिमान पिता इतना घबरा क्यों उठा ?

'गुणवन्ती चाची के जगतकिशोर बाहर खड़े हैं।'

'कहाँ से आया है ? क्या काम है ?'

'पता नहीं।' रमा को और भी अधिक विस्मय हुआ। स्वभावानुसार उसके मस्तक पर बल पड़ गया। 'बुलाऊँ ?'

'हां।'

रघुभाई गरीब सम्बन्धियों से परेशान था। किसी एक की सिफारिश, तो दूसरे की नौकरी के लिए पत्र लिखते-लिखते वह थक गया था। इधर-उधर मारा-मारा फिरने वाला गुणवन्ती का यह लड़का कुछ माँगने के लिए ही आया होगा ? दुनिया कैसी स्वार्थी है ? अपने में कुछ पानी नहीं और दूसरे के बल कूदने का प्रयत्न करती है। सिफारिश करने वाला बेचारा क्या करे ? इस प्रकार विचार करते हुए उसकी कल्पनाशक्ति ने जगत को एक छोटे से गरीब लड़के के रूप में चित्रित कर डाला।

रघुभाई आँखें फाड़-फाड़कर देख रहा था, द्वार में जहाँगीर के सदृश शाही दृढ़ता से कदम रखते हुए, भव्यता से देदीप्यमान पुरुष को उसने देखा। स्वस्थता से वह आया, शान्तिपूर्वक आस-पास उसने देखा, और लापरवाही से प्रणाम कर तिरस्कारपूर्ण आवाज में रघुभाई का हाल-चाल पूछा। यह तो सचमुच गुणवन्ती का जगत है सोचकर रघुभाई जरा शरमिन्दा पड़ गया।

'आओ, बेटा ! आओ, बहुत दिनों बाद दिखाई पड़े ?' कपटता से हँसते हुए रघुभाई ने कहा—'कहाँ थे इतने दिनों से ? बच्चू से मैं बराबर पूछता था। तुम अब क्या करते हो ?' रघुभाई ने ऐसा प्रकट किया मानो उसे छोड़ दूसरा आत्मीय शेष संसार में न हो।

रघुभाई को मानो देखता ही न हो इस प्रकार जगत ने कहा—'सचमुच मैं तो बंगाल गया था, इस समय तो यहीं हूँ। मैंने सुना कि आप यहीं हैं, मेरे पुराने स्नेही हैं, इससे मिलने के लिए चला आया। आप यहाँ 'रिटायर्ड' जीवन व्यतीत कर रहे हैं, क्यों ?'

रघुभाई ने सिर उठा कर देखा कि कहीं इस लड़के की आवाज में कटूक्ति तो नहीं हैं ? किन्तु कुछ समझ नहीं पड़ा; जगत उसकी ओर गम्भीरता से कुछ अदृष्ट तिरस्कार से देख रहा था।

'हाँ बेटा ! स्नेही क्यों नहीं हूँ ?' नीलकंठराय के मारे-मारे फिरने वाले पूर्व

के जगत के सम्बन्ध में आये हुए विचारों को भुलाकर वर्तमान जगत के बहु-मूल्य वस्त्र एवं सोने की चेन का अन्दाजा लगाता हुआ रघुभाई बोला—'आज जो कुछ मैं हूँ उसका श्रेय तुम्हारे ही पिता को तो है।

'जी हाँ और मैं भी जो कुछ आज हूँ उसका श्रेय भी आप को ही है। पिताजी की मृत्यु के पश्चात् मेरी एवं माँ की रक्षा का भार आपने ही तो लिया था।' कण्ठ-स्वर शान्त, कठोर, गम्भीर था। रघुभाई को सब प्रसंग याद आ गया, मन में काँप उठा, पर बाहर से शांत रहा। जगत की तीक्ष्ण आँखें उसे स्थिरता से देख रही थीं।

'इससे क्या होता है ? रमा ! तू पहचानती है ? जगत ने तुझे बहुत खिलाया है।'

वाटिका में घटी हुई घटना को याद कर रमा नीचे देखती हुई बोली—'मुझे याद नहीं है।' रमा की ओर शान्ति से देखते हुए जगत ने पूछा—'अपनी पुत्री का विवाह कहाँ किया है ?' रमा ने ऊपर देखा कि जगत अपमान तो नहीं कर रहा है ? उसकी आवाज से कुछ ऐसा ही बोध हो रहा था। रघुभाई ने हँस कर कहा—'नहीं जी, अभी तो पढ़ती है। दो-एक जगह विवाह की बात चल रही है परन्तु वर अच्छा नहीं है। होगा, अभी कौन बहुत बड़ी हो गई है ? बेटा ! अब यहाँ क्या करने का विचार है ? हम बूढ़ों के लिए तो यह बात सर्व प्रथम है। कुछ काम या नौकरी ?'

'काम करने की मुझे आवश्यकता ही क्या ? मुझे तो अपना हिसाब करना है बस।'

'हूँ, कर्ज लेकर बंगाल गये होगे ?'

'जी नहीं, मुझे देना नहीं है। अपने सम्बन्धियों से मुझे बहुत कुछ लेना है; वही वसूल करने के लिए आया हूँ।'

रघुभाई को इस आवाज में कुछ अनोखी भनक लगी, उसका अन्तःकरण चोर था जिससे वह कुछ चिन्ताकुल हो उठा।

'अच्छा तब आज्ञा दीजिये।' कहते हुए जगत उठ खड़ा हुआ।

'कहाँ रहते हो ?

'चौपाटी पर ...बिल्डिंग में।'

'फिर आना, यह घर तुम्हारा ही है।'

'जी हाँ, पहले से ही इस घर पर मेरा अधिकार है।' जगत ने रघुभाई से हाथ मिलाया।

'रमा ! जा, जगत भाई को पहुँचा आ।' कहकर रघुभाई फिर झूले पर बैठ गया। रमा के सुन्दर ललाट पर सिकुड़न पड़ गई। उसका पिता घबराया हुआ क्यों था ? इस नवागन्तुक में इतनी कठोरता तथा भावहीन शान्ति क्यों है ?

वह बाहर आई। 'आप ग्रैजुएट हैं ?' जरा डरते हुए रमा ने पूछा।

जगत की कठोर आँखें उसकी ओर घूमीं—'मैं ? नहीं। मैं तो बीच में ही अटका हुआ हूँ। अच्छा चलता हूँ।'

रमा ने हाथ उठाया, जगत उसके अभिवादन को स्वीकार करके आगे बढ़ा।

उसके अभिवादन में जरा भी स्नेह का भाव नहीं था, ऐसा लगा मानो उसका हृदय लोहखण्ड का बना हुआ हो।

जगत चला गया। रमा उसके सुदृढ़, सुगठित शरीर की आकृति देखती रह गई। उसमें कोई अद्भुत आकर्षण था! बंगले में लौटने पर उसे कुछ विचित्रता का अनुभव हुआ।

उत्तर में रघुभाई अपने आप से बोल उठा—'इस लड़के को अपना बनाना चाहिए। वह टेलीफोन पर गया और किसी से उसने कहा कि हिम्मतलाल के साथ विवाह की बातचीत अभी बन्द रखना, अभी कोई विशेष जल्दी नहीं है।'

५६

जगत कमरे में बैठा था। उसके बलिष्ठ सुगठित शरीर के अपूर्व गठन की प्रशंसा की जाय अथवा चेहरे पर और आंखों में सुशोभित बुद्धि की प्रशंसा की जाय यह बात समझ में नहीं आती। उसके सोने का कमरा छोटा था वहाँ सोने के लिए एक बड़ी मोटी दरी और बैठने के लिए दो-तीन साधारण कुर्सियाँ मात्र थीं। उसका जीवन एक अनन्त कार्य-चक्र था। जो इच्छायें, जो विचार और जो-जो प्रसंग संसार के अन्य मनुष्यों को आकृष्ट करते हैं उनके लिए जगत के जीवन में कोई स्थान नहीं था। अपनी बुद्धि द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर वह निर्विघ्न चलता चला जा रहा था।

उसके सामने कई पत्र पड़े हुए थे। उसमें से एक उसने खोला यह अनन्तानन्द का था। उसमें बहुत-सी बातें लिखी थीं, कुछ दिन पूर्व उनके कागजों का बक्स किसी ने तोड़ डाला था, इसलिए स्वामी जी ने जगत को सावधान रहने के लिए सूचित किया था। जगत ने सोचा कि रघुभाई के अतिरिक्त इन कागजों के सम्बन्ध में कोई जानता नहीं जिसके प्राप्त करने के लिए यह उसका तीसरा या चौथा प्रयत्न था। जब तक रघुभाई को पता नहीं चलता कि मैं अनंतानंद का शिष्य हूँ तब तक मैं निश्चय ही बिलकुल सुरक्षित हूँ।

दूसरा समाचार गंभीर था। स्वामीजी पत्र दूसरे पते से लिखते थे जहाँ से वह जगत के पास आया करता था। यह पता एक संन्यासी को मालूम हो गया

था और स्वामी जी ने जगत को अमरानन्द की खोज में रहने के लिए लिखा था। जगत ने उसका पता तो लगा लिया था कि लक्ष्मणपुर स्टेट के ऐजेण्ट के यहाँ वह गुप्त वेश में रहता है परन्तु वह अभी तक कुछ कर नहीं सका था।

जगत ने दूसरा पत्र खोला। यह रघुभाई का भोजन के लिए निमन्त्रण था। जगत मुस्कराया। रघुभाई उसके हाथ में फँसता जा रहा था, फिर विचार आया, दस वर्ष अनन्तानन्द के पास रहकर शिक्षा ग्रहण की, काम क्रोध सब का नाश किया, बुद्धि को विश्व-नियम में लय कर दिया, उनकी दिखाई हुई दिशा में ही कर्तव्य करते हुए बढ़ने का स्वभाव पड़ गया ; अब प्रतिशोध लेना क्या सचमुच अधःपतन नहीं है ? स्वामी जी के शब्द याद आ गये, तुरन्त गुणवन्ती भी स्मरण आई, रघुभाई की करनी याद आई। नहीं नहीं यह भी विश्व-नियम ही है। ऐसे मनुष्य-पिशाचों का संहार करने में ही बुद्धि की सार्थकता है, उसने मन को समझाया।

संध्या के छः बजे वह रघुभाई के यहाँ गया। रघुभाई ने स्नेहपूर्वक उसका स्वागत किया। उसके सत्कार में—रघुभाई के प्रत्येक शब्द में—रमा के प्रति उसका प्रेम छलछला रहा था। ऐसे पिता को इतना प्रेम का अनुभव करते हुए देखकर उसे आश्चर्य हुआ। परन्तु उसे कहाँ पता था कि उसकी उपस्थिति में ही रघुभाई ऐसा भाव प्रदर्शित करता था कि मानो उसकी श्वाँस एवं प्राण हो। रमा को बैठाकर वह पूजा करने के लिए चला गया।

इधर-उधर की बातें करके रमा उसका सत्कार करने लगी, इस समय उस के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। अतिथि जो ग्रेजुएट भी नहीं था, प्रत्येक विषय का अभ्यासी निकला। उसके विचार विशाल और आधुनिक थे; जिन्हें वह आकर्षक भाषा में प्रदर्शित करता था। रमा अच्छी पढ़ी-लिखी थी जिससे 'प्लुटार्क' के समान जगत—यद्यपि उसकी कठोरता निन्द्य थी तो भी—उसे मोहक लगा और ध्यान देकर वह उसका कथन सुनने लगी। थोड़ी देर बाद दूसरे अतिथि आये प्रोफेसर गाँधी। मोटा चश्मा, हाथी के समान चौड़ा ललाट और नाटा शरीर वाला, 'लॉजिक ऐवं मॉरल फिलासफी' की प्रत्यक्ष मूर्ति के समान आ पहुँचे। उसने छाता रखकर, हाथ मानो गन्दा हो गया हो इस तरह रुमाल से उसे पोंछा और रमा से शेक-हैण्ड किया ; जगत से परिचय हुआ। जगत ने उसकी ख्याति सुनी थी जिससे वह उससे तत्वज्ञान की बातें करने लगा। बेचारा किताबी कीड़ा, प्रोफेसर, जीवित तत्वज्ञान की मूर्ति के समान अनन्तानन्द के शिष्य की बातें सुनकर स्तब्ध रह गया।

'आप तो 'फिलाफर' हैं। दुःख है कि आप बी० ए० नहीं हैं, नहीं तो प्रोफेसर होने के लिए बिलकुल योग्य हैं। आइये और हमारे कालेज की फिलोसाफिकल सोसायटी में आकर लेक्चर दीजिये। हाँ अवश्य·····'

'अभी मेरे लिए भाषण का समय नहीं आया है, आपसे मेरी भला कहाँ बराबरी हो सकती है ? आप तो शब्दों के राजा हैं—वाचाल, दुर्बोध, संभ्रम-पद, भयंकर शब्दों में संतुष्टि प्राप्त करते हैं उसी में आपकी 'फिलासफी' समाप्त हो जाती है। आपके 'कैंट' एवं 'स्पेयर' महान् तत्ववेत्ता अवश्य थे परन्तु उनके अभ्यासियों से कहिये कि पहले जिन नियमों का पालन करना आवश्यक है उनका पालन करें, अपना आचरण ज्ञानमय बनायें। तदुपरान्त पवित्र महात्माओं के वचनामृत को मूँह से निकालने का साहस करें। आज दो हजार वर्षों का आपके यूरोप और एशिया का तत्वज्ञान क्या है ? केवल खोखले और व्यर्थ के शब्दों का जाल ! अनेकानेक संसार की भलाई की चिन्ता में स्वार्थी जीवन व्यतीत कर रहे हैं। आपके वेदान्ती 'ब्रह्मास्मि' का झूठा, गम्भीर निर्दोष कर पल मात्र के लिए भी ब्रह्म आचरण पालन करने का प्रयत्न नहीं करते। केवल श्रवणेन्द्रिय द्वारा सबके मन का रञ्जन करते हैं, स्वयं ठगे जाते हैं और दुनियाँ को ठगते हैं, आपके यह तत्वज्ञानी या तो मूर्ख होते हैं या पाखण्डी।'

यह शब्द सुनकर प्रोफेसर दिम्मूढ़ हो गया, रमा आँखें फाड़क देखती रही। जगत के बोलने की छटा अनोखी थी, उसका चेहरा, उसकी आँखें चमक उठतीं और श्रोता स्तब्ध हो जाते।

इतने में कुछ और अतिथि भी आ गये। आठ-दस व्यक्ति हुए, लोग टोलियों में विभक्त होकर आपस में बातें करने लगे। दीपक जल गया और रमा तैयारी करने के लिए चली गई। जगत एक वकील के साथ बात कर रहा था ; पास ही एक मण्डल में परिहास चल रहा था। एक शब्द की भनक जगत के कान में पड़ी ; एकाएक उसका शरीर काँप उठा और वह मण्डल के समीप जाकर खड़ा हो गया।

एक गृहस्थ को लोग चिढ़ा रहे थे। उनका शरीर सूखा हुआ, विदुषी आनंद भोग से काला, बदसूरत दिखाई पड़ रहा था। उसके नेत्र पीले, होंठ बराबर सिगरेट पीने से काजल के समान काले पड़ गये थे। सिर पर थोड़े बहुत सफेद बाल बच रहे थे। उससे सीधे खड़े भी नहीं रहा जाता था ; जब वह बोलता था तब चारों ओर सड़े हुए महुए की दुर्गन्ध सी फैल जाती। उसके कपड़े मालूम होते थे कि दो वर्ष से उसके शरीर से अलग नहीं हुए। अपनी बहादुरी पर हँसता हो ऐसा क्षुद्र, अमानुषी हास्य उसके चेहरे से प्रकट हो रहा था। पहले यह एक धनी सेठ था और रघुभाई का मित्र था। संसार में भिखारी हो गये मित्र को भी रघुभाई याद करते हैं, यह उदाहरण दिखाने के लिए ऐसे ही अवसरों पर वह उसे बुलाते थे। लोगों को अरुचिकर लगता फिर भी रघुभाई की भलमनसाहत के सम्बन्ध में लोगों में उच्च भाव उत्पन्न होता।

'मेरी तनमन की बात !' लचक के साथ वह आदमी बोला।

इन्हीं शब्दों ने जगत का ध्यान खींचा था।

'हाँ ! हाँ ! करमदास सेठ ! वह किस्सा जरा बताओ तो सही !'

'अरे वह बात तो अब बहुत पुरानी हो गई।' करमदास सेठ ने उत्तर दिया।

'नहीं जी सेठ ! यह क्या कर रहे हो ?' वकील बोले। 'मैंने नहीं सुना है, बताओ तो बात क्या है ? वह थी कौन ?'

सेठ ने विषयांन्धता और निर्धनता में स्वमान, गौरव, गृहस्थपन सब कुछ खो दिया था, 'अरे वह तो मेरी घरवाली थी !'

इस वाक्य पर सब हँस पड़े। सब के लिए सेठ एक खिलौना था। दूसरों की नुक्ता-चीनी कर अपना समय व्यतीत करना, इसी को शहर के अच्छे से अच्छे व्यक्ति अपनी योग्यता का चिह्न समझते हैं। बात जितनी निर्लज्ज और वीभत्स होती उतना ही उन्हें उसमें रस आता है। इसे देखते हुए कौन कह सकता है कि हम भारत के प्रथमतम शहर के निवासी होने योग्य हैं ?

'नहीं, ऐसा नहीं, क-ख-ग से शुरू करो।' प्रोफेसर गांधी ने फिलासफी भूल कर कहा।

'मेरी एक स्त्री थी !' जरा हँसकर करमदास बोला।

'हाँ, फिर ?'

'तुम्हारा सुधरी हुई, पढ़ी-लिखी, कटी-छंटी, चुनी चुनाई स्त्री थी, तब···'

करमदास ने चारों ओर देखा, रमा कहीं दिखाई नहीं पड़ी जिससे धीरे से कहने का साहस किया—'हमारे श्याम भाई है न; उसी ने ब्याह कराया था। हमें तो बस उसके बाप के पैसे की आवश्यकता थी सो मिल गया।'

'मिस 'मेरी' के लिए क्यों ?' एक ने कहा। सेठ सब से अपनी चर्चा करता फिरता था इससे उसका इतिहास सभी जानते थे।

'ऐइ यू ! सब बताये देते हो ?' सेठ ने हास्यजनक रोष से उत्तर दिया।

सब फिर हँस पड़े।

'मैं कह रहा था ? ऐ—हाँ—हम सब पैसा हजम कर गए, पर स्त्री साली भ्रष्टा निकली। उसका मिजाज देखो तो तीसमार खाँ जैसा था; न तो बोलती थी और न चालती। हमने उसे छोड़ दिया।'

'पर बात क्या थी यह तो बताओ !'

'अरे किसी से साँठ-गाँठ थी और क्या ? आजकल की शिक्षा का फल यही तो है।' सेठ ने फिर इधर-उधर देखा और रमा तथा रघुभाई को अनुपस्थित देख आगे बढ़ा।

'सेठ परन्तु वह तुम से क्यों नहीं फँसी ?' वकील ने पूछा।

'ऐसा भाग्य भला कहाँ से लाऊँ ?'

'बिलकुल ठीक है !' फिर सबने ठहाका लगाया

'फिर क्या हुआ ?'

'बस मीराबाई हो गई। बराबर रोया करती थी और आखिर रोते-रोते मर गई।'

'चलो जी तुम्हारी जान से पाप टला।' वकील ने कहा।

'आजकल की हवा ही खराब है। वह लड़की ऐसे ही कुल्टा···' प्रोफेसर ने कहा।

'बिलकुल ठीक ?' एक गम्भीर, दृढ़ और काँपती हुई किन्तु शान्त आवाज गर्जना कर उठी। सब घूम पड़े जगत लम्बा था ही इस समय वह और भी लम्बा दीख रहा था। उसकी आँखों में अवर्चनीय तिरस्कार झलक रहा था। उसकी भँवों पर रुद्र का भयंकर भ्रूभंग विराज रहा था। 'सेठ के कथनानुसार वह स्त्री कैसी निर्लज्ज रही होगी। उसे प्रेम करने का हक ही क्या था ? प्रेम और हिन्दू से सम्बन्ध ? हम तो निष्प्रेम, रूढ़ि से चले आये विवाह के पक्षपाती हैं ? और प्रेम किया भी तो उस से लिपटी क्यों रही ? उसे सब भूल जाना चाहिए था ; करमदास को स्वीकार करके खा-पीकर मौज करनी थी। यदि ऐसा नहीं कर सकती थी तो करमदास की स्त्री के रूप में संसार में प्रतिष्ठा प्राप्त करनी चाहिए थी। जिससे नाजायज संबंध होता उससे यदा-कदा, मन्दिर में दर्शन करने जाने के बहाने से, बुलाना था और भक्त बनकर फिरना था। कोई मना करता ? इसके विपरीत उसे लोग पवित्र, सती-साध्वी समझते और करमदास भी प्रसन्न रहते। वह स्वयं मरने के बदले इस समय आनन्द-भोग करती हुई लोगों में प्रतिष्ठा करती। आजकल के लोगों को यह सच्ची रीति आती नहीं, इसी से तो हम जैसों को इस समय ऐसी बातें करनी पड़ती है।'

शब्द कठोर थे, उनका उच्चारण भयंकर था। सब चुपचाप, लज्जित होकर इस भव्य महातेजस्वी व्यक्ति को एकटक देख रहे थे। बहुत देर तक कोई कुछ नहीं बोला। सब पर धिक्कार की एक दृष्टि डालकर जगत वहाँ से चला गया। भाग्यवश रघुभाई तुरन्त आकर सबको भोजन के लिए लिवा ले गए।

६०

अतिथिगण इस प्रकार मूकवत् भोजन पर बैठे मानो सब पर डाँट पड़ी हो। केवल रघुभाई और जगत बातचीत कर रहे थे। जगत के कथन में भाव अथवा आडम्बर नहीं था, फिर भी श्रोता को उसकी बातचीत अच्छी लगती थी। रघुभाई ने उसे प्रसन्न करने के लिए ही यह भोज दिया था फिर उसकी

मिठास का तो पूछना ही क्या था।

भोजनोपरांत सभी अतिथिगण धीरे-धीरे चले गये। जगत को रघुभाई ने बातों में लगा लिया। सब के जाने के पश्चात् कोई बहाना निकाल कर रघुभाई ने रमा को भी वहाँ से हटा दिया।

'जगत भाई! अब तुम्हें बंगाल तो नहीं जाना है न?' रघुभाई ने पान चबाते हुये पूछा।

'जी नहीं, अभी तो यहीं रहूँगा।'

'तक क्या विचार किया?'

'किस बात का?'

'क्यों, इस प्रकार कब तक रहोगे? तुम तो मेरे घर के हो इससे चिन्ता होती है। कुछ विवाह आदि करोगे कि नहीं?'

जगत के मन में, शरीर में तिरस्कार का कम्पन-सा हो गया। इसी के लिए इतनी खुशामद हो रही थी! उसकी आँखें कुछ अधिक कठोर हो गईं। कर्कश स्वर में उसने उत्तर दिया—मैं! विवाह में तो मुझे श्रद्धा नहीं है।' यह वाक्य उसने ऐसी अस्पृहा के साथ कहा मानो वह बहुत साधारण-सी बात हो।

'श्रद्धा! रघुभाई ने संभ्रम से कहा, 'इसमें श्रद्धा कैसी? विवाह बिना कहीं चलता है? हमारे रायजी का नाम कौन रखेगा?'

'यह मेरी समझ में नहीं आता कि नाम रखने में कौन सी खूबी है। यदि इस प्रकार मुझ से रायजी का नाम नहीं रखा जायेगा तो क्या किसी काने गंजे की जैसी-तैसी लड़की, उसके माँ-बाप की दलाली से प्राप्त कर, जिस प्रकार दो जानवर रहते हैं उसी प्रकार रहते हुए अशिक्षित; बुद्धिहीन लड़कों के झुण्ड से अवनि का भार बढ़ाने से रहेगा? यह सब सुख एवं आनन्द दूसरे युवकों के लिए रहने दूँगा, मैं इस योग्य नहीं हूँ।

रघुभाई के मुँह पर तो जैसे ताला ही लग गया। इस लड़के के बोलने का ढंग तो विचित्र था। जगत शान्त बैठा था, दस वर्ष के अभ्यास से उसने बहुत कुछ स्वस्थता प्राप्त कर ली थी।

'परन्तु अपनी जाति में अच्छी कन्याओं की कमी तो है नहीं? मेरी रमा को ही ले लो। अच्छी से अच्छी शिक्षा मैंने उसे दी है। तुम्हारी इच्छा हो तो मैं तैयार हूँ। देखो हम दोनों कुटुम्बों का सम्बन्ध और भी प्रगाढ़ हो जायेगा।'

'अभी जो कुछ है उससे अधिक और क्या होता है?' जरा तिरस्कार और शान्ति से जगत बोला, 'जाति में वर का भी टोटा नहीं हैं?'

'परन्तु तुम्हें आपत्ति क्या है?'

'मुझे? आपत्ति?' जगत सूखी कठोर हँसी हँसा, मेरे जीवन में स्त्री के लिए स्थान ही नहीं है।'

'यह भी कहीं सम्भव है ? स्त्री के बिना किसी का काम चला है कि तुम्हारा ही चलेगा ?'

'यों नहीं ? जब आवश्यकता होगी तब देख लूंगा। अभी तो सब स्त्रियों के विषय में मेरी धारणा कुछ दूसरी ही है।'

'यदि धारणा बदल जाय तब ?'

'तब देखा जायगा, अच्छा अब रात्रि अधिक हुई, आज्ञा दीजिये।'

रघुभाई ने समझ लिया कि यह व्यक्ति गुरुघंटाल है। फिर भी बड़बड़ाया, 'ठीक है अभी तो सोचने को बहुत समय है।'

जगत को तो रघुभाई को नाराज किये बिना बात टालनी थी। रमा आई और जगत वहाँ से चल पड़ा।

जगत के जाते ही रघुभाई ने रमा को बुलाया।

'रमा ! तेरा विवाह इसके साथ कर दूँ ?'

रमा लजाकर नीचे देखने लगी। उसका हृदय उछल पड़ा—'यह आप जानें, मुझसे क्या पूछते हैं ?'

'तु अब बड़ी हो गई है। इसलिए, जगत से 'हाँ' कहलवाना तेरा काम है।'

'मेरा ?' वह बेचारी तो घबरा उठी, 'पिता जी ! यह आप कह क्या रहे हैं ?'

'हाँ, आजकल के लड़के इसी से प्रसन्न होते हैं।'

रमा लजा गई, नीचे देखती हुई चली गई; मन में कुछ गुदगुदी-सी हो रही थी। जगत का बलिष्ठ, सुन्दर शरीर उसकी आँखों के सामने नाच रहा था।

६१

जगत स्वस्थतापूर्वक बाहर निकला। आज बहुत वर्षों के बाद स्वर्गस्थ प्रियतमा के सम्बन्धी से उसकी भेंट हुई ; उसके जीवन की दुःखप्रद स्मृति को धूल में मिलती हुई उसने देखा। रघुभाई की वार्ता ने भी वैर को फिर हरा कर दिया।

उसके हृदय में अधिक अशान्ति नहीं थी। स्वामी अनन्तानन्द से उसने सीखा था कि मनुष्य के दुःख, अपूर्णता और अशान्ति से उत्पन्न होते हैं; और अशान्ति को विनष्ट करने के लिए अन्य बातों की ओर ध्यान देकर, 'आत्मन्येव आत्मना तिष्ठ' रहना; यह अत्यधिक आवश्यक है। अनंतानंद जन्म से ही संस्कारी थे और इस स्वाश्रयी चारित्र्य का उन्होंने स्वयं अपने जीवन में बड़ी सरलता से समावेश किया था। जगत के वासनापूर्ण, प्रेम से पीड़ित, अभिमानी

स्वाभाव को यह स्वस्थता प्राप्त करने में बड़ा परिश्रम करना पड़ता था परिश्रम करके वह विजयी हुआ था। किन्तु इस घोर विग्रह की निशानी अभी भी उसमें वर्तमान थी। उसका स्वभाव कठोर हो गया था जब कि स्वामीजी का कोमल था उस पर जीवन में विजयी के सत्ता की स्पष्ट छाप पड़ी थी, स्वामी में तो शान्ति ही विराजती थी।

अनन्तानन्द के शिक्षण के दूसरे लक्षण भी जगत में कुछ परिवर्त्तनों के साथ आ गये थे। बुद्धि और हृदय को शांत रख, अचल रीति से विश्व नियम के अनुसार चलकर, जिस प्रसंग में जैसे चारित्र्य-भाव की आवश्यकता पड़े, वैसा प्रकट करने में ही अनन्तानन्द के चारित्र्य-भावना की विशेषता थी। निर्धन के प्रति ईसामसीह की आर्द्रता, अभिमानी एवं अत्याचारी के प्रति कोरियोलेमस का प्रभावशाली गर्व, निराधार के प्रति कर्ण का औदार्य, प्रेमी के प्रति रसिक कवि का रस, राजनीति में चाणक्य की गूढ़-नीतिज्ञता और ज्ञान में भगवान बुद्ध की विशालता। इन विचित्रताओं का एकीकरण अनन्तानन्द ने अधिकतर अपने में किया था और अपने शिष्यों को सिखाया था। जगत ऐसा करता किन्तु स्वामीजी की सरलता से नहीं। प्रत्येक अवसर पर उसके आन्तरिक विग्रह का भयंकर स्मरण उसके व्यवहार पर कठोर छाप डाल देता था। इस चारित्र्य-भावना से बनाये हुए कृत्रिम स्तर दृढ़ थे फिर भी आज पुरानी अस्थिरता उमड़ पड़ी, परन्तु मन स्वस्थ था।

इस समय रघुभाई से किस प्रकार प्रतिशोध ले, इसी का विचार कर रहा था। रघुभाई ने चतुराई से अपनी आर्थिक एवं व्यावहारिक स्थिति को असाधारण बना लिया था, इस मार्ग से उस पर आक्रमण नहीं किया जा सकता था।

करमदास को उसने देखा, ऐसे धिक्कारपात्र कीड़े को मारने से क्या लाभ? श्यामदास कौन है और कहाँ है इस ओर ध्यान देने का जगतकिशोर ने निश्चय किया।

उसे रमा का विचार आया। स्त्री-जाति के प्रति जगत के मन में एक विचित्र प्रकार की विरक्ति उत्पन्न हो गई थी; बहुत-सी रमणियाँ उसने देखीं परन्तु स्वर्गीया और अविस्मृत प्राणेश्वरी की जोड़ी संसार में मिलनी कठिन थी। उसे रमा एक खिलौने-सी लगी।

इस प्रकार विचार करता हुआ वह बहुत देर तक समुद्र की ओर देखता रहा। आखिर वह घूमने के लिए चल पड़ा। चौपाटी पर अब शौकीन युवकों एवं सौन्दर्य शोभा दिखाने के लिए निकली हुई स्त्रियों की रेल-पेल नहीं थी। इतने में सामने एक व्यक्ति तेजी से जाता हुआ दीख पड़ा, जिसका शरीर एक मोटे कोट से ढँका हुआ था। जगत को सन्देह हुआ, ऐसा शरीर दो व्यक्तियों का

होना असम्भव-सा था। कुछ दूर निकल जाने पर जगत ने उसका पीछा किया। वह व्यक्ति रघुभाई के बंगले में प्रवेश कर सीधे रघुभाई के कमरे में चला गया। जगत ने अपनी आँखों को शाबादी दी और बाग में घुस कर छिपते हुए वह भी उस बैठक की खिड़की के पास जा पहुँचा। खिड़की जरा ऊँची थी, जिससे खड़े-खड़े वह उनका वार्तालाप बड़ी आसानी से सुन सकता था।

'कहो, अमरानन्द ! अब क्या करना है ?' रघुभाई का कण्ठ-स्वर सुनाई दिया।

जगत का अनुमान बिल्कुल ठीक निकला।

'जो कुछ आप कहें, मैंने तो अपनी सब तैयारी कर ली है और अनन्तानन्द के मनुष्य के निवास-स्थान का भी पता लगा लिया है।'

जगत ने ओंठ काटा।

'अब आप के सेक्रेटेरियट के तैयार होने भर की देर है।'

'स्वामी ! हाथ पर दही नहीं जम सकती। वह कागज मुझे अभी तक मिले नहीं, मिल जायें तो कल ही युद्ध प्रारम्भ कर दूँ।'

'किन्तु वह कब मिलेंगे ? आप यहाँ हैं और वह वहाँ हैं ?'

'मैं चुपचाप थोड़े ही बैठा हूँ परन्तु न जाने क्यों उन कागजों का पता वहाँ चल नहीं रहा है।'

'अच्छा ! किन्तु उनमें है क्या ?'

'यह तो मैं कागज मिलने पर ही बताऊँगा। अनन्तानन्द कब हमारी बाजी उलट देगा, कहा, नहीं जा सकता।'

'अरे वाह जी मेरे रघुभाई !' अमरानन्द हँसा 'किन्तु सेक्रेटेरियट का क्या हाल-चाल है ?'

'उस ओर से निश्चिन्त रहिये परन्तु उस समय जब अनंतानंद स्वयं आये थे तभी अपना इतना अधिक प्रभाव डाल गये हैं कि कुछ कहने की बात नहीं। सभी कहते हैं कि पड्यन्त्र या दुर्व्यवस्था का प्रणाम लाओ तभी कुछ हो।'

'दुर्व्यवस्था का प्रणाम तब क्यों नहीं देते ?'

'घबराइये नहीं, यह भी होगा। श्यामदास को कल ही रत्नगढ़ भेजता हूँ, वह सब पता लगा लायेगा।'

जगत अधिक ध्यान देकर सुनने लगा।

'श्यामदास ! श्यामदास विश्वासी है ?'

'अविश्वास करके जायगा कहाँ ? अभी चाहूँ तो उसे दर-दर का भिखारी बना दूं।'

'आप की शक्ति का मुझे पूरा भरोसा है। वह लौटेगा तब तक ?'

'महीने, दो महीने में।'

'तब तक क्या करना होगा ?'

'अभी तो जरा ठहरना पड़ेगा, पर यह तो बताइये कि अनन्तानन्द का आदमी है कौन ?' रघुभाई ने पूछा।

जगत ने सोचा कि अब सब भेद खुल जाएगा परन्तु अमरानन्द रघुभाई से भी बढ़ कर धूर्त्त था।

'अभी नाम-गाम का पता नहीं है, केवल घर ही जानता हूँ।'

'कहां रहता है ?'

'यह याद नहीं है। चौपाटी पर कहीं रहता है।' अमरानन्द ने बात उड़ाते हुए कहा।

आधे घन्टे तक बातें होती रहीं जिसमें अनन्तानन्द और उनके शिष्य सिद्धनाथ को गालियाँ भी दी गईं। जगत मन में बहुत हँसा। रघुभाई को क्या पता कि इतनी सुन्दर भाशा में जिस सिद्धनाथ को गाली दी जा रही थी उसी को दो घंटे पूर्व अपनी कन्या अर्पण करने के लिए वह स्वयं तैयार था।

इतने में कोई तीसरा आदमी आया। जगत ने समझ लिया कि यह श्यामदास ही होगा। कुछ देर बाद अमरानन्द चला गया और रघुभाई ने श्यामदास को प्रातःकाल की गाड़ी से चले जाने के लिए कहा। जगत ने श्यामदास को, चाहे जैसे भी हो देखने का निश्चय कर लिया। क्या दोनों, रघुभाई का शिष्य और तनमन का मामा श्यामदास एक ही व्यक्ति है ? उसका गला घोंट देने की जगत की इच्छा हुई। वह तुरन्त बंगले से बाहर निकल कर कुछ दूर पर खड़ा रह गया। थोड़ी देर में श्यामदास पहले ही जैसा हृष्ट-पुष्ट और आँखें निकाले हुए बाहर आया। तनमन पर अधिकार साबित करने वाले मामा साहब की आँख से तो एक बूँद आँसू भी नहीं टपका था, जरा भी दुबलाए नहीं थे ; सांसारिक अधिकार-विहीन सच्चे अधिकारी प्रणयी को ही सब कुछ सहन करना पड़ा था।

जगत ने उसे दूर से देखा और वह आगबबूला हो उठा। स्वामीजी ने भविष्यवाणी की थी कि शान्त रहकर भी प्रतिशोध लेने जाएगा तो रजोगुणी बनकर अशान्ति प्राप्त करेगा। हुआ भी वैसा ही। उसकी स्वस्थता जाती रही—तुरन्त सँभल गया। श्यामदास को ठीक से देखने का प्रयत्न किया, अपना 'वाटरप्रूफ' पहन लिया, टोपी नीची कर ली और जैसे ही श्यामदास लैम्प के पास आया कि उससे टकरा गया और कुछ साहबों की चाल का अवलम्बन कर उलटे श्यामदास को ही डाँटने लगा—'कौन हय, यु जगली ?'

श्यामदास दूसरी बातों में शूरवीर था परन्तु साहब की टोपी देखकर वह काँप उठा। उसने सोचा कि अवश्य ही यह कोई पुलिस का आदमी है। उसकी जबान से एक शब्द भी नहीं निकल सका।

'गेट अवे !' जगत ने गरज कर कहा।

श्यामदास सिर पर पगड़ी ठीक करता हुआ कुछ बड़बड़ाता चला गया—'जंगली ! जैसे इस के बाप का ही राज्य है।'

जगत ने अच्छी तरह देख लिया। वह हँसा और घर की ओर चल पड़ा परन्तु अभी उस दिन का उसका अनुभव समाप्त नहीं हुआ था। रात में ग्यारह बज गए थे चौपाटी पर दो-चार गंड़ेरी वाले और दो-चार आदमियों के सिवा वहाँ और कोई नही था। रेलवे क्रॉसिंग पार कर वह ज्यों ही शहर की ओर बढ़ा था कि सामने से एक मोटर आई। या तो चलाने वाला नया था या किसी बड़े आदमी की मोटर होने से उसे पुलिस का उर नहीं था। जो भी कारण हो, गाड़ी बड़ी तेजी से जा रही थी। मोटर-ड्राइवर को पथिकों को कुचल डालने की सदर परवानगी है, यह तो जगत प्रसिद्ध है। एकाएक मोटर जरा मुड़ी—जगत ने रोशनी में जाते हुए देखा ही था कि रात्रि की गम्भीर शान्ति को चीरती हुई एक भयानक चीख सुनाई दी। मोटर ने चीख के पश्चात् हार्न दिया और आँधी के समान विनाश करती हुई आगे बढ़ी चली गई। चीख कोमल दयाजनक थी। जगत वहाँ दौड़ गया, एक छोटा बालक मोटर के झपाटे में आ गया था और कुछ दूर पर बेहोश होकर जा पड़ा था। धन के मद में चूर आनन्द में मस्त, पूर्ण वेग से जाते धन कुबेर को यह भी भान नहीं हुआ कि पीछे एक निराधार प्राणी को मृत्यु के चंगुल में फँसा हुआ वह छोड़े जा रहे हैं।

जगत तुरन्त नीचे बैठ गया। एक छोटा सात वर्ष का बालक मूर्छित पड़ा था, मोटर ने उसका एक पैर कुचल दिया था। जगत ने इधर-उधर दृष्टि दौड़ाई लेकिन 'पुलिसमैन' कहीं दिखाई नहीं पड़ा। बड़ी ही ममता के साथ उस बेहोश लड़के को अपने दृढ़ हाथों में उठाकर तेजी से दौड़ता हुआ एक डाक्टर के यहाँ ले गया।

६२

लापरवाही मात्र से यह छोटा बालक कुचल गया, इसके दो-तीन घंटे पूर्व भूतेश्वर के एक बहुत बड़े मकान की एक छोटी कोठी में गुलाब—तनमन की विमाता बैठी थी। इतने वर्ष में पाप, निर्धनता और परवशता से उसका शरीर और सौंदर्य बहुत कुछ नष्ट हो गया था। उस का शरीर सूख गया था, केवल हड्डियाँ रह गयी थीं, चमड़ा पीला पड़ गया था, आँखें निकल आई थीं। मिस्टर पारखेरिया की कृपा से हरिलाल के धन में से मासिक मिलता था

जिससे वह जी रही थी। पहले तो श्यामदास उसका कुछ आदर करता था किन्तु शरीर अर्पण कर, स्त्री का सबसे बड़ा धन खोने वाली अधम गुलाब के लिए उसका आदर अथवा प्रेम अधिक समय तक स्थाई नहीं रह सका। उसका स्वतन्त्र अत्याचारी स्वभाव यह बला सहन नहीं कर सका। क्रमशः वह समाज की सीढ़ी से उतरती गई। अब चार रुपये मासिक की कोठरी में मुँह छिपा कर रहती थी और कभी-कभी श्यामदास उससे मिलने के लिए आ जाया करता था।

पापाचार के सम्बन्ध में विरक्ति आने पर मानव विपाक्त हुए बिना नहीं रहता। गुलाब सोचती कि श्यामदास के लिए उसने इतना अधिक त्याग किया और अब वह उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता, श्यामदास को तो दो घंटे के आनन्द के लिए विवश होकर आना पड़ता था। इस पर गुलाब को पुत्र हुआ। श्यामदास ने तो साधारण नियमानुसार जन्म लेने से पूर्व ही उसे स्वर्ग भेज देने का, उसे संसार की हवा भी न लगने देने का विचार किया था। परन्तु गुलाब में एक पवित्र भाव अभी भी बचा था। उसे पुत्र की बड़ी लालसा थी। वह श्यामदास से लड़ी झगड़ी और अन्त में दूर, यात्रा-स्थान कहे जाने वाले पुण्यधाम में उसे अपने पाप का फल प्राप्त हुआ परन्तु उसे लेकर वापस आना उसके लिए असम्भव था। इसलिए जब उसने श्यामदास का अपमान करने का डर दिखाया तब कहीं अन्यत्र बालक के पालन-पोषण का प्रबंध कर देने का प्रबंध कर दिया। बालक अपनी इच्छानुसार बड़ा हो रहा था। और श्यामदास कभी-कभी उसे अभागी माँ की गोद भरने के लिए यहाँ ले आता था।

गुलाब आज अत्यधिक चिन्ता में बैठी थी। पागल के समान कुछ बड़बड़ा रही थी; इतने में श्यामदास आ गया।

'इतनी देर ? बाट देखते-देखते थक गई।' इतने में श्यामदास को अकेला देख कर उसकी आँखें लाल हो गईं। 'क्यों ? मेरा भीखा कहाँ है ?'

'जरा धीरे बोल, पड़ौसी सुनेंगे तो इज्जत पर आ बनेगी।' कुछ घबराकर श्यामदास बोला, 'भीखा तो···'

'क्यों, क्या हुआ ?'

'आज कहीं मिला ही नहीं कम्बख्त ! दो घंटे तक उसके यहाँ बैठा था, वह दोपहर से ही कहीं भाग गया है।'

'कहाँ गया ? हाय-हाय ! मेरा भीखा ! जरूर तुम ने उसे मार डाला है, वह गया कहाँ ?' जोर से चिल्लाकर आवेश से काँपती हुई गुलाब बोली।

'चुप रह ! लोग जमा हो जाएँगे !'

'चूल्हे में गया तू और सब लोग। मेरा लड़का ले आ। हाय भीखा गया कहाँ ?'

श्यामदास ने देखा कि गुलाब का मस्तिष्क कुछ पागल-सा हो रहा है।

'अरे, मुझे क्या पता कि कहाँ है।'

'ले आ, बस जा। ले आ। पुलिस को खबर कर, चाहे जो कर लुच्चा कहीं का! तूने ही कुछ किया है। बाप बना है!' कह कर गुलाब उठी, उठते ही काँप उठी और आँख के नीचे अँधेरा छा गया।

'तू जरा शान्त रह, मैं मदन को खोज करने के लिए पैसा दे आया हूँ और सुन मैं कल बाहर जा रहा हूँ।'

'कहाँ जाएगा? पहले मेरा लड़का ले आ!' कहकर श्यामदास से गुलाब लिपट गई। कमजोर शरीर, अशक्त मस्तिष्क, हिस्टीरिया का रोग इन तीनों में मिल जाने से ऐसी विक्षप्ति प्रायः उसे हो जाया करती थी।

श्यामदास को भी क्रोध आ गया, उसका हृदय बड़ा कठोर था। झकझोर कर उसने अपना हाथ छुड़ा लिया। गुलाब कटे वृक्ष के समान जमीन पर गिर पड़ी; श्यामदास उसे वैसे ही छोड़ कर चला गया। उसे रघुभाई के यहाँ जाना था।

जगत दो-तीन दिन तो कुछ कर ही नहीं सका। घर में वह छोटा बालक पड़ा हुआ था जिससे सब घर फिर से बसाना पड़ा। रसोइया रखना पड़ा और बालक की देख-रेख करनी पड़ी। बालक सुन्दर एकहरे बदन का और दुर्बल था। उसके सिर के बाल लम्बे, चेहरा लड़की जैसा और छोटा था जिस पर इस अवस्था में अत्यधिक दुःख के चिन्ह अंकित थे। बालक का एक पैर पिस गया था, दूसरा थोड़ा ही बचा था, डाक्टर ने दूसरे पैर की कुछ आशा दिलाई थी।

६३

जगत उस बालक के बिछौने के पास ही सोता। दूसरी रात्रि में उसकी निद्रा खुली तो अपनी दरी पर बालक को पड़ा हुआ देखा। स्नेहशील, कोमल हृदय बालक अकेला न सो सकने से जगत के पैर पर हाथ रख कर सोया था। जगत ने सोचा, बिचारे की कैसी स्थिति है! पुलिस में सूचना दिये आज तीन दिन हो गये किन्तु इस निराधार बालक को लेने के लिए कोई आया तक नहीं। जगत एक प्रकार से प्रसन्न ही हुआ। इस बालक का पालन-पोषण कर अनंतानंद द्वारा बहुतों पर किये गये उपकार का बदला किसी का उपकार करके चुकाने का उसने संकल्प किया। दीपक का थोड़ा प्रकाश बालक के मुँह पर पड़ रहा था। जगत ने जरा आँखें मलीं। इन आँखों की सुन्दरता! हाँ—तुरन्त ही

डुम्मस स्मरण हो आया—जिन आँखों पर स्नेहाञ्जलि अर्पित की थी, जिनकी सुन्दरता हृदय में उत्कीर्ण कर लिया था वह स्मरण हो आया। तत्क्षण वह सावधान हो गया ; बड़बड़ाया ; अरे वाह ! अरे वाह ! पागलपन में कहाँ से कहाँ पहुँच गया।

स्वामी जी ठीक कहते हैं, अभी बहुत रोग बाकी रह गया है थोड़ी देर में मन शांत कर वह सो गया।

दो-तीन दिनों तक बालक चुपचाप पड़ा रहा। एक दिन प्रातःकाल कोई आवाज सुनकर जगत उठा। बालक बिछौने पर बैठा हुआ कह रहा था—'धुएँ की गाड़ी भक-फक · धुएं की गाड़ी फक-फक···'

जगत को हँसी आ गई। बालक का कष्ट कम हो गया था जिससे बहुत दिनों बाद वह खेल में रत हुआ था।

'सो जा, बेटा ! नहीं तो फिर बुखार आ जायेगा।'

'नहीं, मैं तो आग-गाड़ी में जा रहा हूँ।'

जगत ने उसके खेल में बाधा नहीं डाली। कुछ देर बाद उसने पूछा—'तुम किसके लड़के हो ?'

बालक हँसा, परन्तु उसने कोई जवाब नहीं दिया। बहुत परिश्रम के पश्चात् जगत इतना ही मालूम कर सका कि एक चाचा था और एक मौसी ; चाचा कभी-कभी उनसे मिलता। बालक लंगड़ाता हुआ जगत के पास आया और उसने अपना सिर उसकी गोद में रख दिया। बालक अब सुखी दिखाई पड़ रहा था।

'तुम्हें यहाँ अच्छा लगता है ?'

बालक ने अविश्वास से देखते हुए पूछा—'आप मुझे निकाल बाहर तो नहीं करियेगा ?'

'निकालूंगा नहीं परन्तु तुम्हारा चाचा ले जाय तब ?'

'चाचा भी तो मारते हैं और मदन चाचा तो खाने के लिए भी नहीं देते !'

'मदन चाचा कौन ?'

'एक हैं, परन्तु आपकी बहू मारेगी तब ? मदन चाचा की बहू रोज मारती थी।' बालक ने घबरा कर इधर-उधर देखा।

रुक्षता से हँसकर जगत बोला, 'मेरे बहू नहीं है।'

'बहू नहीं है ? तब तो बड़ा मजा रहेगा !' कहकर वह बालक हँस पड़ा। मदन चाचा की बहू का उसका अनुभव बहुत बहुत ही कड़वा था। उसके बाल पर हाथ फेरते हुए जगत को हँसी आ गई। उसकी 'बहू' नहीं थी परन्तु उसकी कदर करने वाला तो एक मिला।

बालक बीमार था ; पर अकेले आनन्द मनाने की उसमें अद्‌भुत शक्ति थी। वह अकेले हँसता, गाना गाता ; उसकी कल्पना-शक्ति सचमुच हास्य-जनक । कुछ न मिलने पर पैर की उँगलियों में डोरी बाँध कर उसे घोड़े की लगाम मान कर हमेशा गाड़ी हाँका करता था ऐसा प्रतीत होता था कि इसके पूर्व उसका सहवास निम्न श्रेणी के साथ था जिससे जगत उसे सुधारने का प्रयत्न करने लगा। बालक मूर्ख था किन्तु कृतज्ञता समझता था और नमक हराम कुत्ते के समान जगत के पीछे लगा रहता था। बाहर जाने पर खिड़की में बैठा हुआ, चाहे जितनी अधिक रात्रि चली जाय, जगत की बाट देखा करता। उसका पहले का नाम 'भीखा' था ? अब बदल कर जगत ने अरुण रखा।

कुछ ठीक हो जाने पर एक बार अरुण को नौकर द्वारा रमा के पास लिवा ले गया। गाड़ी, घोड़ा, मनुष्य और रमा जैसी स्त्री को देखकर अरुण तो पागल हो गया और दो-तीन दिन तक उसका गीत गाता रहा।

दूसरी ओर भी जगत का परिश्रम सफल हुआ था सेक्रेटेरियेट में अनंतानंद जो प्रभाव डाले गये थे उसे उसने अंकित किया और धीरे-धीरे अधिकारी वर्ग भी जगत की शक्ति के सामने झुक कर उसके कथनानुसार काम करने लगे। इस काम को पूर्ण करने के पश्चात् अपने निजी काम की ओर ध्यान दिया। तनमन की मृत्यु के लिए कौन कितना अपराधी है इस का उसे पूर्ण रूप से पता नहीं था इसलिए पहले इसे ही निश्चय कर लेने का उसने विचार किया। उसने सोचा कि करमदास को पकड़ने से बहुत कुछ पता चल जायेगा। वह इतना प्रभावशाली था कि करमदास जैसे तुच्छ व्यक्ति को मारना उसके लिए पागलपन-सा था। करमदास से मिलने के लिए जगत का हेतु कुछ दूसरा ही था।

करमदास, गंगा मौसी के जामाता की दया के आधार से जीवन व्यतीत कर रहा था। गुलाबदास कृतघ्नी नहीं था, सेठ का धन लूटकर स्वर्ग धनाड्य बना था अतः उसे प्रतिमास सौ रुपये देता था। इन सौ में से अस्सी मदिरा और वेश्या में चला जाता था; और करमदास प्रायः अपने राने मित्रों के यहाँ अतिथि बनकर दिन बिताता था। कुछ तो उसे निकाल दिये होते परन्तु गुलाब दास सेठ का सम्बन्धी समझकर गुलाबदास के पुराने सेठ को रहने देते थे।

एक दिन करमदास काँप उठा। किसी ने जोर से उसका दरवाजा ठोंका। उसे महाजनों का बड़ा डर बना रहता था पर सद्‌भाग्य से यह तो रघुभाई का अतिथि निकला। पुराने स्वभाव के अनुसार करमदास कोट पतलून में था, केवल पतलून तम्बूरा का गिलाफ मात्र, कमीज काजल के समान काली, और टाई के स्थान पर रेशमी कपड़ा था।

'आइये, आइये !' करमदास ने तुच्छ, मानहीन हास्य से स्वागत करते हुए कहा। करमदास में शरम कुछ बाकी रह गयी थी इसलिए क्षणमात्र को ऐसे गृहस्थ को देख कर अपनी स्थिति का विचार हो आया। किन्तु दूसरे ही क्षण वह विचार जाता रहा।

दीवाल के सहारे रखी हुई एक तीन पाये की कुर्सी पर जगत बैठ गया। जगत की तेजस्वी आँखों के तेज से करमदास जरा घबराया। उसने पूछा—'कहिये महाशय ! यहाँ कैसे ?'

'उस दिन आप बात कर रहे थे इसी लिए आया हूँ।'

'क्या ?'

'आप ने कहा था न कि किसी को अच्छे ब्याज पर रुपया देना हो तो एक समृद्ध आसामी है ?'

करमदास ने माथा खुजलाया। इस प्रकार की बात दूसरों के सामने करता अवश्य था परन्तु जगत से कब कहा, यह स्मरण नहीं आया।

'हाँ !'

'क्या उस आसामी को रुपया चाहिये ?'

करमदास की पीली आँखें चमक उठीं, कल्पना में दो-चार ग्लास ब्राण्डी पी गया। उधार रुपया लेने जैसा सुख उसके जीवन में दूसरा था ही नहीं बोला—'हाँ !'

'तब रुपया तैयार है।'

'कितना है ?'

'अभी तो दो सौ रुपये हैं।'

'बस ?'

'तो जरूरत नहीं है क्यों ?' कह कर जगत उठने लगा।

'नहीं, नही ! बैठिये, ऐसी भी क्या बात है ? कब मिलेगा ?'

'अभी साथ में लाया हूँ परन्तु देने वाले महाजन की एक शर्त है।'

'क्या ?'

'अपने विवाह की सच्ची बात मुझ से कहो और फिर दूसरे से न कहने की प्रतिज्ञा करो और देखो यह रुपया रखा है।'

'हाँ, हाँ, एक नहीं दो बार।' कह कर सेठ ने दस-ग्यारह वर्ष पहले की, प्रेम विह्वला तनमन के आत्मभोग की कथा टूटी-फूटी भाषा में कह सुनाई। आँख के आंसू रोकने के लिए जगत को अत्यधिक संयम की आवश्यकता पड़ी। उसके भव्य चेहरे पर निश्चय की दृढ़ रेखा अंकित हो गई। उसकी आँखों में तीक्ष्ण तलवार का घातक तेज चमक उठा। अंतर में लबालब प्रेम की विषमता व्याप रही थी; योगी जगत नष्ट होकर मनुष्य बन गया। अनन्तानन्द ने

जैसी भविष्यवाणी की थी वैसा ही हुआ। इस समय वह बिलकुल रजोगुणी हो गया।

'लो, यह रुपया! कहकर जगत ने जल्दी से रुपया गिन कर दे दिया। इस कंगाल के सामने वह अधिक समय बैठना भी नहीं चाहता था। करमदास की लोभी आँखें रुपया देखते ही चमक उठीं। उसके मन में कुछ दूसरे विचार भी आए। रुपया लेकर उसने आले पर रख दिया।

'देखो करमदास! अब आज से तुम यह बात किसी दूसरे से मत कहना, समझे।'

करमदास हँसा।

'बोलता क्यों नहीं? सुना या नहीं?'

करमदास की आँखें नीचता और शठता से चमक रही थीं, वह फिर हँसा।

'सुना या नहीं? यदि फिर तुम ने कहा तब तुम जानना!'

'आप प्रति मास कितना देंगे? दो सौ रुपये देंगे? तब कुछ नहीं कहूँगा।' करमदास में लुच्चापन था परन्तु व्यसन के कारण उसके उपयोग करने की परिपक्वता नष्ट हो गई थी।

जगत ने अब समझा। उसने इस मूर्ख में इतने लुच्चापन की आशा नहीं की थी।

'क्यों दो सौ किस बात का?'

'क्योंकि मैं आपको पहचान गया जिस से अब.....'

'क्या अब?' दाँत पीसते हुए जगत ने पूछा।

'अब आप के नाम के साथ सब से कहूँगा, नहीं तो अब मुँह बन्द रखने के लिए रुपए दीजिए। अपनी बुद्धिमत्ता पर पुलकित होता हुआ करमदास बोला।

'मेरे नाम के साथ?'

'और नहीं तो क्या, मुझे निरा बालक समझ रखा है क्या? कोई व्यर्थ दो सौ रुपये क्यों देने लगा?' हर्ष से उल्लसित होकर करमदास बोला।

'यानी?'

'यानी क्या? मेरी पत्नी का रंगीली युवक पकड़ा गया। अब रुपया नहीं दीजिएगा तो आप का गुणगान करूँगा।'

जगत समझ गया। नीच के साथ उसका पाला पड़ा था। 'तब तुम सब से कहोगे क्यों?' जगत का सशंक कंठ-स्वर धीमा था परन्तु उसमें तांडव नृत्य का भयंकर घोष प्रतिध्वनित हो रहा था। जगत की आँखों से चिनगारी निकल रही थी। 'हाँ तुम्हारी बात सब है। मेरे लिए तनमन घुल-घुल कर मर गई। मैं क्यों आया हूँ इसका तुम्हें पता है?'

करमदास घबराया। जगत का परिवर्तित स्वरूप देखकर उसकी स्वभाविक

कायरता काँप उठी, 'नहीं।'

'मैं प्रतिशोध लेने आया हूँ और यदि किसी से तूने कहा तो···'

'तो क्या कर लोगे ?' करमदास साहस बटोर कर बोला।

'क्या ?' जगत गरज उठा, उसकी भौहें तन गईं।

'आ···हा !'

'तुम मेरा कहना नहीं मानोगे तो···' शान्ति से दृढ़तापूर्वक जगत बोला और उसका गला उसने धर दबाया।

'अ···रे···को···ई···आ···ओ···पु···लि'

'चुप !' कहकर जगत ने उसे झकझोर दिया, 'फिर तनमन का नाम लेगा ?'

करमदास कपास के समान सफेद पड़ गया था। जगत के सबल पंजे में वह बकरे के समान था।

'नहीं, छोड़िए।'

'याद रखो जिस दिन यह शब्द मुँह से निकाला उसी दिन तुम्हारा काल आ जायगा।' जगत को इस अधम जीव पर अत्यधिक घृणा उत्पन्न हुई। इस मूर्ख का क्या करें ? किन्तु कुछ यादगारी रखने के लिए करमदास को एक छोटे बालक के समान अपने सुदृढ़ बाहुओं से उठाकर पास ही की एक मेज पर उस ने पटक दिया। जगत के पटकने से पुरानी मेज टूट गई। उसी में करमदास को रखकर वह बोला—'कहना अगर अब साहस हो तो' और इतना कह कर वह वहाँ से चला गया।

६४

युवावस्था में जब रक्त गरम रहता है और शरीर में बल होता है तब सभी विघ्न-बाधाएँ आप से आप ही दूर भाग जाती है। रमा ने एक मित्र के यहाँ जाने का वचन दिया था। कालेज के तूफानी मित्रों के साथ रहने में उसका सादा और कोमल स्वभाव सदा डरता था। लड़कों के साथ उधम मचाना, विनय की सीमा त्याग कर हँसी मजाक करना आदि अनेक बुरे रिवाजों से रमा और शीरीन बची हुई थीं जिस इनसे दोनों में बहुत पटती थी। आज आकाश में कुछ बादल छाये हुए थे फिर भी रमा शीरीन के यहाँ गई और लौटते समय शीरीन उसके साथ आई। दोनों अँग्रेजी में वार्तालाप कर रही थीं।

'परन्तु रमा ! तुमने अपना विचार क्यों बदल दिया ? पहले तो तुम भी मेरे ही समान पुरुष जाति से घृणा करती थीं।'

'जब तक अनुभव नहीं होता तब तक मन अनेक कल्पनाएँ किया करता है।'

'और पीछे प्रतिज्ञायें तोड़ दी जाता हैं।'

'अवश्य।' गंभीर विचार में लीन हो इस प्रकार ललाट में त्रिवली डाल कर रमा ने उत्तर दिया—'हमारा अनुभव ही कितना है? पहले मुझे पुरुषों में कायरता दिखाई देती और मैं उनसे घृणा करती थी, मेरी कॉरेज की 'कायर पुरुष' जैसे ही सब प्रतीत होते थे।'

'अब वह सब बदल गए हैं? क्या हमें अपना स्वत्व मिल गया है? इतने वर्षों से अत्याचार कर पुरुषों ने स्त्रियों को अधम बना डाला, तुम यह भूल गई?'

'नहीं।'

'तब तुम्हारा विचार कैसे बदल गया? देखो रमा! तुम पक्की धूर्त्त हो। याद है हमने क्या सौगन्ध ली थी? जहाँ तक हो सके एक-दूसरे से कोई बात गुप्त न रखना।'

रमा जरा घबराई, 'नहीं, नहीं गुप्त कुछ भी नहीं है, बात केवल इतनी ही है कि नये मनुष्य के संसर्ग में आने पर पता चलता है···'

'क्या?'

'कि हमें जो मनुष्य कायर या तुच्छ लगते हैं उसका कारण इतना ही है कि हमने सच्चे मनुष्य देखे ही नहीं।'

तो क्या तुमने देख लिए?'

'यह मैं कहाँ कहती हूँ।' आगे बात बढ़ाना रमा को ठीक नहीं जँचा।

'अरे यह तो बूँदा-बाँदी शुरू हो गई।'

'मार डाला इसने तो।' शीरीन बोली—कोई गाड़ी भी नहीं दिखाई देती।'

'चलो शीरीन! उस पोर्टिको में खड़ी हो जायें, अभी ही यह बंद हो जाएगी।' दोनों भीग गई थीं। दोनों को बड़ा मजा आ रहा था। इतने में एक बाल-स्वर सुनाई दिया—'चलो, राम! जल्दी।'

दोनों ने देखा कि एक नौकर के कंधे पर एक छोटा बालक बैठा हुआ कूद रहा था और वर्षा देखकर हँस रहा था। उसके हाथ में एक छोटी चाबुक थी जिससे लगातार आवाज करने का वह प्रयत्न कर रहा था।

'आओ जी पानी···अरे! यह कौन? रमा बहन!'

रमा ने अरुण को पहचाना और उसके चेहरे पर लाली दौड़ गई। 'अरुण, तू यहाँ कहाँ से?'

'क्यों यह तो हमारा घर है, आप कैसे आईं? आज तो भगवान नहा रहे हैं जिससे पानी बरस रहा है।'

अरुण का मत था कि जब थोड़ी वर्षा हो तब ईश्वर मुँह धोते हैं और

जब मूसलाधार वर्षा हो तब वह नहाते हैं।

'अभी से ही यह तो 'फिलासफर' लगता है, यह है कौन ?' शीरीन ने पूछा।

'मेरे पिताजी के एक मित्र हैं, उन्होंने इस बालक को मोटर के नीचे दबने से बचाकर अपने यहाँ रख लिया है।'

'तुम्हारे भैया यहीं रहते हैं ?' रमा के मुँह से जगत का नाम नहीं निकल सका।

'तब कहाँ रहते हैं ?' अरुण बोला। नौकर ने उसे बैंच पर बैठा दिया था, 'भैया बाहर गये हैं परन्तु आप ऊपर चलें।'

'नहीं मुझे जाना है।'

'यह नहीं हो सकता। हम आपके यहाँ आते हैं और आप नहीं आइयेगा ? नौन्सेंस !' अरुण ने इतने ही दिनों में जगत की चाल-ढाल बातचीत की नकल उतारना सीख लिया था। भैया का क्या काम है चलिए। ऐ यू, रामा घोड़ा ! इनका बैठा।

'चलोगी ? यह वर्षा तो अभी रुकती नहीं।' शीरीन ने कहा—'मिस्टर कुछ आपत्ति तो नहीं करेंगे ?'

'नहीं जी, और उनके आने के पहले ही हम चल भी देंगी।' जगत से मिलने का भय रमा में बढ़ता ही जा रहा था।

'इस लड़के के पैर में क्या हुआ ?'

'कुछ नहीं यह तो जरा लगड़-धींगड़ हो गया हूँ, एक पैर से ही चल लेता हूँ तो तब दो पैरों का क्या काम ?'

दोनों हँस पड़ीं। जगत बिलकुल ऊपर के खंड में रहता था। उसकी बैठक में प्रवेश करते ही दोनों को आश्चर्य हुआ। वहाँ कला और बुद्धि का असाधारण उपयोग दिखाई पड़ा।

'इन मिस्टर का नाम क्या है ?' शीरीन ने पूछा।

'जगतराय !' बड़ी श्रद्धा से रमा ने उत्तर दिया।

'घर में और कोई नहीं है क्या ?' शीरीन ने पूछा।

'नहीं अभी तक अविवाहित हैं।' जरा लजाते हुए रमा बोली।

शीरीन न होती तो रमा को चैन पड़ता। अन्तर में उठते हुए प्रेम-तरंग यदि प्रकट हो गये तब ! इसी का उसे डर लग रहा था।

'रमा बहन ! आप क्या सोच रही हैं ? उस दिन अपने घर पर किताब खोल कर बैठी थीं, हमारे यहाँ की भी पुस्तकें देखी हैं या नहीं ? अरुण से चुप न रहा गया।

'लड़का बड़ा बातूनी और तेज लगता है।' शीरीन बीच में बोल उठी।

'इधर आइये, इधर।'

अरुण के लिए पहियों वाली एक कुर्सी जगत ने बनवा दी थी जिस पर वह घर भर में घूमा करता। रामा नौकर उसे पास ही के कमरे में ले गया; रमा और शीरीन उसके पीछे-पीछे गईं। बैठका जितना ही सुसज्जित था उतना ही वह कमरा बिलकुल सादा था। सादे फ्रेम में संसार के महापुरुषों के चित्रों से दीवाल सुशोभित हो रही थी। रमा कुछ घबराई। दूसरे के घर में इस प्रकार जाना उसे ठीक नहीं जँचा। शीरीन को इसका कुछ भी ख्याल नहीं हुआ क्योंकि उसमें पारसियों की स्वतन्त्रता थी। हजार पुरुषों में भी वह शरमाने वाली नहीं थी और उसमें फिर 'एल्फिटोनियन' तब पूछना क्या था? उत्सुकतापूर्वक वह मेज के पास गई। कुछ पुस्तकें और अर्द्ध-लिखित कागज उस पर पड़े थे, उन्हें देख कर वह बोल उठी—'अरे, देखो तो रमा! ये तो कोई बड़े इतिहासकार प्रतीत होते हैं।'

'क्यों?'

'भारत का इतिहास मालूम पड़ता है, कोई अच्छा अभ्यासी है?'

'हाँ, तुम देखोगी तो समझोगी।' कुछ शरमाते हुए रमा ने कहा।

'तुमने इन्हें देख कर ही तो पुरुष जाति के सम्बन्ध में अपना अभिप्राय नहीं बदला है?' खिलखिला कर हँसते हुए शीरीन बोली। उसकी हँसी कुछ आकर्षक थी।

'यदि तुम्हारा अनुमान ठीक ही हो तो?'

'कुछ नहीं, कुछ देर में मालूम हो जाएगा कि ऊपर से सब मोहक लगते हैं किन्तु भीतर से तो 'कायर पुरुष ही होते हैं।

'खामोश हो जाओ, भैया आ गये।' जरा घबरा कर अरुण बोला।

जगत की अनुपस्थिति में तो वह राजा था परन्तु उसके रहने पर उन से बहुत डरता था। रमा और शीरीन दोनों विचार में पड़ गईं। शीरीन ने तुरन्त पारसी 'स्टाइल' से साड़ी को ठीक कर लिया। उस जाति की स्त्रियों का रूप एवं कपड़ा पहने की मनोरंजक छटा उसमें थी और उसकी कुछ भरी हुई तथा ऊँची शरीराकृति उस वस्त्र से दमक उठती थी। रमा के तो होश-हवास ही गुम हो गए थे, तब वह सुसज्ज कहाँ से होती।

बाहर ताल-बद्ध, दृढ़ पद संचरण सुनाई दिया और जगत ने स्नेहपूर्वक पुकारा, 'अरुण?'

रमा ने सोचा कि उसके घर पर जो कठोर, नीरस आवाज सुनाई देती थी इतनी स्नेहपूर्ण कैसे हो गई?

जगत करमदास के यहाँ से चला आ रहा था। मन में प्रतिशोध का घंटनाद हो रहा था।

'ओ भैया जी रमा बहन' कह कर अरुण ने उत्तर दिया। जगत भीतर आया, दो रमणियों को देखकर शायद ही कभी उपयोग में आने वाली मिठास से स्वागत करते हुए बोल उठा—'ओ हो बड़ी खुशी हुई !'

'क्षमा कीजिएगा मिस्टर जगतराय ! मूसलाधार वर्षा हो रही थी जिससे हम यहाँ आईं, यह आप का छोटा मित्र हमें ऊपर ले आया।'

'बहुत अच्छा हुआ। आप···'

रमा बीच में बोल उठी बिना बोले छुटकारा भी तो नहीं था—'यह मिस शीरीन हैं, मेरी कालेज-फ्रेंड।'

शीरीन तो जगत को देखती ही रह गई—'हम आपकी पुस्तकें देख रहीं थीं, आप क्या लिख रहे हैं ?'

'भारत का इतिहास, इसका मुझे अत्यधिक अनुराग है। 'भारत का इतिहास—आदर्शवादी दृष्टि से।' आपको इतिहास में दिलचस्पी है ?' सबके बैठ जाने पर जगत ने पूछा। रमा ने जगत को इस समय नए स्वरूप में देखा। उसमें दृढ़ता तो थी किन्तु कठोरता का कहीं नामोनिशान भी न था। किन्तु जो शान्ति एवं आत्मनिष्ठा उसमें दिखाई पड़ती थी वह यथावत् थी। कुछ इधर उधर की बातें करने के पश्चात् शीरीन उसकी प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकी।

'मिस्टर जगतराय ! क्षमा कीजिए किन्तु आप दूसरे 'बनियों' से बिलकुल ही भिन्न लगते हैं।'

'कैसे ? जिसे आप 'बनिया कह कर तुच्छ समझती हैं वह क्या इतना गया गुजरा हो गया है कि उसमें प्रशंसा करने योग्य कुछ बचा ही नहीं है ?

'जी नहीं ! परन्तु आप जैसा मैंने कोई देखा ही नहीं।'

'मैं ऐसा नहीं समझता, न जाने क्यों लोगों में ऐसी धारणा बँध गई है कि हिन्दु-जाति में मनुष्यता मानों रह ही नहीं गई। यह उनकी बहुत बड़ी भूल है, इसे जितना शीघ्र सुधार लें उतना ही अच्छा है अन्यथा कोई दिन हिन्दू उसका पूरा बदला ले लेंगे।'

'लिया है, लिया है। आप जैसा कोई कोने-अतरे में कहीं पड़ा होगा, बाकी तो—'

'बाकी सब आपके मत से तुच्छ हैं।' जरा हँस कर जगत ने कहा, 'स्मरण रखिए जितना हिन्दू में है उतना किसी में नहीं है। परन्तु यह बात जाने दीजिए। चाय पीजिएगा ? देखिए पानी बन्द हो जाएगा। रमा बहन ! आप कुछ बोल नहीं रही हैं ?'

रमा तो इसी विचार में तल्लीन थी जो कठोर नादिरशाह जैसा जगत उसके यहाँ आता था उसके बदले में यह क्या ? 'क्या बोलूँ ? बात करने की

अपेक्षा मुझे सुनना अधिक अच्छा लगता है। आपने बैठके की सजावट की तुलना में अपनी 'लाइब्रेरी' के साथ अन्याय किया है, या नहीं ? इसे तो बिलकुल ही सादा बना डाला है।'

'जी नहीं, मेरे मतानुसार तो बैठक के साथ घोर अन्याय किया गया है।' जगत बोला।

'वह कैसे ?' शीरीन ने पूछा।

'क्योंकि बम्बई के शौकीनों के उचित स्वागत के विचार से कमरे को व्यर्थ और मूल्यवान खिलौनों से सजाना पड़ा है।'

यह सुन कर शीरीन श्रद्धा से मुस्कराई। जगत कैसा सादा जीवन व्यतीत करता है, इसका उसे क्या पता था ? 'क्या कह रहे हैं ? आप जैसा सुशिक्षित इस प्रकार कहे तो·····'

'तब दूसरा कौन कहेगा ? अशिक्षित तो अवश्य ही दिखावे के लिए सजावट रखेगा। मेरे विचार तो बिल्कुल भिन्न हैं उसमें पारसी कुमारी को तो पागलपन ही लगेगा।'

'नहीं नहीं, कुछ कहिए न। आप हमारे यहाँ इतना आते हैं परन्तु अपने सम्बन्ध में तो कुछ कहते ही नहीं।'

'अपने सम्बन्ध में क्या कहूँ ? कुछ कहने लायक हो भी ? आपके सुधारों ने मेरे मन में प्रवेश नहीं किया है। मेरा तो ख्याल है कि सन्तुष्ट करने के लिए वस्तुएँ रखने की अपेक्षा उन वस्तुओं के बिना मन मारने में अधिक बड़प्पन है परन्तु बम्बई की युवतियों को यह रुचिकर नहीं होगा।'

६५

'आप तो मानो वृद्ध हैं !' शीरीन ने कहा।

'जी नहीं, मैं वृद्ध तो नहीं हूँ किन्तु आयु से बढ़ कर दुःख, चिन्ता एवं विचार के वेग ने मुझे अधिक बूढ़ा बना दिया है। मुझे पता है कि सब प्रमोदोल्लास में होकर अपनी चारित्र्य-भावना खो बैठते हैं। और यदि ऐसा ही चलता रहा तो हम सब कुछ खो बैठेंगे।'

'तब आप पुरानी लकीर के फकीर हैं, क्यों ?' रमा ने पूछा।

'तब आप को हम लोगों का अध्ययन-अध्यापन भी अच्छा न लगता होगा। शेम ! मिस्टर जगतराय !' शीरीन उबल पड़ी।

'जी नहीं आप की अपेक्षा मैं उदार विचार वाला हूँ। मैं चाहता हूँ कि आप पढ़े, जो कुछ हम करते हैं सब आप करें, सब रीति-रिवाजों को तोड़

डालें ; जो-जो वस्तुएँ आपकी प्रगति में बाधक होकर आवें सबको दूर कर द । परन्तु एक बात न भूलें, वह यह कि हिन्दुओं की रगों में विशिष्ट रक्त है, हमें आमोद-प्रमोद और विषयोल्लास में पाश्चात्य की नकल नहीं करनी चाहिए । हमें तो त्यागवृत्ति और वैराग्य में ही मनुष्यता मिलती है, इसके बिना हम मनुष्य ही नहीं हैं ।'

'तब आप इस प्रकार क्यों घूमते हैं ? पहन लीजिए न गेरुआ वस्त्र !' वाद-विवाद करते हुए शीरीन ने कहा ।

'किस लिए ? यदि इस वेश से मेरा विनोद बढ़े, मेरे निग्रह में खलल पड़े तो तत्क्षण उसे त्याग दूं । आज इन्हीं विचारों ने हमारा सत्यानाश कर दिया है । यदि सच्चा वैराग्य हो तो इच्छित वस्त्र धारण करने से क्या हानि है ? इस संसार के प्रत्येक क्षेत्र में आसक्ति मालों को हटाया नहीं जा सकता ?'

'यह किस लिए ? वैराग्य आने पर किस काम का ?'

'आपको मनुष्यता दिखलाने के लिए और आपके समाज एवं देश को विश्व नियमों के मार्ग पर अग्रसर करने के लिए । जहाँ विजय है वहीं विश्व-नियम है और वह विजय लम्बे समय के लिए, निडर विजय प्राप्त करने के लिए जो भी प्रयत्न करना पड़े उस सब को करना वैराग्य का प्रथम चरण है । यदि किसी का खून करने से विश्व-नियम की रक्षा होती हो, तो वैसा करने में विरागी का मन पुण्य-पाप का ख्याल नहीं करता ।' जगत की आवाज गूँज उठी । उसमें अलौकिक प्रतिभा चमक रही थी । दोनों बालाएँ स्तब्ध होकर देखती रहीं ।

चाय आई और फिर संसार में उतर आए, हँसे बोले और पानी बन्द हो जाने से दोनों युवतियाँ उठ खड़ी हुईं ।

'मिस्टर जगतराय ! बड़ी खुशी हुई, अवश्य आइयेगा । मेरे पिता जी बहुत खुश होंगे । हम मेरीन लाइन्स में रहते हैं ।' कहकर शीरीन ने हाथ मिलाया ।

रमा ने जाते समय हाथ बढ़ाया, जगत ने उसे लिया और रमा पर उसकी दृष्टि पड़ी । उसके चेहरे पर लाली छाई हुई थी उसकी आँखों में से अन्य युवतियों की भाँति ही एक प्रकार की भावना झलक रही थी । उस दृष्टि पथ से रमा का हृदय जगत के चरणों पर अर्पित हो गया ।

अरुण को सलाम कर दोनों बाहर निकलीं ।

'रमा ! ऐसे पुरुष यदि सभी हों तो 'कायर पुरुष' वाला मत बदलना पड़ जाय ।' शीरीन अपने विचार को न रोक सकी ।

'मैंने क्या कहा था ?' रमा कह तो गई किन्तु उसके मन को जगत और शीरीन का मिलन अच्छा नहीं लगा । शीरीन के प्रमाणिक निष्कपट चेहरे पर प्रशंसा का भाव अंकित था ।

जगत ने इतना विनयपूर्वक वार्तालाप किया था फिर भी उसकी स्त्री जाति के प्रति विरक्ति पहले जैसी ही बनी रही, जगत ने रमा के चेहरे पर अंकित भाव को लक्ष किया था जिससे उसके मन में एक विचार उठा, विचार विषम, घृणित लगा, फिर उसने सोचा—समीक्षा की। रघुभाई से प्रतिशोध लेने का विचार मन्द पड़ गया था। रघुभाई ने रुपया बम्बई बैंक में और इज्जत अपने सुगठित आडम्बर वाले चारित्र्य में रख छोड़ी थी, जिससे इनके द्वारा उस पर आक्रमण नहीं किया जा सकता था। ज्यों-ज्यों प्रतिशोध लेने में देर लग रही थी त्यों-त्यों वह खीझता था और उसे ऐसा लगता था मानो वह अपनी माता के प्रेम का अपमान कर रहा हो। उसे यह तो विश्वास था कि इस पापी से प्रतिशोध लेना विश्व-नियम को रुचिकर होगा। इस प्रकार विचार करते हुए उसे एक नया मार्ग सूझ गया। रघुभाई को चाहे जिस प्रकार भी यदि दुःखी करना ही ध्येय हो तो यह मार्ग क्या बुरा है? रमा अपने पिता की एकमात्र रत्न थी। उसका दुःख, भी तो उनके बाप का दुःख होगा। यह विचार कर वह खिड़की के बाहर कठोरता से देखने लगा।

चारित्र्य दो प्रकार का बनने का प्रयत्न करता है। यदि मनुष्यों को शाँति की आवश्यकता हो, सुख प्राप्त करना हो तो अवश्य ही काम-क्रोध रजोगुणी भावों का त्याग कर चुपचाप रहना और निवृत्ति-पथ पर विचरण करना। यदि रजोगुण स्वीकार किया तो फिर शांति एवं सुख को त्याग देना चाहिए। इसके उपरांत तीसरा रास्ता भी है जिसे अनन्तानन्द ने स्वीकार किया था। पहले बाहर की वस्तुओं पर आधार रखे बिना सुख मिले, ऐसा स्वभाव बनाना, उस में यथाशक्ति अभ्यास करे, अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त कर शांत स्वभाव से जो विश्व-नियम हों उनका स्थिर रूप से निरीक्षण करे और विश्व-नियमों का शाँतिपूर्वक निरीक्षण कर उन्हें जीवन में पालन करने का प्रयत्न किया जाय। इस प्रयत्न में प्रशंगवशात् यदि रजोगुण स्वीकार करना पड़े तो उसे एक नाटक के वेश के समान स्वीकार करना। साथ ही अन्तर की 'व्यवसायिका बुद्धि' को जरा भी हटने नहीं देना चाहिए। इसी आदर्श का अनंतानद ने अपने जीवन में समावेश किया था और जगत को उसकी शिक्षा दी थी। जब तक वह अनन्तानन्द के पास था तब तक उनके दिखाये हुए विश्व-नियम के अनुसार शरीर को मनसा और कर्म द्वारा पूर्ण किया परन्तु अभी उसकी वासना नष्ट नहीं हुई थी, वह प्रेम और द्वेष रूप में विद्यमान थी। अपना निजी द्वेष निकालने से विश्व-नियम की रक्षा होगी, ऐसा उसने सोचा। द्वेष का विचार किया करता था जिससे उसकी निर्मल बुद्धि नष्ट हो गई और करमदास के साथ बात करते समय क्रोध उत्पन्न हुआ, अस्वस्थता बढ़ी ; बुद्धि, शुद्ध विश्व नियमों को देखना भूल कर अशुद्ध अमानुषी व्यवहार देखने लगी। येन-केन प्रकारेण प्रतिशोध लेने

का उसने निश्चय किया—और उसके लिए रमा को कारणभूत बना डाला।

श्यामदास के सम्बन्ध में थोड़ा बहुत करमदास से सुना था, अब गुलाब का पता लगाने का उसने निश्चय किया। जगत के लिए निश्चय और कार्य-तत्परता एक समान थी।

जगत ने मेसर्स पारखेरिया एण्ड सन्स, सौलिसिटर से भेंट की। मिस्टर पारखेरिया अब काम से अलग हो गये थे और उसके पुत्र पिता का काम चला रहे थे। उनसे हरिलाल की विधवा का पता लगाने में कठिनता नहीं हुई क्योंकि गुलाब के पास मासिक यहीं से भेजा जाता था।

जगत वहाँ गया, कोठरी में ताला बन्द था। पड़ोसियों से पता चला कि दो-तीन दिन हुए गुलाब ताला बन्द करके गई, तब से आई ही नहीं। कोई काठियावाड़ी पगड़ी वाला आकर उसे लिवा के ले गया था! रघुभाई क्या? किसलिए रघुभाई गुलाब को लिवा ले गया होगा? आडम्बर के ऐसे भक्त के लिए गुलाब जैसी पतिता को ले जाने में अवश्य ही कोई सबल कारण होना चाहिए।

जगत रघुभाई के यहाँ गया। अपनी निर्धारित राक्षसी योजना को सफल बनाने के लिए वह रघुभाई के यहाँ प्रायः जाने से चूकता नहीं था। रघुभाई ने देखा कि कठोर, भावहीन जगत में अब कुछ कोमलता आ गई है; जिसका कारण रमा है, यह निश्चय कर वह अधिक स्नेहपूर्वक जगत की आवभगत करने लगा। जगत की उपस्थिति में रघुभाई रमा के प्रति अत्यधिक स्नेह प्रदर्शित करता था और दोनों को अकेला छोड़ कोई बहाना निकाल कर वहाँ से हट जाता था। जगत भी यह चाहता था। कठोरता के अदृष्ट रहने पर उसका आकर्षण भयानक होता, उसका हास्य जरा खेदयुक्त पर मोहक होता था, उसकी बातें कभी-कभी कटाक्षमय पर रसपूर्ण होतीं।

रमा को तो मानो मुँह माँगी मुराद मिल गई। रघुभाई ने जिस दिन जगत के साथ विवाह कर देने की बात कही थी उसी दिन से उसके मन में जगत बैठ गया था। हिन्दू-बाला की सरल श्रद्धा से उसने जगत को अपना पति समझ लिया था; और वह भी इतना प्रभावशाली पति, फिर पूछना ही क्या? वह जगत के शब्द-लालित्य पर नाचने लगी, उसकी इस प्रकार बाट जोहती मानों जगत के शब्द अथवा दृष्टि पर ही उसका जीवन निर्भर हो। पढ़ाई से विरक्ति हो गई, कवियों के रसमय काव्यों में नवीन जादू दिखाई दिया। रमा का स्वभाव सादेपन एवं भलाई की नीव पर बँधा था; वैर, द्वेष, खटपट यह सब विचार उसके मन में आते भी नहीं थे। उसके लिए तो सुख का सूर्य उदय हुआ हृदय में आने वाली स्त्रीत्व की नवीन, मन को अच्छी लगने वाली, मीठी उमंगों को उल्लास के साथ उसने स्वीकार किया। कुछ-कुछ मीठे सुख-स्वप्न

भी देखने लगी परन्तु सब उनमें ही लीन हो जाते। इन सबका मन में ही अनुभव करना उसे अच्छा लगता था। बाहर निकालने से शायद सब भ्रष्ट हो जायगा, ऐसा लगता। प्रायः वह जगत को स्वप्न में, विचार में देखती; भव्य, तेजस्वी, अतिथि के रूप में नहीं बल्कि स्नेहमय, प्रिय पति के रूप में। रमा बहुत कोमल थी; परिस्थिति का स्वतंत्र विचार करना उसे आता ही नहीं था। जो कुछ सानुकूल होता उसका मूक आनन्द लेती, प्रतिकूल होता तो चुपचाप सहन करने के अतिरिक्त दुसरा कोई उपाय नहीं था। फिलहाल तो जगत के बिछाये हुए जाल में वह फंसती ही जा रही थी।

रमा की बुद्धि अत्यधिक सुसंस्कृत थी, मनुष्य-चारित्र्य की विशेषता में देखने के लिए वह सदैव तत्पर रहती थी। जगत के जीवन में उसने कुछ न्यारी ही भावना देखी। अब तक जिन पुरुषों के संसर्ग में वह आई थी वे सभी लोभ एवं महात्वाकांक्षा के पीछे स्वार्थबुद्धि से बिना विचारे दौड़ पड़ते थे, परन्तु किसी व्यवस्थित घड़ी की गति की तरह या बुद्धिमान विज्ञान-शास्त्री की देख-रेख में परिचालित यन्त्र के समान जगत के सभी कार्यों में शब्दों में, नियम, दृढ़ता तथा स्थिरता दिखाई देती थी। रमा को ये सभी कुछ नवीन दिखाई देता। यह संसार के दूसरे व्यक्तियों से बिलकुल भिन्न है। इस नई भावना ने उसके मन को वस में कर लिया। जगत से पूछने का साहस उसमें नहीं था पर वह उनके प्रति शब्द पर ध्यान देकर उसके जीवन की छवि अपने मन में चित्रित करने का प्रयत्न ही करती। जब जगत वहाँ पहुँचा तब रमा खिड़की में खड़ी थी, दूर से ही उसे देख कर वह जरा हँसा, रमा ने शरमाते हुए सिर हिला कर उसका स्वागत किया। जगत को प्रतिशोध लेना अब कठिन नहीं जान पड़ा! उसकी प्रबल इच्छाशक्ति इस कार्य में लग गई थी और बिना किसी दया, बिना किसी के डर के यह विनाशवृत्ति, जिस प्रकार इंजिन बिचार बिना सब कुछ कुचलता हुआ आगे बढ़ता है उसी प्रकार अग्रसर हुई। बदमाश तो बद-माशी करता है सन्त जब बिगड़ जाता है तब उसकी अपेक्षा बदमाश भी भला। साधारण अपराधी के दोष, उसकी बदमाशी को अपूर्ण रख लोगों की उससे रक्षा करता है किन्तु संत के परिवर्त्तित सद्‌गुणों में अपूर्णता नहीं होती जिससे कोई बच नहीं सकता।

जगत भीतर गया। रघुभाई घर में नहीं था। रमा और जगत वार्त्तालाप करने लगे। शीरीन का एक दिन पूर्व पत्र आया था। पुत्री से जगत के सम्बन्ध में सब बातें सुनकर उसके पिता जगत से मिलना चाहते हैं। 'क्या मिस्टर जगत-राय मेरे यहाँ आवेंगे?' शीरीन ने पूछा था, 'तीसरे दिन प्रातः रमा के साथ आवें तो मुझे अत्यन्त आनन्द होगा।' जगत ने जाना स्वीकार किया और वह उठ खड़ा हुआ जगत से हाथ मिलाना रमा के लिए सातवें आसमान में विहार

करने के समान था, जगत ने भी अपना हाथ रमा के हाथ में थोड़ी देर रहने दिया।

जगत जब रघुभाई के घर से निकलता तब उसकी भृकुटी-भौंहें चढ़ी रहती थीं। इस प्रकार की मनोदशा बदल न जाय इसलिए गुणवंती का स्मरण करके वह दृढ़ता प्राप्त करता था।

६६

जगत, रघुभाई और रमा केकोबाद वकील के यहाँ गये। केकोबाद वकील दस वर्ष पहले व्यापार में अच्छा धन पैदाकर इस समय वानप्रस्थाश्रम भोग रहे थे। वह पुराने विचार के पारसी थे, अभी भी उन्होंने पुराना सादापन रख छोड़ा था और अपनी जाति को अर्द्ध अंग्रेज समझकर हिन्दुओं को तिरस्कार की दृष्टि से देखना सीखा नहीं था। अनेकानेक हिन्दुओं के साथ उनका प्रगाढ़ मैत्री सम्बन्ध था जिनमें रघुभाई भी एक थे। मिस्टर वकील बराबर अध्ययन में लिप्त रहते हुए भी अपने पुत्रों के व्यापार पर भी ध्यान रखते थे।

शीरीन दरवाजे पर खड़ी थी, उसका मुख आनन्द से दीप्त हो रहा था। रमा जितनी लज्जावती थी उतनी ही शीरीन बोल-चाल में स्वतन्त्र थी।

'कम इन (भीतर चलिए) मिस्टर जगतराय! रघुभाई! सकुशल तो हैं? रमा डीयर! चलो। पिताजी सामने गार्डन में आपकी ही प्रतीक्षा कर रहे हैं।'

बंगले के पीछे बेल से ढंकी हुई एक झाड़ी थी; वहीं पर मिस्टर वकील अपनी पत्नी और पौत्र के साथ बैठे थे। अतिथियों का स्वागत करने के पश्चात् सब लोग बैठ गये और थोड़े ही समय में मिस्टर वकील भी जगत की बातें सुनकर प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। बारह वर्ष में अनन्तानन्द जैसे ज्ञानी की संगीत से जगत ने इतना अधिक विकास कर लिया था कि दूसरे सबका ज्ञान और वाक्य-चातुर्य उसके सामने बालक जैसा लगता। कुछ देर तक केवल जगत ही बोलता रहा और सब सुनते रहे। रघुभाई का बर्ताव तो ऐसा था मानो जगत उसका जमाता ही हो। इससे वह भी सब विस्मरण कर, घमंड से उत्तेजित हो उठा। दो घंटे तक सब वहाँ बैठे रहे और मिस्टर वकील ने जगत के यहाँ आने का वचन दिया।

इसके बाद शीरीन, उसके पिता और कभी-कभी रमा तीनों अक्सर ही जगत के यहाँ जाते। विद्या-विलासी स्वभाव के वकील तो जगत पर आनन्दातिरेक से पागल-से हो गये और घंटों बैठे हुए जगत के विशाल और गम्भीर

विचार सुना करते थे। शीरीन भी धीरे-धीरे जगत की ओर आकृष्ट होती गई; पर जगत के अनेक व्यवहार उसे अत्यधिक विचित्र प्रतीत हुए।

'आप जमीन पर सोते हैं ?' एकाएक चीत्कार कर शीरीन ने पूछा।

'जी हाँ।'

'ऐसा नीरस जीवन आपको कैसे अच्छा लगता है ?'

'क्यों इसमें क्या हुआ ? यह प्रश्न आपने कई बार पूछा है ?'

'शीरीन बच्ची ! यह सब तेरी समझ में नहीं आयेगा।' मिस्टर वकील ने कहा।

'नहीं पिताजी ! इनका कथन मैं समझ रही हूँ ; परन्तु ईश्वर ने जब विलास और आकांक्षा नामक संज्ञा बनायी है तब उसका उपयोग क्यों न किया जाय ? नियमित आनन्द का अनुभव क्यों न किया जाय ? मन दबाने में ही मनुष्यत्व है, यह मेरी समझ में नहीं आता।'

'आपको समझने में देर लगेगी। आप हिंदू नहीं हैं इसलिए कुटुम्ब के साथ रहना आप ने सीखा ही नहीं है। आपने कभी दुःख भी नहीं झेला। इसके विपरीत आपके शास्त्र ने मनुष्य को पशु बना दिया है, यदि आप स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव करें तब आपको हमारा सिद्धान्त समझ में आयेगा।'

'यदि ऐसा है तब आप कविता क्यों पढ़ते हैं ? रसिकता का पोषण क्यों करते हैं ?'

'आपके मस्तिष्क में यह भेद अभी तक स्पष्ट नहीं हुआ है। मेरा मन मेरे साम्राज्य से अधम हो मेरे में एक भी उमंग न उठता हो तब तो मैं एकान्त-वासी या जंगली ही बन जाऊँगा। जो कुछ मैं करूँ वह नियमबद्ध, कलायुक्त हो ; अपूर्ण न रहे इसके लिए रसिकता का अभ्यास आवश्यक है। यदि मैं क्रोध करूँ तो वह बिलकुल अश्वत्थामा जैसा होना चाहिये और भाव प्रदर्शन तो वह शैली की कविता जैसा हो।'

'किन्तु यह क्या दोनों बातें गलत नहीं हैं ?' मिस्टर वकील ने पूछा।

'आपके मत से; मेरे मत से तो शान्ति ही सच्ची है ; इससे भिन्न सब मिथ्या है। यदि मेरी बुद्धि को अमुक प्रसंग पर रोष करना वास्तविक प्रतीत हो तो क्यों न सृष्टि के प्रभावशाली रोष जैसा ही मैं उसे प्रकट करूँ ? यदि भाव प्रदर्शन करने की आवश्यकता प्रतीत हो तो उसे क्यों न अपूर्व रूप से प्रदर्शित किया जाय ? अपूर्णता में मैं विश्वास नहीं करता।'

एक दिन शीरीन जगत के यहाँ से लौटी तो उसे चैन नहीं था। वह बाग में जाकर झूले पर बैठ गई। उसका सिर कुछ दुख रहा था, उसे चारों ओर उदासी मालूम पड़ रही थी। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि हृदय क्यों इतना धँसा जा रहा है। वह अपनी मनोदशा के सम्बन्ध में विचार करने लगी।

'अब तक वह पुरुषमात्र से घृणा करती थी, वह दृष्टि-बिन्दु कहाँ गया ? रमा क्यों उसे वक्र-दृष्टि से देखा करती है और उससे मिलना भी क्यों उसने बन्द कर दिया ? जगत रमा के प्रति आकृष्ट हुआ है या नहीं ? मेरी भाषा जगत के समान हृदय को अपील करने वाली क्यों नहीं होती ? मेरे विचार उसके जैसे सर्वग्राही क्यों नहीं बनते ? मेरा चारित्र्य नियमित एवं व्यवस्थित क्यों नहीं होता ? कब मैं जगत जितना पढ़ सकूँगी ? जगत के साथ वाद-विवाद करने के लिए उसने नये विषय चुपचाप पढ़ना प्रारम्भ कर दिया था एवं 'चारित्र्य की भावनाएँ' के नाम से एक निबन्ध भी लिख रही थी। क्या जगत को यह पसन्द आयेगा ?'

होमी सेठ ने आकर शीरीन को नमस्कार किया। मिस्टर सेठ उन्नतिशील घर के सम्पन्न एक युवक बैरिस्टर थे। वे शीरीन के लिए उम्मीदवार थे। शीरीन ने मिस्टर सेठ के लम्बे शरीर, अप-टु-डेट वस्त्र और काकुल काढ़े हुए चमकीले बालों को देखा और वह कुछ विरक्त हुई। वह बराबर इसी प्रकार के मनुष्यों को देखा करती थी। नाम के मनुष्य, मिट्टी के पुतले, स्वार्थ के एवं सामान्यता के अवतार जो साइनबोर्ड पर चित्रित नमूने के समान संसाररूपी पट पर चेतनाविहीन पड़े रहते हैं। शीरीन इन नीरस व्यक्तियों को पहले व्यथित दृष्टि से देखती थी किन्तु जब से जगत की प्रभावशाली, भावनापूर्ण मानवता उसने देखी तब से ऐसे मनुष्यों को सचमुच घृणा से देखने लगी थी।

'क्यों शीरीन ! अकेली क्यों बैठी हो ?'

'यों ही, कुछ सोच रही थी।'

'तू बहुत सोच-विचार किया करती है, यह ठीक नहीं। यदि मैं सफ्रेजेट के मत का न होता तो क्रुद्ध हो जाता।'

'क्यों विचार करना अपराध है क्या ?' शीरीन के उत्तर में कटाक्ष था।

'नहीं, पिनलकोड में अभी ऐसा तो नहीं है परन्तु स्त्रियों के लिए उसमें एक धारा बढ़ा दी जाय तो अच्छा हो।' कह कर होमी झूले पर बैठ गया। 'आज वेदर (मौसम) कुछ ठंडा है।'

शीरीन मन में जरा हँसी। वही नपे-तुले शब्द !

'मुझे तो गरमी लग रही है।'

'ऐसा ?'

'जी हाँ, इसका आधार तो मन होता है।'

'तू फिलासफर कब से हो गई ?'

'तुमने उसे छोड़ कर कानून लिया तभी से। अच्छा होमी ! तुमने बी०ए० में फिलासफी लिया था न ?'

'क्यों परीक्षा लेनी है क्या ?'

'कुछ काम है। मैं बेंजामिनकीड का 'शोशल इवील्यूशन' पढ़ रही हूँ, उस में एक स्थल समझ में नहीं आया।'

'तोबा अल्लाह ! शीरीन, यह भूत किसने तुझे लगा दिया ?'

'एक फ्रेण्ड (मित्र) हैं।'

'कौन है वह ?'

'एक हिन्दू मित्र हैं, किताब लाऊँ उसे समझा सकोगे ?'

'देखो, मैं तो सब भूल गया हूँ। यदि तुम कहो तो कानून की बातें समझा दूँ।'

शीरीन बड़े परिश्रम से मन को संयत रख सकी। वह बोली—'होमी, तब चलो भीतर चलें।'

'नहीं, मुझे कुछ बातें करनी हैं। तू फिलासफी का विचार दूर कर तब बातचीत हो।'

'तुम्हारी बात से क्या फिलासफी का बैर है ?'

'कुछ-कुछ, शीरीन ! ध्यान देकर सुनो, कृपाकर बात उड़ाओ मत। तीसरी बार तुम से कहने आया हूँ। अब कब तक हम लोग इस प्रकार अलग रहेंगे ?'

शीरीन स्पष्ट वक्ता एवं खुले दिल वाली युवती थी। वह बोली—'होमी डियर ? तुम मुझे सचमुच प्यार करते हो ?'

'सच्चे दिल से !'

'तुम मुझे दुःखी तो बनाना नहीं चाहते हो ?'

'नहीं, सुखी करना !'

'तब यह प्रसंग कृपाकर जाने दो। मुझे स्वार्थी, मूर्ख जो समझना हो, समझो किन्तु मैं दुःखी होने के लिए विवाह नहीं करूँगी। तुम्हारे साथ विवाह करने में मुझे सुख दिखाई पड़ेगा तब तुरन्त ही तुमसे कहूँगी।'

'इस प्रकार बात उड़ाओ मत, मेरा प्रेम सच्चा है, इसे तो तुम मानोगी ही।'

'मैंने इसे अस्वीकार कब किया है, किन्तु इन दोनों के विचारों में इतनी भिन्नता है कि विवाहोपरान्त हम दो दिन सुखी नहीं रह सकेंगे।'

'ऐसा क्यों कह रही हो ? हमारे विचार भिन्न कैसे हैं ?'

'देखो, होमी ! मुझे दूसरी स्त्रियों के समान झूठा-सच्चा बोलना नहीं आता है। तुम मुझे प्यार करते हो क्योंकि मेरी प्रमाणिता पर तुम्हें विश्वास है। तुम जरा शौकीन, लहरी, पर मैं तो पुरानी लकीर की फकीर हूँ। तुम्हें संसार का और मुझे बुद्धि का आनन्द लेना अच्छा लगता है। इससे हमारे विवाह का फल कैसे अच्छा हो सकता है ?'

'अरे, यह भी कोई कारण है।'

'मैं अत्यधिक दु:खी हूँ किन्तु हमारी उम्र के स्त्री-पुरुष ऐसा विचित्र जीवन व्यतीत करते हैं कि मुझे किसी की प्रशंसा करने की इच्छा नहीं होती और प्रशंसा अथवा मान-विहीन विवाह किस काम का ?'

'शीरीन ! मेरे प्रेम प्रस्ताव का यही उत्तर है ?'

'गलत मत समझो होमी ! तुम्हारे लिए मेरे मन में पर्याप्त आदर है परन्तु दूसरी प्रकार का। मेरा हृदय प्रेम-विहीन विवाह-सम्बन्ध करना अस्वीकार करता है और प्यार बिना विवाह सम्बन्ध करने से बढ़ कर दूसरा नीच कार्य कौन सा हो सकता है ? चलो अब भीतर चलें।'

'शीरीन ! सोच लो, पीछे पछताओगी।'

'पछताऊँगी तो भूल स्वीकार कर लूँगी, नहीं पछताऊँगी तो मृत्यु के साथ अपने विचार लिए चली जाऊँगी।'

६७

'देखिए, पिताजी ! यह बात मिस्टर जगतराय से मत कहिएगा।'

'क्यों ? तुम्हारा निबंध तो बहुत अच्छा है।'

'नहीं, नहीं, मुझे लज्जा मालूम पड़ती है।'

'बस रहने दो। रमा ! मिस्टर जगतराय हैं क्या ?'

'जी, आते ही होंगे ! आठ बजे आने के लिए कह गए हैं।'

'अब तो आठ बजने में कुछ ही मिनट बाकी हैं।'

'और यह मिस्टर जगतराय नीचे गाड़ी से उतर रहे हैं।' शीरीन ने खिड़की के बाहर देखते हुए कहा, वह तो घड़ी की तरह चलते हैं।'

जगत को बांदरा में एक बंगला किराये पर लेना पड़ा था क्योंकि बम्बई का मकान बहुतों को मालूम हो गया था और रत्नगढ़ के अथवा अनन्त मंडल के काम के लिए कोई आता तो उसे वहीं ठहराना ठीक जँचता था।

'मिस्टर वकील ! शीरीन बाई ! ओहो, आपको अधिक समय बैठना पड़ा क्यों ?'

'जी नहीं, हम अभी तो आये हैं।'

सब लोग लाइब्रेरी में गए।

'मिस्टर जगतराय ! सॉक्रेटीज़ के समान आपको भी लबादा पहरना चाहिये।'

'इतनी कृपा का कारण ?'

'क्योंकि आप बच्चों को बिगाड़ते हैं।'

शीरीन ने पिता की ओर आँखें तरेर कर देखा किन्तु मिस्टर वकील मानने वाले नहीं थे।

'सचमुच ! अरुण ने कुछ बदमाशी की क्या ?'

'जी नहीं, वह तो अभी रमा के यहाँ से आया ही नहीं है परन्तु इस शीरीन को लिखना···'

'नहीं पिताजी !' शीरीन ने अपने पिता के मुँह पर हाथ रखा।

'कोई गुप्त बात है क्या ?' जगत ने जरा हँस कर पूछा। उसकी हँसती हुई आँखें हृदय-भेदक थीं।

'कुछ नहीं, मैंने बैठे-बैठे अन्ट-सन्ट कुछ लिख डाला है, उसे ही पिताजी व्यर्थ में आपको दिखलाने के लिए आग्रह कर रहे हैं।'

'न दिखाना तो अन्याय करना होगा कि नहीं ?'

'देखा, मैंने क्या कहा था ?' कहकर मिस्टर वकील ने निबन्ध निकाला।

'मिस्टर वकील ! आप पढ़िए, मैं सुन रहा हूँ, विषय क्या है ?' जगत ने प्रोत्साहन दिया।

'परिचय की भावनाएँ !'

'अहो, शीरीन बाई ! आप तो बहुत आगे बढ़ी हुई हैं !'

शीरीन के कपोल लज्जा से रक्त वर्ण हो गये। वह अपने बुद्धि-प्रधान, पौरुषेय स्वभाववश ऐसी लज्जा से आज तक अनभिज्ञ थी।

वकील पढ़ने लगे, उनके कन्धे पर से शीरीन लेख देखने लगी और कोई सुन्दर वाक्य प्रयोग आ जाने पर श्रोता जगत पर भी दृष्टि डाल लेती। जगत हथेली पर सिर रखे हुए मेज पर बैठा था। एक घंटे में निबन्ध समाप्त हुआ।

'वेल मिस्टर जगतराय ! निबन्ध कैसा है ?' वकील ने पूछा।

'सच कहूँ ?' जगत ने कहा, 'शीरीन बाई को दृष्टि में रख कर लेख बहुत ही अच्छा है परन्तु अभी विचार परिपक्व नहीं हुए हैं।'

'कैसे ?'

'अच्छे-अच्छे लेखों में से वाक्य लिए हैं अवश्य' परन्तु प्रत्येक लेख का दृष्टि बिन्दु क्या है, यह समझने का प्रयत्न नहीं किया गया है।'

'मैं समझी नहीं।' शीरीन ने पूछा।

'प्रत्येक देश में चरित्र की भावनाएँ भिन्न हैं जिससे भिन्न-भिन्न लेखक भिन्न-भिन्न भावना समान रखते हैं, इनकी तुलना तुम्हारे लेख में नहीं की गई है।'

'ओह ठीक ! यह तो मैं भूल ही गई।'

'वह किस प्रकार जरा मुझे ?' वकील ने कहा।

'सबके दृष्टि बिन्दु भिन्न होते हैं। एरिस्टॉटिल की भावना उदार पुरुष की

है सभी विदित सद्गुणों का भण्डार, प्लुटार्क की भावना विजयी नराधम की कॉरललाइल की साहसी नरनायकों की है, बाइबिल की सहनशीलता एक कंगाल की है। यह सब एक देशीय हैं, कोई भी सर्वदेशीय भावना की शिक्षा नहीं देता।'

'तब ?

'हमारा हिन्दू नीति-शास्त्र यह सिखाता है।'

क्या आपका वेदान्त ?'

जी नहीं यही भूल है। हमारे ज्ञानियों के ज्ञान भी उच्च हैं। उनके विचार पूज्य हैं, परन्तु हमारे नीति-शास्त्र की महत्ता के सामने यह विचार नगण्य हैं। सम्पूर्ण संसार दुःखमय है। उस दुःख के दूर होने पर आने वाली पूर्णता, और उस पूर्णता को प्राप्त करने का सरल मार्ग यह जो विचार हैं उनके सामने अन्य सभी विचार छोटे बालक के समान हैं।'

'परन्तु इसी भावना से ही आपका जाति पतन हुआ ?'

'किसने कहा ? यह भावना ही नष्ठ हो गई। संन्यासी लफंगे वैरागी बन गए, कर्मकान्ड को लोग भुला बैठे कर्म के स्थान पर नाक पकड़ना मात्र रह गया तब हमारी भावना नष्ट हो जाए तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? हमारी दरिद्रता, कापुरुषता इस बड़े पाप की शिक्षा। जिस दिन हम इस योग से पतित हुए इसी दिन से हम इस शिक्षा के पात्र बन गये।'

इस प्रकार बातचीत में काफी समय बीत गया। जगत कुछ कहता उसका शब्द प्रतिशब्द शीरीन हृदय में धारण करती।

ग्यारह बजे सब लोग उठे।

'अब चलो बहुत देर हुई।' वकील ने कहा।

'जो भी हो, मिस शीरीन बाई ! मेरा अभिनन्दन है। एक दर्जन ऐसे निबन्ध लिख लें तो आपकी लेखन-शैली अवश्य ही विकसित हो जाएगी।'

वकील बाहर के कमरे में आए। शीरीन ने अपना वाटरप्रूफ पहनते हुए पूछा—'तब दूसरा लिखूँ ?'

'अवश्य ! क्या परसों ले आइएगा ?'

'हाँ···नहीं, क्या यह लेख ठीक लिखा गया है ?'

'नहीं तो क्या मेरा अभिनन्दन व्यर्थ का ही है ?'

'लिखूँगी तो उसका सब श्रेय आपको होगा।' जरा हँस कर शीरीन ने कहा। उसकी आँखों में एक अभ्यासी की चमक नहीं बल्कि दूसरी ही ज्योति थी।

'शैतान अपना अधिकार पाने के योग्य नहीं होगा।' कटु मुस्कान से जगत ने अंग्रेजी में कहा।

'जी नहीं, मेरा शैतान अवश्य योग्य है। अंग्रेजी में ही उत्तर देकर हँसती हुई शीरीन अपने पिता के साथ चली गई।

६८

रमा का जीवन प्रफुल्लित हो उठा। उस का कोमल स्नेहशील स्वभाव वासन्ती लता के समान झूम रहा था। दूसरे-तीसरे दिन जगत को देखना, उसके मीठे शब्द श्रवण करना और बाकी समय उसकी तेजस्वी मूर्ति में ही उसके दिन-रात व्यतीत हो जाते थे लज्जावश वह स्वतन्त्रतापूर्वक जगत से अधिक बोल नहीं पाती थी। हिन्दु-मर्यादा उसके साथ अधिक न तो बैठ सकती थी और न घूमने-फिरने जा सकती थी। फिर भी जगत उसे अपना लगता था। इतने वर्षों तक मानो वह उसकी प्रतीक्षा कर रही थी। जब कि आकाश में गहरे बादल घिर आते और तृषार्त धरा आशा लगाए बैठी रहती उस समय उसके हृदय की उमंगें समुद्र की तरंगों से भी अधिक वेगमय होकर उछलतीं, उस समय जगत के मुख की कल्पना कर उसको हृदय में ही आरती उतारती। पढ़ाई सब ताक पर रख छोड़ी थी ; प्रथन वर्ष होने से विशेष हानि की संभावना नहीं थी। बाप भी विचित्र रूप से स्नेह-भान प्रदर्शित कर रहा था। इससे अधिक सुख क्या चाहिए !

शीरीन और उसके बीच में थोड़ा अन्तर पड़ गया था। शीरीन दिन भर पढ़ती और जगत से मिलती, वह सब उसे पसन्द नहीं आया। कारण बता सकने में वह असमर्थ थी। तत्वज्ञान एवं अन्य विविध विषयों में शीरीन के समान वह स्वयं भाग नहीं ले सकती थी इससे भी मन संक्षुब्ध हो उठता था। किन्तु जब जगत उसके यहाँ आता और काव्य एवं रसिकता के सम्बन्ध में बात-चीत करता तब वह सब कुछ भूल जाती। इस सुख में केवल एक ही रुकावट थी, जगत पहले ही सभ्य एवं स्नेहपूर्ण प्रतीत हुआ परन्तु ज्यों-ज्यों दिन बीतने लगे एवं अधिकाधिक प्रेम-सरिता में वह उतरती गई त्यों-त्यों जगत की नियमित निश्चल सभ्यता, व्यर्थ-सी लगी। उसके हृदय का भाव जानने का वह सतत प्रयत्न करती किन्तु जगत के स्वस्थ व्यक्तित्व के सामने उसे सदैव ही पराजित हो जाना पड़ता और उसके सब अरमान मन ही में रह जाते। इस व्यवहार से वह थक गई। परन्तु करे क्या ? जगत का स्नेहपूर्ण बर्ताव पूर्णवत् चल रहा था। कभी-कभी अपने को वह मूर्ख कहती किंतु दिनों-दिन उसे जगत की अधिक आवश्यकता प्रतीत होने लगी ; कभी-कभी अरुण को अपने पास रखकर उसके 'भैया' की बातें करती। कभी किसी कवि के रसीले पद में जगत का चित्रण समझ, उसका मनन करती। मन को कोई आबद्ध कर सका है ? वह समझती

कि वह स्वयं जगत की मालकिन है। सुकोमल अवयव कठोर धरती पर पड़ा होगा ? बेचारे को कितना दुःख है। क्या उसका रसोइया खराब भोजन बनाता है ? उसके हाथ में होता तो···' फिर वह एकाएक चौंक पड़ती और अपने मन को ऐसे कल्पना-जगत में विचरने से रोकती।

दूर से जगत आता हुआ जान पड़ा। वह सदैव बाहर ही बाहर बैठक में जाता। रघुभाई से भेंट करता और रमा से भी वहीं मिलता। उन्हें अकेले छोड़ रघुभाई प्रायः वहाँ से चला जाता अन्यथा जगत कभी रमा के साथ एकान्त में न रहता।

'क्यों रमा बहन ! अरुण कहाँ है ?'

'यहाँ हूँ भैया ! रमा बहन के लिए एक अच्छी-सी माला बना रहा हूँ।' अरुण माला में फूल पिरोते हुए बोल उठा।

'मेरे लिए ?' रमा जरा लजा कर बोली।

'तुम विवाह करोगी न, उसी के लिए।'

रमा को लगा जैसे वह जमीन में धँस जाएगी। वह नीचे से सिर उठा कर ऊपर देख भी नहीं सकी।

'अरुण बड़ों से मजाक करना ठीक नहीं होता।' जगत ने जरा कठोर आवाज में कहा। रमा निराश हो गई। उसने दूसरा ही कुछ सोचा था। लँगड़ाता हुआ अरुण आ रहा था, वह कुछ अप्रतिभ हो गया। थोड़ी देर बाद वह नौकर के साथ घर चला गया।

'रमा बहन !' 'बहन' पर अदृष्ट जोर था। आवाज बिलकुल ही भावहीन थी। 'रघुभाई कहाँ है ?'

'भीतर होंगे, चलिये ! हृदय को दबाए हुए रमा बोली।

'आइये जगत भाई !' रघुभाई ने अपनी स्वाभाविक नीति निपुणतापूर्ण मुस्कराहट धारण कर कहा।

'आपको खबर है कि मिस्टर वकील के विवाह की 'गोल्डेन-जुबली' है ?'

'हाँ, अभी तो काफी दिन है, शीरीन कह गई है।'

'जी हाँ ! कल कालेज में भी यही बात चल रही थी। बड़ी धूम-धाम से मनाई जाने वाली है।' रमा ने कहा।

'अरे हाँ !' कहकर रघुभाई ने दरवाजे की ओर देखा और चौंक उठे, 'आप यहीं बैठें मैं अभी आया।'

'कौन है पिताजी ?'

'श्यामदास है।'

'श्यामदास कौन है ?' जगत ने अनजान बनकर पूछा।

'एक मेरे परिचित हैं।'

श्यामदास अभी स्टेशन से चला आ रहा हो, ऐसा जान पड़ रहा था। जगत भी इस प्रकार चलने के लिए उद्यत हो गया मानो उसे रमा से कोई सरोकार ही न हो, वह बोला, 'मैं तो अब जाऊँगा।'

'ठहरो भाई मैं अभी आता हूँ तब जाना।' कहकर रघुभाई चला गया।

'रमा बहन! पहले चित्रकारी करती थीं न? आप उस दिन कह रही थीं?'

'जी हाँ, मैं 'प्रीवियस' में थी तब कुछ शौक था, पीछे छोड़ दिया।'

'क्यों?'

'उसमें मुझे सफलता नहीं मिली। चित्र पर चेहरे के भाव अच्छे नहीं आते थे, बिगड़ जाता था जिससे छोड़ दिया चिढ़ कर।'

'यदि वह भाव अपने अन्दर विकसित करने का अभ्यास करें तो अवश्य आ सकता है।'

'यदि आपको पसंद हो तो फिर प्रारम्भ करूँ।' रमा के मुँह से निकल पड़ा।

'नहीं जी, थैंक्स।' मेरे लिए पसंद और नापसंद क्या?'

रमा के मुँह से आह निकल गई, क्या इन्हें कुछ भी अच्छा नहीं लगता। उसने साहस कर पूछा—'क्या इस नीरस जीवन से आप में अरुचि नहीं उत्पन्न होती?'

शीरीन ने भी यही प्रयत्न किया था किंतु उत्तर कुछ और मिला था।

'मेरे में? इसके विपरीत मुझे अच्छा लगता है। मैं सबको अपने पराये के भ्रमजाल में भ्रमण करते हुए देखकर हँसता हूँ।'

'मैं तो आपको ऐसा हृदयहीन नहीं समझती।'

'तब आपने मुझे पहचाना नहीं। मैं पत्थर हूँ पत्थर! पत्थर भी पिघल जाता है परन्तु मैं·····'

'यदि ऐसा है तो इतनी रसिकता से बातें कैसे करते हैं?'

'आप को खुश करने के लिए।'

जगत का हास्य कितना मधुर है, रमा ने सोचा—'मुझे?'

'हाँ! अच्छा अब मैं जाऊँगा।'

'बैठिए, पिताजी भी आते ही होंगे।'

'नहीं! वहीं जरा मिल लूँ।' कह कर रघुभाई की बैठक का तुरन्त दरवाजा खोलकर वह घुस गया। रघुभाई और श्यामदास धीरे-धीरे कुछ बातचीत कर रहे थे।

'कौन, यही मिस्टर श्यामदास हैं? जिनके सम्बन्ध में आप कह रहे थे वह यहीं हैं?'

रघुभाई को स्वीकार करना ही पड़ा।

'अच्छी तरह से हैं ? देश से आ रहे हैं ?'

'जी नही, रत्न·····हाँ देश से।'

'कहाँ रहते हैं ? यहीं ?'

'गिरगाँव में।'

'आइ सी ! (समझ गया) अच्छा ! मुझे कुछ काम है अब आज्ञा दीजिए।'

श्यामदास के आगमन से जगत के मन में अनेक विचार उत्पन्न हुए। अब तक वातावरण ठंडा था क्योंकि श्यामदास और अमरानंद बम्बई में अनुपस्थित मालूम पड़ते थे जिससे रघुभाई कुछ पंगु-सा हो रहा था। वह इतनी चौकसी से उनकी खोज में रहता था कि बिना उसे मालूम हुए बम्बई में कुछ कर सकना असम्भव-सा था।

घर पहुँचते ही जगत को एक तार अनंतानंद का भेजा हुआ मिला जिसमें केवल इतना ही लिखा था 'आ रहा हूँ।' अनन्तानन्द बम्बई में ! किसी गम्भीर कारण के बिना स्वामीजी रत्नगढ़ नहीं छोड़ सकते थे। जगत संध्या समय बाँदरा गया; उसी समय अनन्तानन्द और दयानन्द आ पहुँचे। दयानन्द नकली वेश में थे। दूर एकान्त में जगत ने एक बंगला ले रखा था। वहीं सब लोग ठहरे।

'जगत ? हम लोग एक अति गम्भीर समाचार लाए हैं।'

'जी हाँ, इसका अनुमान तो आप के बम्बई पधारने से ही मैंने लगा लिया। बात क्या है ?'

'तुम निगमानन्द को तो जानते ही हो ?'

'जी हाँ, लक्ष्मणपुर स्टेट में थे; वही न ?'

'हाँ, उसने बड़ा घोटाला कर डाला है। मुझे ज्ञात होता है कि अमरानन्द के षड्यंत्र में फँस कर उसने अनजान में कई मूर्खतापूर्ण पत्र लिखे हैं। पहले अमरानन्द ने किसी को राजगद्दी पर बैठाने का प्रपंच रचा होगा। उसे अब निगमानन्द के सिर मढ़ दिया है।'

'ऐसा ? तब तो यह स्टेट···'

'इस स्टेट की तो अधिक परवाह नहीं है परन्तु···'

'क्यों ?'

अमरानन्द ने इसके लिए किसी का खून कराया होगा जिसका सब प्रमाण उसके ही पास है। अब अमरानन्द ने 'चीफ' और 'रेसीडेण्ट' को भरा है कि हमारा मण्डल इस खून के लिए उत्तरदायी है।'

'इसका प्रमाण ?'

'किन्तु वे तो···'

'उन सब को अमरानन्द चुरा ले गया है। वह सब कागज-पत्र एवं लक्ष्मण-पुर स्टेट की वस्तु-स्थिति का हाल सेक्रेटेरियट में पहुँचने पर सरकार हमारे मण्डल को तितर-बितर किए बिना चैन नहीं लेगी।'

तीनों एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे।'

जगत ने पूछा, 'अमरानन्द कहाँ है ?'

'यहीं आया होगा, या दो-एक दिन में आवेगा।'

'अच्छी बात है, आप आ गए यह भी ठीक ही हुआ।'

'दूसरा मार्ग था ही नहीं। हमें शीघ्र ही कुछ करना चाहिए, इसी से मैं चला आया।'

'महाराज ! आप दयानंद के साथ यहीं ठहरें। बम्बई में इस समय तीनों कूटनीतिज्ञों का द्वन्द्व-युद्ध चल रहा है। रघुभाई का, अमरानंद का एवं आपका। आपके आने की सूचना मिलते ही उनके सब किए-धरे पर पानी फिर जाएगा।'

'तब ?' दयानन्द ने पूछा।

'बस आप यहीं रहें, थोड़े ही दिनों में मैं सब काम सफलतापूर्वक निर्विघ्न समाप्त कर दूँगा।'

'अच्छी बात है, सिद्धनाथ !' दयानन्द ने कहा।

'किन्तु हमें सूचना देते रहना।'

'अवश्य ! अब मैं जाता हूँ। महाराज ! आपका आशीर्वाद चाहिए।'

अनन्तानन्द ने मुस्कराते हुए उसके सिर पर हाथ रखा। उन्हें जगत पर पूर्ण विश्वास था।

६६

श्यामदास ! तुम मन लगाकर काम नहीं कर रहे हो !' रघुभाई झल्ला कर बोला।

'भाईसाहब ! इससे अधिक और मैं क्या कर सकता हूँ ?' श्यामदास ने आँखें चढ़ा कर कहा, 'आज कितने वर्ष हो गए जरा-सा भी दम तक नहीं लिया।'

'फिर भी तुम्हें सफलता तो अभी तक मिली नहीं !'

'अब तो केवल जान भर देना बाकी रह गया है। भाई साहब ! आपको तो यहाँ बैठे-बैठे जीभ हिलाना है, खुद जाइए तो पता चले।' श्यामदास ने समझ रखा था कि मेरे सिवा रघुभाई को कोई दूसरा व्यक्ति तो मिल नहीं सकता जिससे जो कुछ मुँह में आता बक दिया करता था और रघुभाई को

भी अपनी गरज के कारण सब सहना पड़ता था।

'तब कागज गया कहाँ ?'

'कौन जाने ? मठ में तीन बार अपनी जान पर खेल कर मैंने पता लगाया। दो बार दयानन्द के यहाँ खोज किया। मुझे लगता है कि···'

'क्या ?'

'सिद्धनाथ के पास यह कागज हैं।'

'यह कम्बख्त सिद्धनाथ कोई नया पैदा हुआ। तुम तो कह रहे हो कि वह यहीं है।'

'जी हाँ, किन्तु जब मिलता ही नहीं तो होने से क्या ? अमरानन्द जानते हैं।'

'वह भला कुछ बतावेगा ?' रघुभाई ने सिर हिला कर कहा—

'तब तो भगवान् ही पार लगायेंगे।'

'श्यामदास ! जैसे भी हो पता लगा और आवश्यकता पड़ने पर मार-पीट, लूट, खून करके भी कागज लाना है।'

'मुझे तो कुछ समझ नहीं पड़ रहा है कि मैं क्या करूँ ?' श्यामदास ने निराशा से कहा।

'यह कह देने से काम नहीं चलेगा।' कुछ आवेश से रघुभाई झुंझला उठा।

'चले या न चले, मैं क्या करूँ। उन बाबा लोगों ने तो मेरी जान ही ले ली।' श्यामदास ने भी कुछ चिढ़कर टका सा उत्तर दिया।

'श्यामदास ! तू सोचता है कि मेरे हाथ से तू यह उत्तर देकर निकल जाएगा ?'

'हाँ, हाँ।' खिजला कर श्यामदास बोला।

अपनी क्रूर आँखें श्यामदास पर गड़ा कर रघुभाई बोला, 'गुलाब स्मरण है ?'

श्यामदास उछल पड़ा उसका सब जोश यह नाम सुनते ही ठंडा पड़ गया।

'हाँ, हाँ, आपका दास हूँ, किन्तु गुलाब गई कहाँ ?'

'मुझे क्या पता ? परन्तु समय पर तुझे मिल जाएगी, घबरा मत !'

रघुभाई को वह अब धिक्कार की दृष्टि से देखने लगा। रघुभाई का अत्याचार अब असह्य हो रहा था। उसका बस चलता तो उसे कुचल डालता। परन्तु करे क्या ? रघुभाई को छोड़ दूसरा ठिकाना भी नहीं था इसलिए वह चुपचाप वहाँ से उठ कर चला गया।

रघुभाई अब कुछ चिन्तित हो उठा था। अमरानन्द ने प्रातःकाल कहा

था कि 'मेरे पास लक्ष्मणपुर से कुछ कागज आ गए हैं जिससे अनन्तानन्द का सब षड्यन्त्र पकड़ा जाएगा।' कागज कैसे हैं, रघुभाई को पता नहीं था। किंतु उसने सोचा कि यदि अनन्तानन्द के जन्म के कागज मेरे हाथों में न आए तो अमरानन्द स्वयं अकेला ही बाजी मार ले जाएगा और मेरी जीवन अभिलाषाओं पर पानी फिर जाएगा। उन कागजों के प्राप्त करने पर ही वह अमरानन्द के साथ अथवा अकेले वह कुछ कर सकता है। उसने अमरानन्द को बहुत कुछ समझाया परन्तु वह भी एक घुटा हुआ था उसने रघुभाई की बात को उड़ा दिया और रघुभाई को अपने कागज प्राप्त करने पर ही लक्ष्मणपुर के कागज-पत्रों के सम्बन्ध में कुछ कहने का अपना निश्चय प्रकट किया। रघुभाई ने अन्तिम प्रयत्न करने का निश्चय किया। यह सोचता हुआ वह खिड़की के पास आया। नीचे वाटिका में जगत और रमा दिखाई पड़े।

'मैं कहाँ-कहाँ जाऊँ और क्या-क्या करूँ ?' वह बड़बड़ाया और जगत की ओर उसने देखा, 'यह जामाता हो जाए तो इसकी सहायता लेकर फिर श्यामदास की ओर आँख उठा कर भी न देखूँ। ठीक आज ही पूछता हूँ।'

जगत अभी चला आ रहा था। अब रमा अपने कोमल स्वभाव के कारण अधिक धैर्य नहीं रख पाती थी। जगत का पदचाप सुन कर वह काँप उठी और कान में भायँ-भायँ की आवाज होने लगी। जगत का स्वरूप उसे देवता के समान तेज किरणें फेंकता हुआ सा लगा। उसका मुँह शुष्क हो गया।

'तब आपने चित्र बनाना आरम्भ कर दिया। बहुत अच्छा हुआ। क्या बना रही हैं ?' जगत ने आते ही पूछा।

'अभी हाथ ठीक से सेट नहीं है।'

'हाथ सेट हो जाएगा, मुझे दिखाओ तो, हो सका तो मैं कुछ बता दूँगा।'

'परन्तु आपको भी कहाँ आता है ?'

'हाँ, फिर भी एक दम अनभिज्ञ भी नहीं हूँ मैंने बहुत से पेंटिंग्स देखे हैं।'

'परन्तु···'

'परन्तु क्या ? इस प्रकार शरमाने से भला कुछ सीखा जा सकता है, रमा बहन !'

'रमा बहन' के सम्बोधन से तो अब वह काँप उठती थी।

'नहीं, आपके देखने योग्य नहीं है।'

'वाह ! ऐसी भी कोई बात है ? चलिए भीतर चलिए।'

जब जगत कुछ कहता था तो उसे 'नहीं' कठिन हो जाता था। रमा उठी।

'देखिए, पीछे हँसी मत उड़ाइए !' कहकर भयभीत नयनों से रमा ने जगत को देखा।

'नहीं जी, रघुभाई कहाँ हैं ?'

'ऊपर हैं।'

दोनों भीतर गए।

'यह आपका अध्ययन गृह है ?' जगत की आँखों में उत्सुकता थी।

'जी हाँ आप प्रथम बार आ रहे हैं क्या ?'

'शीरीन से बहुत अच्छा है। उसका कमरा तो ऐसा लगता है जैसे पुरानी पुस्तकों की दूकान।'

रमा को कुढ़न हुई, यहाँ भी शीरीन !

'कौन, रघुभाई ?' आइए रमा बहन ने चित्र बनाया है वही देखने आया हूँ।'

'जी हाँ, आपने उसे उत्तेजन दिया है, यह मुझ से कह रही थी। रघुभाई बोला। जगत के सामने वह ऐसा व्यवहार करता मानों रमा ही उसकी जीवन सर्वस्व हो।

'अरे चार पाँच बनाये हैं क्या ?'

रमा के एक चित्र दिखाया, वह रघुभाई का था। जगत ने सिर हिलाया। दूसरा चित्र कमला का था।

'देखो, यहाँ प्रकाश कुछ कम है अब और एक बड़ी भूल बताऊँ ? कमला चाची के मुँह पर जो भाव होने चाहिये वह नहीं है। चेहरे के भाव ही अच्छे चित्र के लक्षण हैं। यदि मेरा स्मरण ठीक है तो कमला चाची भली, भोली और सीधी-सादी महिमा थीं।' जगत ने आँखें बन्द कर स्मरण करते हुए कहा, 'कभी-कभी मेरे साथ खेलने लगती थीं, यह सब भाव चित्र में व्यक्त होने चाहिए।'

माँ का स्मरण आते ही रमा का हृदय भर गया।

'जगत भाई ! मैं एक पत्र लिखने जा रहा हूँ। यहाँ से खाली होने पर आइयेगा।' कह कर रघुभाई चले गए। तीसरा चित्र किस का था, यह वह जानता था। रमा के दिखाने के समय वहाँ रहना उसे उचित प्रतीत नहीं हुआ। लड़कों को कुछ छूट देना आवश्यक था।

'और यह तीसरा जित्र किसका है ?'

रमा कुछ उत्तर नहीं दे सकी। उसका चेहरा झेंप से लाल हो उठा। ऐसा मालूम पड़ा मानो होंठ ही सिल गए हों। जगत शान्त खड़ा कमला का चित्र इस प्रकार देख रहा था मानों कोई चतुर चित्रकार उसकी परीक्षा कर रहा हो। उसके मन में रघुभाई के यहाँ गुणवन्ती को किस प्रकार रहना पड़ा था, उसका विचार आ रहा था।

'इसे दिखाओ न !'

रमा ने किसी प्रकार उस पर पड़ा हुआ आवरण हटाया। जगत का दृढ़,

प्रभावशाली, शानदार चेहरा उस पर चित्रित था। चित्र की प्रत्येक रेखा-रेखा जगत जैसी थी। उसे देख कर कोई भी जगत का सम्पूर्ण जीवन बता सकता था। जगत का अभिप्राय जानने के लिए रमा स्तम्भित-सी खड़ी थी।

शान्तिपूर्वक, साधारण प्रेक्षक की तटस्थता से, चेहरे पर अथवा आँखों में कोई भी परिवर्तन लाए बिना, भावहीन आवाज में जगत बोला, 'यह अच्छा है ? देखिए, इस चित्र पर भाव है। तुम्हें तीनों के अन्तर की ओर ध्यान देना चाहिए।'

संसार का बड़ा से बड़ा दुःख भी रमा के हृदय को इतना क्षुब्ध नहीं कर सकता था जितना इन शब्दों ने किया। उसकी आँखों के सामने अँधेरा छा गया और ऐसा लगा कि वह गिर जाएगी।

'मैं तो समझता हूँ कि मैं इतना अधिक सुन्दर नहीं हूँ। अच्छा बाकी पीछे देखूंगा, जरा रघुभाई से कुछ काम है।' कह कर जगत वहाँ से चला गया। रमा को मालूम पड़ रहा था मानों हृदय अपना कार्य बन्द कर देगा। एक शब्द उच्चारण करने का भी साहस उसमें नहीं था।

चौथा चित्र जगत ने नहीं देखा; देखा होता तो कदाचित् इसके पीछे के प्रकरण भिन्न रूप से लिखे गए होते। जगत के जाने के पश्चात् रमा कुछ देर तक निश्चल खड़ी रही। उसके हाथ में जगत का चित्र था। कुछ समय तक वह चित्र को ध्यान से देखती रही। तद्पश्चात् एकाएक चित्र को अधरों से लगा कर रख दिया।

'तनमन बहन क्यों इतनी दुःखी थीं, यह अब मैंने समझा। मैं भी इनके बिना मर जाऊँगी।' वह बैठ गई। सामने पड़ा हुआ शैली का काव्य उसने उठा लिया—अकस्मात् जो पृष्ठ खुला उसमें लिखा था—

'मैं तेरी नहीं हूँ बल्कि तेरा एक अंश हूँ।'

'सचमुच ! उनका मैं एक अंश ही तो हूँ। शैली ने कितना ठीक लिखा है ? प्रेम के किस सूक्ष्म भाव का उसने अनुभव नहीं किया है ? सभी तो लिखा है ? ऐसे ही समय ज्ञान होता है; किन्तु यह तो विरागी हैं।' वह जरा हँसी—किन्तु विरागी को रागी तो नहीं बना पाऊँगी ·····नहीं जी सिखाऊँगी। ऋषिगण रानी बन गए तो इनकी क्या ? नहीं तो मैं भी विरागी बन जाऊँगी। दो विरागियों का कैसा राग होता होगा ? मैं भी वैराग्य की साधना करूँगी और उन्हीं की भावना के अनुसार चलूँगी। इनके साथ सभी संसार सरल और सुन्दर लगेगा। विवाहोपरान्त कैसे रहेंगे ? नहीं जी ! अरुण जैसे एक साधारण बालक पर जो इतनी दया रखता है वह मुझ से क्या स्नेह नहीं रखेगा ? मुझे इनके प्रेम की आवश्यकता ही क्या है ? मैं इस योग्य ही कहाँ हूँ ? मैं तो इन के शब्द, इन का हास्य, इनकी आँखों का तेज ही देखते रहना चाहती हूँ।

विवाह के बाद मैं क्या पुकारूँगी ? हाय हाय—'जगत भाई !' कहकर जीभ काट ली।

'अरे कोई दूसरा अच्छा-सा नाम सोचकर निकाल लूँगी।'

इसी प्रकार विचार-मग्न वह बैठी थी कि पास ही में बैठे हुए रघुभाई के उच्च स्वर से चौंककर 'क्या ?' कह उठी। खिड़की से सिर बाहर निकालकर बगल के कमरे में जो बातचीत हो रही थी उसे सुनने का वह प्रयत्न करने लगी। जो कुछ उसने सुना उससे उसका चेहरा फक हो गया, आँखें बाहर निकल आईं। पन्द्रह मिनट तक वह इसी प्रकार पत्थर की मूर्ति-सी खड़ी रही, आँखें स्थिर थीं, जगत का जाना उसने देखा नहीं। विक्षिप्त के समान वह घूमी, आँखों पर उसने हाथ फेरा, दीवार का सहारा लेना चाहा पर चक्कर आने से धड़ाम से जमीन पर गिर पड़ी।

७०

रमा के पास से जब जगत रघुभाई के पास पहुँचा, उस समय वह कुछ लिख रहा था। तुरन्त उसने सिर ऊँचा करके देखा और कहा, 'आइये जगत भाई ! मुझे आपके साथ कुछ बातें करनी हैं।

'मैं उपस्थित हूँ।' स्वस्थतापूर्वक जगत बोला। जगत समझ गया था कि रघुभाई क्या बात करने वाले हैं। जिससे यथाशक्ति उसे न्यूनतम उत्तेजन मिले ऐसा स्वरूप उसने धारण कर लिया था।

'अब तो आप बम्बई-वासी ही हो गए लगते हैं ?'

'जी नहीं, मेरा कोई ठिकाना नहीं है, आप जानते हैं कि मैं निराधार—निराकार हूँ।' कहकर वह कुछ रुक्षता से हँसा।

'तब आधार और आकार कब लाओगे भाई ?'

जगत इस प्रकार गम्भीर बनकर देखने लगा मानो इस प्रश्न का उसने अर्थ ही न समझा हो।

'इतने दिन हो गए कुछ स्थिर होने का विचार कर रहे हो ? रघुभाई ने जगत से उत्तर न मिलने पर पुनः पूछा।

'जिसे आप स्थिरता कहते हैं वह मेरे लिए शायद ही कभी आकर्षक हो।'

रघुभाई चकरा गए। येन-केन-प्रकारेण जगत के मुँह से वह रमा की बात निकलवाना चाहते थे। उसे पूर्ण विश्वास हो गया था कि जगत रमा को प्यार करता है परन्तु स्वयं विवाह की बात क्यों नहीं चलाता ? रघुभाई अपने से कम बुद्धि वाले के साथ बातचीत बड़ी ही होशियारी के साथ करते थे—परंतु कठिन

अनुभव ने बता दिया था कि जब किसी सबल व्यक्ति से सामना पड़ जाता था तब उसकी सारी चतुराई भूल जाया करती थी।

'अच्छा एक बात मुझे पूछनी है।'

'खुशी से पूणिए।'

'रमा अब बड़ी हुई, उसका कुछ ठोर-ठिकाना लगाना चाहिए।'

'अवश्य!' जगत ने शांति से कहा।

'मिस्टर गमनलाल गोरखिया कैसे रहेंगे?'

'जी मैं उन्हें नहीं जानता।'

'बहुत ही अच्छे आदमी है। उनकी ओर से बातचीत आ रही है।'

'यह गमनलाल करते क्या हैं?' बिलकुल ही अनुपेक्षा से जगत ने पूछा।

रघुभाई की छाती पर तो साँप लोट गया।

'शेयरों की दलाली करते हैं।'

'क्या उम्र होगी?'

'यही लगभग पैंतीस वर्ष।'

'पढ़ा लिखा तो होगा नहीं?'

'पढ़ा लिखा वर जाति में है कहाँ?'

यही तो अपनी जाति की विशेषता है। सुरक्षिता कन्या को वर न मिले और शिक्षित वर को कन्या न मिले! तब भी लोग अच्छी सन्तान की आशा करते हैं?'

'ठीक है परन्तु किया भी क्या जाए? अपना कोई वश है?'

'बिलकुल ठीक।' तिरस्कारमय कटाक्ष से जगत ने उत्तर दिया।'

रघुभाई को आश्चर्य हुआ। यह व्यक्ति अपने विवाह की बात तो करता ही नहीं। रघुभाई के मन में जो विश्वास था कि जगत रमा के साथ विवाह करना चाहता है उसमें सन्देह होने लगा।

'गमनलाल तो बातचीत पक्की करने के लिए उधार खाए बैठा है। समझ में नहीं आता कि उसे क्या उत्तर देना चाहिए।'

'इसके लिए भला मैं क्या बताऊं?'

'हाँ, यह तो ठीक हैं। आपकी गमनलाल के साथ रमा की शादी करने में क्या राय है?'

'मेरी? यदि रमा बहन का किसी प्रकार भी विवाह कर देना ही ध्येय हो तो अवसर खराब नहीं है।' बिलकुल ही भावहीन स्वर में जगत ने उत्तर दिया।

रघुभाई की तो बुद्धि कुछ काम ही नहीं कर रही थी। क्या जगत मजाक कर रहा था? इतने दिनों तक साथ रहा, जामाता के समान उसने उसका आदर किया और यह उत्तर?

'तब गमनलाल के साथ ही विवाह निश्चित करदूँ ?' रघुभाई ने अन्तिम प्रश्न किया।

इसी समय रमा का ध्यान इधर आकृष्ट हुआ था और उन दोनों की बातचीत वह ध्यान से सुनने लगी थी।

'अवश्य मुझे भी सूचित करियेगा। रमा बहन के लिए कोई भेंट तो अवश्य ही लाऊंगा।' परिहासपूर्ण कटाक्ष से जगत ने कहा।

'तब आपका विचार तो नहीं है न ?' रघुभाई ने लाचार होकर पूछा।

'क्या ?' बिलकुल निर्दोष भाव प्रकट करते हुए जगत ने रघुभाई की ओर देखा।

'रमा के साथ विवाह करने का ?'

'रमा बहन के साथ विवाह ? मैंने तो पहले ही अपना स्पष्ट उत्तर आप को दे दिया था।'

'आपका इस प्रकार आवागमन देखकर मैंने सोचा कि विचार होगा।' जरा रुखाई से रघुभाई ने कहा। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि जगत ने उसे मूर्ख बनाया अथवा वह स्वयं ही मूर्ख बना।

'मैंने स्वप्न में भी विचार नहीं किया था कि मेरे साधारण आचरण का आप यह अर्थ लेंगे। आप जैसा चतुर व्यक्ति ऐसी धारणा कर सका यह अत्यधिक आश्चर्यप्रद है। मेरा विचार तो बिलकुल है ही नहीं। अच्छा, अब आज्ञा दीजिए, विवाह की सूचना अवश्य दीजियेगा।' अन्तिम प्राणभेदक वाग्बाण मार कर वह उठ खड़ा हुआ। रघुभाई ने भी देखा कि इसकी कुशलता व चतुरता के सामने मिजाज बिगाड़ना व्यर्थ है। वह मन में बड़बड़ाया—'बच्चा ! तुझ से भी समझ लूँगा।'

जगत शान्तिपूर्वक बाहर आया, ऊपर खिड़की में उसने रमा को उदास खड़ी देखा और उसने समझ लिया कि रमा ने अवश्य सब कुछ सुन ही लिया है।

'बहुत अच्छा हुआ, मेरे वैर का विष अब प्रभाव करना आरम्भ करेगा।'

गुरुत्वाकर्षण के नियम के अनुसार जब कोई वस्तु गिरने लगती है तब ज्यों-ज्यों वह ऊपर से नीचे आती है, त्यों-त्यों प्रति क्षण उसका वेग बढ़ता जाता है। जब से प्रतिशोध लेने का जगत ने निश्चय किया तभी से जगत गिरने लगा था, उसकी बुद्धि सर्वग्राही के स्थान पर एकदेशीय बन गई। धीरे-धीरे कठोर परिश्रम के वशीभूत किया हुआ मन स्वतन्त्र रूप से वासना सेवन में लग गया। वैर में, दुःख में, विजय में मन तल्लीन हो गया, वह विश्व नियम का मात्र क्षणिक स्वरूप ही है, इसे वह बिलकुल भूल गया। इस समय वह 'बुद्धि-नाश' हो गया था। एक निर्दोष बाला को निरर्थक सताकर उसके बाप को

सता, वह अपनी माँ के दुःख का बदला है, उसने सोच लिया। अपनी तीक्ष्ण-बुद्धि से उसने देख लिया कि रमा का कोमल हृदय उसके पीछे पागल हो रहा है और उसके विरह से वह टुकड़े-टुकड़े हो जाएगा, रमा का कोमल शरीर ? ठीक ! अब तो केवल बरबादी का तमाशा देखना भर रह गया है।

जगत घर पहुँचा तब अरुण ताश का महल बना रहा था। जगत के स्वभाव में कोमलता आ गई। इस हँसमुख बालक पर उसके हृदय में दया और प्रेम था। जगत को देखकर उसकी चंचल आँखें खिल उठीं।

'भैया जी ! आपका बंगला तैयार हो गया है।' सिर पर के लम्बे बालों को हिलाते हुए अरुण बोला, तैयार और वह उठ कर जगत के पैर से लिपट गया।

'आज जी कैसा है ?'

'भैया ! मैं तो आज बाबाजी के पास जाऊँगा।'

अरुण अनन्तानन्द से मिला था और दूसरों के समान ही उस पर भी बाबा जी का पागलपन सवार हो गया था।

जगत हँसा, 'चलो मैं भी वहीं चल रहा हूँ।'

जगत का मन आज निर्धारित कार्य करने से प्रसन्न था। उसे जड़ भरत की हिरन स्मरण आ गई। आज स्वयं वह उन्हीं में समान माया में लिपट गया था।

बाँदरा पहुँचा, तब अनन्तानन्द कुछ पढ़ रहे थे। अब तक के प्रकृतिमय जीवन से उन्होंने विराम ले लिया था, और उनके बुद्धिमान शिष्य क्या करते हैं केवल इसी पर ध्यान रखते थे। पूरे मण्डल यन्त्रों में से वह निकल गए हों, ऐसा व्यवहार करते थे और अपनी प्रकृति बिना भी मण्डल पूर्ववत् चलता देखकर आनन्द प्राप्त करते थे। यह सब अपने प्रिय शिष्य सिद्धनाथ की बुद्धि-मत्ता से होता हुआ देखकर उन्हें आधिकाधिक आनन्द भी होता था।

'अरे अरुण ! तू कहाँ से ?'

'आप को दण्डवत् करने के लिए !'

अनन्तानन्द ने उसका माथा थपथपाते हुए पूछा—'तेरा भैया कहाँ है ?'

'आ रहे हैं। नीचे दूसरे बाबा हैं न, उन्हीं के साथ बात कर रहे हैं।'

जगत आया।

'कहो, सिद्धनाथ ! कैसा चल रहा है ?' संदिग्ध स्वर में स्वामीजी ने पूछा। उनकी तेजस्वी आँखें जगत पर गड़ी हुई थीं। जगत को इन आँखों के तेज के सामने झुकना अच्छा लगता था स्वामीजी के सम्मुख बालक ही बने रहने की उसकी इच्छा होती।

'सब ठीक है महाराज ! बहुत थोड़े समय में ही आपको सब कागज-पत्र प्राप्त हो जायेंगे, ऐसा मेरा अनुमान है।'

'यह तो मैं जानता हूँ। तेरी कार्य कुशलता में मुझे आस्था है। इन थोड़े महीनों से यहाँ बैठे-बैठे सपूर्ण मण्डल का यन्त्र तू चला रहा है यह देखकर मेरे हर्ष का पारावार नहीं है यदि तूने किसी पाश्चात्य देश में जन्म लिया होता····

'बहुत प्रशंसा कर बिगाड़िए नहीं!' प्रशसा से लज्जित होकर जगत बोला 'मुझमें अभी अनेक दोष हैं।'

'आज यह मण्डल तो तेरे ही सञ्चालन में चल रहा है। इस समय यहाँ यदि अमरानन्द होता तो वह यही समझता कि महत्वाकांक्षा और लोभ से ही तू ऐसी लगन से काम कर रहा है।'

'मेरी अपूर्णता आपसे कहाँ छिपी है? इसीलिए तो कहता हूँ मेरी अधिक प्रशंसा न करें।'

'जानता हूँ!' आँखों में कठोर स्थिरता लाकर स्वामीजी जगत को देखने लगे, 'और मुझे मालूम पड़ता है कि वह अपूर्णता अब बढ़ती ही जा रही है।'

जगत का हृदय खिन्न हो गया। अविज्ञाप्य रूप से अपने व्यवहार के लिए उसे असन्तोष हुआ। उसका आचरण निर्मल, विश्व नियमानुसार है या नहीं, इस सम्बन्ध में कभी-कभी उसके मन में विचार उठा करता था। उसी विचार को इस प्रकार स्वामीजी ने कहा है यह समझकर जगत ने सिर नीचा किए हुए खड़ा रहा। संसार के दूसरे मनुष्यों पर अपना व्यक्तित्व अंकित करने वाला जगत लज्जित हुआ।

'तूने पूर्णरूप से योग-पद प्राप्त नहीं किया है; पाश्चात्य भावना से देखने पर तू भले ही सब पर विजय प्राप्त करने लायक बन गया हो परन्तु हमारे दृष्टि-बिन्दु से जब तक तू उसे प्राप्त नहीं कर लेता तब तक तू अपूर्ण है और हमारी अपूर्णता का अर्थ अधमता है, समझे!' स्वामीजी के शब्दों में हल्की-सी फटकार थी।

'मैं जानता हूँ, स्वामीजी! परन्तु करूँ क्या? इसमें मेरा क्या दोष है? शायद पूर्णता प्राप्त करने के लिए मेरा जन्म ही न हुआ हो।'

'मूर्खतापूर्ण बातें मत कर। पूर्णता सबके लिए है। यह कह कि तेरे में वासना नष्ट कर डालने का साहस नहीं है। मैंने तुझसे 'देवी' का स्मरण-चिन्ह जला देने के लिए कहा था, याद है? देख, अभी भी वह तेरे वक्ष-स्थल पर विराजमान है। तूने अपने भूतकाल को छोड़ा नहीं है. छोड़ेगा नहीं तो परिणाम भी भयंकर होगा। पर्वत पर से फिसलने पर मनुष्य की हड्डी पसली का भी पता नहीं चलता! तू साधारण मनुष्य के सरल मार्ग पर नहीं है कि गिरने से केवल घुटने छिल जाएँगे।'

जगत अपना सिर ऊपर नहीं उठा सका।

'यह बात बहुत दिनों बाद सत्य प्रमाणित होगी। अनुभव तुझे बताएगा

तो भी फिर एक बार मैं तुझसे कहता हूँ; सिद्धनाथ ! दो बातों से सावधान रहना ! वैराग्य का अभिमान और उससे उत्पन्न कठोरता। इस महामारी ने बड़े-बड़े महात्माओं की महत्ता को नष्ट कर डाला है। इस कठोर शुष्कता की अपेक्षा थोड़ा-बहुत राग भी अच्छा। मैं तुझसे कह चुका हूँ कि सिद्धनाथ जिस दिन तू संसाराश्रम में प्रवेश करेगा उसी दिन तू मण्डल का सच्चा नायक बनेगा, याद है ?'

'महाराज ! आप किसलिए मुझे रागी बनने के लिए कह रहे हैं ? अरुचिकर वस्तु की शिक्षा देकर क्यों मुझे संन्यासी होने से रोक रहे हैं ?'

'क्योंकि तू संन्यासी बनने की आशा से नहीं बल्कि अपनी 'देवी' की स्मृति सुरक्षित रखने के लिए विवाह को अस्वीकार करता है। अर्थात् वैराग्य के लिए तू राग से दूर रहना चाहता है, यह बात नहीं है, बल्कि अपने स्वार्थ-साधन के लिए तू ऐसा कर रहा है।'

स्वामीजी समझाने लगे जगत लज्जित हुआ, 'लक्ष्य पूर्ण होगा, अभी भी समय है। किन्तु अपने मण्डल का काम एकान्तवासी जैन साधुओं के समान शिक्षा देकर दूर रहने का नहीं है बल्कि जीवन की चेतन और सजीव भावना, गृहस्थ वैरागी की और कर्मयोग की महान् उच्च भावना समाज में भरनी, है। स्त्री-पुरुषों को सुन्दर, सुशिक्षित होने के साथ-ही-साथ कर्मयोगी भी होना चाहिए; मेरे मण्डल से ऐसी ही आदर्श प्रतिमायें निकलें, ऐसी मेरी आन्तरिक इच्छा है। बहुत ठीक ! इतने जोर से सिर हिलाने की आवश्यकता नहीं है। तू भी मेरे इन वाक्यों का अर्थ किसी दिन अवश्य समझेगा ! भारत के इतिहास काल में संन्यासियों ने अनेकों बार देश का उद्धार किया है परन्तु थोड़े समय के लिए ही ! अब गृहस्थ संन्यासियों का प्रयोग करना है। स्त्रियों का सहयोग मिले बिना उद्धार अस्वाभाविक है। मैं स्वयं प्राग्कालीन जीवन व्यतीत कर रहा हूँ पर 'डार्विन और न्यूटन पढ़ने का लाभ मुझे मिला है। जन-समाज की शारीरिक प्रगति विश्व-नियम का प्रथम पाठ है।'

७१

जगत कालबा देवी से होकर जा रहा था, एकाएक सामने से उसे श्यामदास मिल गया।

'ओहो, श्यामदास ! अच्छी तरह से तो हो ?' जगत ने पूछा। शब्दों में भाव था पर उसके स्वर एवं चेहरे से तिरस्कारपूर्ण स्वरूप से प्रकट हो रहा था।

'अच्छी तरह से हूँ ! आप···'

'भूल गए ? रघुभाई के यहाँ मिले थे।'

'ओह हाँ याद आ गया !' श्यामदास जगत की तेजस्वी आँखों के तिरस्कार के सामने जरा काँपता हुआ बोला।

'तुम्हें एक सूचना देनी थी, बाँदरा में एक व्यक्ति मिले थे जो तुम्हारे बारे में पूछ रहे थे।' मानों कोई साधारण बात कह रहा हो, इस प्रकार जगत से थोड़ी बात-चीत के पश्चात् कहा।

मेरे बारे में ? कौन ? जी नहीं, आप भूलते होंगे।'

'सिद्धनाथ नाम का एक बाबा हैं; वही पूछ रहा था।'

यह नाम सुनकर श्यामदास ऐसा चौंक उठा जैसे बिजली गिरी हो। जगत के चेहरे से किसी प्रकार का भाव व्यक्त नहीं हो रहा था।

'अच्छा हाँ !' थोड़ी देर में श्यामदास बोला, 'पहले हम साथी थे, कहाँ मिला था ?'

'बाँदरा में !'

'वहीं रहता है क्या ?'

'हाँ, बिल्कुल अन्त में घोष्ट हाऊस नामक समुद्र के किनारे एक बँगला है, उसी में रहता है।'

'अच्छा !' श्यामदास के हर्ष का ठिकाना न रहा, उसे किसी प्रकार छिपाने के लिए वह तुरन्त आज्ञा लेकर चल पड़ा।' अच्छा, प्रणाम !'

'नमस्कार !: प्रत्युत्तर में कहकर जगत भी चल पड़ा, केवल 'साथी' शब्द ही उसके मुँह से निकला आखिर सिद्धनाथ के निवास-स्थान का पता चल ही गया। श्यामदास की इच्छा सड़क पर नाचने की हुई। पगड़ी उतार कर उछालने का मन हुआ। अब रघुभाई प्रसन्न हो जाएगा और दासता से छुट-कारा मिलेगा। यदि सिद्धनाथ के पास कागज हुआ तो बाँदरा जाने भर की देर है। आज वर्षों से जिसके लिए जी-जान से परिश्रम कर रहा था, वह अचानक मिल गया। कूदता हुआ वह घर पहुँचा।

घर पर अमरानन्द उसकी बाट जोहता हुआ बैठा था। सदैव के समान हँसकर दो-चार बातें करने के पश्चात् अमरानन्द बोला, 'श्यामदास दोस्त ? तुम्हारे लिए एक काम आ पड़ा है।'

'सेवक तैयार है।'

'मजाक छोड़ ?'

'काम क्या ?'

'देखो, षड्यंत्रकारियों के हृदय आपस में शुद्ध और एक होने चाहिएँ, इति श्रीमान् अमरानन्द सरस्वती ?' जरा हँसते हुए अमरानन्द ने कहा,

'रघुभाई का वेद भिन्न है। अपनी बात थोड़े में कहता हूँ, अनन्तानन्द के कुछ कागजों की रघुभाई को आवश्यकता है जिसके लिए तुम्हें इधर-उधर मारा मारा फिरना पड़ रहा है।'

'जी हाँ !'

'मैं बताऊँ वह कहाँ हैं ?'

'जी हाँ बताइए।'

'सिद्धनाथ के पास हैं।'

'ऐसा ?'

'हाँ ! देखो श्यामदास ! वह कागज मुझे चाहिये। ला कर मुझे दो और मुँह माँगा पुरस्कार मैं तुम्हें दूँगा।' गम्भीरता से स्वामी ने कहा।

श्यामदास को यह मालूम नहीं था कि उन कागजों में क्या है परन्तु अमरानन्द का उद्देश्य स्वयं अनन्त मंडल का नेता बनकर सब कुछ हथियाना ही है या और कुछ भी करने के पूर्व सब भेद जान लेने का उसका संकल्प था; ऐसा उसे मालूम पड़ा।

'किन्तु आप और रघुभाई तो एक ही हैं न ?'

'यह तुमसे किसने कहा ? लड़कों जैसी बातें मत करो। पागल हो क्या ? बोलो. क्या विचार है ? हाँ या ना ?'

श्यामदास ने सोचा कि दो उस्तादों के बीच में फँसना ठीक नहीं।

'किन्तु सिद्धनाथ है कहाँ ? उसी के खोज में तो घूम रहा हूँ।'

'मुझे पता है।'

'तब आप स्वयं ही क्यों नहीं ले आते ?'

'अरे ओ भाई ? जरा मेरे घुटे हुए सिर की ओर तो नजर कर। मुझ से ऐसा हो सकता है ?' अमरानन्द चिड़चिड़ाया।

'तब मेरा सहयोग लेने आये हैं ?' जरा उपेक्षा दिखाते हुए श्यामदास ने कहा।

'देखो ? संसार में कुछ लोग उपयोग करने के लिये जन्म लेते हैं और अपना उपयोग दूसरों द्वारा कराने के लिये। तू देखता नहीं कि तू दूसरी श्रेणी का है ? संशय हो तो जा कर रघुभाई से पूछ ले।'

'यदि स्वीकार कर लूँ तो क्या मिलेगा ?'

'अभी पाँच सौ, कागज मिलने पर दस हजार तथा उसका उपयोग करने के पश्चात् और दस हजार।'

'श्यामदास आश्चर्यचकित था। रघुभाई की दासता से यह सौदा क्या बुरा है ? किन्तु सौदा पटाने के लिये वह उपेक्षा ही दिखाता रहा, 'नहीं महाराज ? क्षमा कीजिये, मेरे लिए तो रघुभाई ही अच्छे हैं।'

'श्यामदास ! अपनी सफाई रहने दो। रघुभाई तुम्हें पाँच सौ दमड़ी भी देने वाला नहीं है। साथ ही तुम्हें मेरी स्थिति का भी ज्ञान नहीं है।'

'जी नहीं !'

उन कागजों के विना भी मेरा काम चल सकता है। मेरे पास जो कागज हैं उनके अलावा और मिल जायें तो अच्छा ही है अन्यथा जो प्रमाण मेरे पास हैं उसका उपयोग करना आरम्भ करूँगा। तब तुम्हारी और तुम्हारे रघुभाई की सारी योजनाएँ धूल में मिल जायेंगी। बोलो क्या रिचार है ?' इस प्रकार अमरानन्द बोला मानो उठने की तैयारी कर रहा हो।

'अच्छा ! हजार कर दीजिए।'

'चल, चल, कुँजड़ों की हाट है क्या जो भाव-ताव कर रहा है !' सूरती चाल से हाव भाव दिखला कर अमरानन्द बोला, 'यह शर्त स्वीकार हो तो ठीक वरना एक साधु के पास से कागज चुराकर मंगवाने के लिए क्या बम्बई में मुझे आदमी की कमी है ?' अमरानन्द लुच्चेपन में भी पटु था। स्वामी जी के शिक्षण ने उसकी आँख तो अवश्य ही खोल दी थीं परन्तु फिर भी वह अपनी महत्वाकाँक्षा पूर्ण करने के लिए सभी उपायों का अवलम्बन करने के लिए तैयार हो जाता था। श्यामदास वशीभूत हो गया।

'अच्छा स्वामी जी ऐसा कीजिए कि मेरा परिश्रम देखकर बढ़ाइयेगा।'

'अच्छा. देखूंगा ! परन्तु याद रखना यदि जरा भी धोखेवाजी की तो फिर अपने आप को मृत ही समझ लेना। मैं रघुभाई नहीं हूँ—अनन्तानन्द का शिष्य हूँ।

'और उन्हीं का सर्वनाश करने के लिए तुले बैठे हुए हैं ?' हँसी में श्याम दास बोला।

'मैं और कुछ नहीं सिर्फ भीष्म बनकर परशुराम का घमण्ड चूर करना चाहता हूँ। जब गुरू गुड़ और चेला चीनी बने तो तारीफ है। लो यह रुपया कहकर अमरानन्द ने पाँच सौ के नोट निकालकर उसके हाथों में रख दिए।

'मैं तुम्हारा शरीर मन एवं आत्मा सब खरीद रहा हूँ, समझे ?' जरा हास्यजनक अभिनय करता हुआ वह बोला। मुस्कराया, दो-चार हँसी मजाक किए सिद्धनाथ का बाँदरा का पता बताया और वहाँ से चलता बना।

श्यामदास इस किल-किल से थक गया था। रघुभाई की कृपा के आधार पर जीवन व्यतीत करना, उस के आदेशानुसार जहाँ-तहाँ दौड़ना, यह सब उसे दुःखद प्रतीत होता था। ऊपर से इन दो उस्तादों के खेल में उसके छोटे से तूफानी हठी जीवन को कुछ समझ नहीं पड़ता था। यदि खुले मैदान में खड़े होकर अनन्तानन्द को गाली देना होता तब तो उसके सामने कोई खड़ा नहीं हो सकता था परन्तु दूसरे की पकड़ में आए बिना, चुपचाप, शान्तिपूर्वक

अगम्य आसुरी चौसर का पासा बन जाना उसे थका डालता था। कभी-कभी सूरत के स्वतन्त्र दिवस स्मरण आ जाते थे फिर म्यूनिसिपैल्टी के चेयरमैन तथा मेम्बरों के बाप की तेरहवीं का प्रबन्ध कर 'प्रोमीशन' प्राप्त करने की इच्छा होती। अफसोस अब बुढ़ापा आ गया था और रघुभाई ने उसे ऐसे शिकञ्जों में जकड़ रखा था कि उससे छुटकारा पाने का उपाय उसे सूझ नहीं रहा था। कभी गुलाब स्मरण आ जाती परन्तु उसके लिये उसे किसी प्रकार का शोक या दुःख नहीं था। वह स्वयं एक बला से छुटकारा पा गया था ; स्वप्न में दो-एक बार एक कोमल सुन्दर बालक का मुख दिखाई पड़ता था, परन्तु उसके राक्षसी स्वभाव में पुत्र-प्रेम के लिए कोई स्थान नहीं था।

थोड़ी देर पश्चात् अपनी कोठरी की ओर आता हुआ किसी का पद-चाप सुनाई दिया उससे मिलने वालों की संख्या इतनी कम थी कि उसे अचम्भा हुआ। दूसरे ही क्षण दरवाजे में रघुभाई खड़े दिखाई दिये। देखकर श्यामदास तो घबरा गया। नीति-निपुण, इज्जतदार रघुभाई यहाँ !

ओहो हो ! रघुभाई साहब !' हँसकर श्यामदास ने उसका स्वागत किया; दूसरे ही क्षण उसे विचार आया कि बिना कोई आवश्यक कार्य के रघुभाई आने वाला नहीं है। 'मेरे घर आप ?'

'क्यों न आऊँ ?' मुस्कराहट के साथ रघुभाई बोला। अपनी गरज के समय वह इतना विनयी बन जाता था कि दूसरों के लिए वैसा बिल्कुल असम्भव है।

'एक आवश्यक काम है।'

'क्या है ?' कटुतापूर्ण स्वर में श्यामदास ने पूछा।

'देखो श्यामदास ! हम लोगों के सब परिश्रम पर पानी फिरना चाहता है।' अब केवल एक अन्तिम प्रयत्न बाकी रह गया है, इसे कर डालो तभी हमारी पौ बारह होगी।'

'हम लोगों की नहीं कहिए केवल आपकी !'

'हम क्या दो हैं ? देखो, अब सिद्धनाथ का पचड़ा जाने दो।'

'क्यों ? हार मान बैठे क्या ?'

रघुभाई इन शब्दों से कुछ उत्तेजित हो उठा परन्तु करे क्या ? गरजवश, कहावत है कि, किसे क्या नहीं सहना पड़ता ! 'नहीं, पर वह न जाने कहाँ हैं ?'

'तब क्या करना है ?'

'एक दूसरा उपाय है। अमरानन्द के पास कुछ कागज पत्र हैं उन्हें झटक ले आ ; बस हमारा काम बन जाएगा।'

'रघुभाई ! मैंने आप से कहा नहीं था कि आप की गधा-पच्चीसी से तंग आ गया हूँ।'

'देखो श्यामदास ? मेरा निर्धारित काम होने दो, पीछे जीवन भर आनन्द करना।'

'कौन जाने कब होगा ?' निराशा का अभिनय करते हुए श्यामदास बोला।

'कल प्रातः तू काम में हाथ तो लगा। देखो, मेरा स्वभाव जरा उग्र है जिससे मुँह से कुछ निकल जाता है। लो तुम्हें आवश्यकता हो तो कुछ दूँ।' कहकर उसने सौ रुपये का एक नोट निकाला। रघुभाई के स्वभाव से परिचित होने से यह उदारता अद्भुत लगी। यदि अमरानन्द से पाँच सौ रुपया पन्द्रह मिनट पहले नहीं मिला होता तो यह एक सौ का नोट देखकर श्यामदास तो पागल हो गया होता। वह अस्वीकार करने जा रहा था कि एकाएक एक विचार आ गया। यह तो पक्के धूर्त उसके परिश्रम से बड़े होना चाहते हैं तो वह स्वयं इन दोनों को क्यों न गाय की तरह दुहे, यह विचार आते ही उसने भाव बदल कर हर्षित हो कहा—'अरे ? आप क्या कह रहे हैं रघुभाई ? आप मुझे प्रति मास पचास रुपये देते हैं फिर यह क्या ? आपका ही दिया हुआ खाता हूँ। बताइए कागज कैसा है ?'

रघुभाई बाग-बाग हो गया, बिना पैसे श्यामदास काम करने के लिए तत्पर हो तो रुपया देने से लाभ ?

'लो अपने इस महीने के पचास रुपया तो लो।' कहकर रघुभाई ने सौ का नोट जेब में रखकर पचास रुपये गिन दिये। तत्पश्चात् कागज के सम्बन्ध में थोडा-बहुत बताया। थोड़ी देर बाद रघुभाई के चले जाने पर श्यामदास बड़-बड़ाया, कम्बख्त ? सौ रुपया भी जी से नहीं छूटा ? बच्चा श्यामदास ? अब रंग जमा है। दोनों कागज हाथ में आ जाने दो तब देखूँगा कि कौन अधिक देता है ? नहीं तो कागज से ही यदि रत्नगढ़ मिलता हो तो स्वयं मैं ही क्यों न उसे ले लूँ ? साली अँग्रेजी में कच्चा रह गया नहीं तो·····'

'नहीं तो वह क्या कर डालता' यह पेट में ही रह गया। श्यामदास ने बीड़ी जलाकर, सिनेमा का एक बीभत्स गाना गाया, खाँस कर गला साफ किया और घूमने के लिए बाहर निकल पड़ा।

७२

जगत की नियमित काम करने की नित्य-प्रवृति तथा दक्षता ऐसी अच्छी थी कि सम्पूर्ण मण्डल का भार बहुत कुछ सिर पर आ पड़ने पर भी थोड़ा समय इधर-उधर के साधारण कामों में भी वह व्यतीत कर सकता था। शीरीन तथा उसके पिता प्रायः आया करते थे। उनके साथ अनेक विषयों पर

चर्चा होती। शीरीन का स्वभाव बुद्धि-प्रधान था। साधारण स्त्री के जैसे अन्तर्वेग तथा लज्जालु विचारों से वह अपरिचित थी और पारसी संसार के स्वातांत्र्य से उसका दृष्टि विन्दु पुरुष वर्ग से अधिक भिन्न नहीं था। जगत के प्रति उसका मन एवं स्नेह बढ़ता जा रहा था किन्तु उसका भाव शिष्य और गुरु सदृश था। कभी-कभी शीरीन हृदय की बेचैनी का अनुभव करती परन्तु इसका कारण जानने का प्रयत्न उसका दृढ़ मन कभी नहीं करता था।

केकोवाद वकील के विवाह की 'गोल्डन जुवली' मनाने का प्रसंग आया। इस अवसर पर एक वृहत् सम्मेलन करने का विचार निश्चित हुआ था और मिस्टर वकील ने अपने उदार हाथ को हमेशा की अपेक्षा और अधिक स्वतंत्रता दे दी थी, उनका सुन्दर विशाल उपवन रंग-विरंगी विजली के बल्व और पताकाओं से सजाया गया था। संध्या होते ही अतिथिगण आने लगे, एक प्रसिद्ध 'फिल्मी बैंड' ने संगीत के मृदु स्वर से वातावरण में रस का संचार करना प्रारम्भ कर दिया। मिस्टर वकील ने निमन्त्रण वहुत लोगों को दिया था जिससे थोड़े ही समय में अत्यधिक अभ्यागत एकत्र हो गए और जगह-जगह पर ग्रुप वनाकर हँस बोलकर स्त्री-पुरुष इस अवसर का समुचित लाभ उठाने लगे।

इन सव में शीरीन का कार्य-भार अत्यधिक था। स्त्रियों के साथ उसकी अधिक वनती नहीं थी। पाउडर का पुट तथा मोरपंख जैसी रंग-विरंगी साड़ियों के प्रति उसकी अनहद अपेक्षा को परिचित स्त्रियाँ सभी जानती थीं और बुद्धि में उनसे इतनी बढ़चढ़ थी कि उनसे यदि उसकी न पटे तो कोई आश्चर्य नहीं। परन्तु पुरुषों में वह अत्यधिक लोकप्रिय थी। कितने ही मण्डलों में वह 'सफ्रेजेट' के नाम से प्रख्यात थी और दुष्ट मति, उपहासक अथवा बुद्धिहीन, घमण्डी मास्टर को छोड़ सभी उसके साथ स्नेह पूर्वक वार्तालाप करते थे। वह चारों ओर घूमती हुई किसी से हाथ मिलाती, किसी से कुशल समाचार पूछती और किसी के साथ वाद-विवाद में भाग लेती। केवल थोड़ी-थोड़ी देर पर उसकी दृष्टि अनजाने ही दरवाज की ओर जाया करती थी।

थोड़ी देर पश्चात् रघुभाई के साथ रमा आई। मिस्टर वकील हिन्दू मित्रों को भी भूले नहीं थे। शीरीन उनका स्वागत करने के लिए दौड पड़ी। इस कार्य में व्यस्त होने से कुछ दिनों से रमा को मिल नहीं सकी थी। रमा को देखकर शीरीन को अपना अपराध याद आया, आज कितने ही दिनों से अपनी प्रिय सखी से मिलने की आवश्यकता भी उसने नहीं समझी थी और रमा? शीरीन उसे पहचान भी नहीं सकी। उसके चेहरे की कांति समाप्त हो गई थी। आँखें बड़ी-बड़ी और दीन लगती थीं, ललाट सुन्दर आकर्षक वाल वेतरतीव से बँधे हुए थे। चाल में जरा संकोच दिखाई पड़ता था। शीरीन ने दोनों हाथ पकड़ कर कहा—'रमा डियर? यह क्या? बीमार हो क्या?'

रघुभाई रमा को वहीं छोड़ और उसकी ओर कुछ भी ध्यान न दे मिस्टर वकील के पास चले गये। जगत के जवाब देने के पश्चात् पिता-पुत्री में इस विषय में कुछ भी बातचीत नहीं हुई परन्तु रघुभाई समझ गये कि रमा ने जगत का उत्तर सुन लिया है। इस ओर विशेष ध्यान देना उसने आवश्यक नहीं समझा। 'लड़की का भाग्य' कहकर संतोष कर लिया।

'नहीं मुझे क्या हुआ है ? कुछ भी नहीं।' खाँस कर रमा ने उत्तर दिया। आवाज धीमी एवं हृदय विदारक थी।

'कुछ नहीं ? झूठी ! ठीक है कल तुमसे समझूँगी। किन्तु रमा ! ये रूप देखने लायक है। हमारी पारसिनों में दौड़ा-दौड़ शुरू हो जाएगी। मैं यदि पुरुष होती तो .....'

'क्या, करती ?'

'तो पत्नी ढूँढ निकालना कठिन नहीं होता।'

इस निर्दोष हँसी ने रमा के कांतिहीन गाल पर लाली ला दी; आँखों में अश्रु बिन्दु चमक उठे।

इतने में दूसरे अतिथि का सत्कार करने के लिए रमा को छोड़ शीरीन चली गई। उसी समय मिस्टर वकील मिले, उन्होंने पूछा—शीरीन ! तुम्हारे मास्टर साहब कहाँ हैं ?'

वह जरा रस पूर्वक हँस कर बोली—अभी राजाबाई टावर में नौ न बजा होगा।'

शीरीन का कथन सच था। उसकी हॉल की घड़ी में नौ का टन-टन होते ही जगत आ पहुँचा। बहुत से लोग उसे देखने के लिए घूम पड़े। उसके सुन्दर चेहरे का प्रभाव, आँखों में चमकता हुआ सर्वग्राही तीक्ष्ण, तेज, सुगठित सशक्त शरीर पर सुशोभित सादे कपड़े का प्रभाव कहीं भी लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर सकता था। दिन को भी लज्जित करने वाला बिजली का प्रकाश जगत के स्वाभाविक आकर्षण को द्विगुणित कर रहा था। इतने धनी शानदार जन-समूह में अपने व्यक्तित्व के कारण वह सबसे विशिष्ट, उच्चकोटि का दिखाई पड़ रहा था। स्वस्थ सत्ता का अवतार जैसा। लोग उसे देखते और बिना पूछे ही उसका स्वामित्व स्वीकार करते।

वह आया और सबकी दृष्टि उसी ओर उठ गई। दौड़ती हुई आकर शीरीन ने कहा, 'मास्टर साहब ! आप आ गये !'

जगत हँसा, अन्धकार में सूर्य रश्मि पड़ने के समान उसका हास्य दीप्त हो उठा—'क्यों मेरे आने की आशा छोड़ दी थी क्या ?'

'आशा छोड़ देती ? आप न आते तो मैं स्वयं आने का विचार कर रही थी।'

'थैंक्स' जरा निःस्नेह पूर्ण आवाज में जगत ने कहा।

वकील से 'शेक हैड' कर रघुभाई से वह बड़े ही आदर के साथ मिला, पश्चात् रमा के पास चला गया। रमा एक पारसी स्त्री से बात कर रही थी। जगत को अपनी ओर आते हुए देखकर घबरा उठी—बैठ जाने की इच्छा हुई। उस दिन के पश्चात् जगत रमा से आज ही मिल रहा था। उसका दीनता पूर्ण मुँह देखकर उसे दया आ गई; परन्तु शैतान अपना स्वार्थ साधन करने के लिए शास्त्र पढ़े, उसी प्रकार वह मन में बोला, 'वीत-राग भय क्रोध, मुझे राग कैसा ? भय क्यों ?'

'कहो रमा बहन ! अच्छा तरह तो हो ?'

'जी हाँ !' रमा ने नीचे देखते हुए कहा।

'ऐसी उदास क्यों हो ? बड़े ही आर्द्र स्वर में जगत ने पूछा। प्रत्येक शब्द रमा के कोमल हृदय के टुकड़े-टुकड़े किए डाल रहा था; जगत का तात्पर्य यही था; मैं समझता हूँ आपको कुछ ज्वर आ रहा है। इस खुली जगह में अधिक न घूमे फिरें, नहीं तो सर्दी लग जाएगी।'

रमा कुछ बोली नहीं किन्तु उसकी दीन, बड़ी-बड़ी आँखों में कटाक्ष पूर्ण प्रेम अमोघ प्राबल्य पूर्ण तेज प्रकट हुआ 'मरणासन्न भक्त का यह अन्तिम अर्घ्य था। जब चाण्डाल की चाकरी करते समय हरिश्चन्द्र ने अपनी अर्धांगिनी मारने के लिए खड्ग उठाया था उस समय तारामति ने सम्भवतः इसी प्रकार देखा होगा।

जगत लौटा। रमा पास में ही पड़ी हुई एक कुर्सी पर बैठ गई। सिर नीचे झुक गया। मन्द पवन में गुलदावदी जिस प्रकार झुकती है उसी प्रकार उसने अपना छोटा सुन्दर सिर अपने हाथ पर झुका लिया। बड़े परिश्रम से चित्त को शान्त कर सिर ऊपर उठाया। दूर पर जगत को बात करते हुए देखकर वह घबड़ा गई, कहाँ ये और कहाँ मैं इनका क्या दोष मैं ही मूर्ख हूँ। हे भगवान् !'

जगत अपने मित्रों से बातचीत करता हुआ इधर-उधर घूम रहा था। मिस्टर वकील के बहुत से मित्र उसे पहिचानते थे परन्तु अभी तक उसका कोई प्रगाढ़ मित्र नहीं बना था। मनुष्य एक बार मित्रता करने के बाद उन सम्बन्धों को प्रगाढ़तर बनाना चाहता है। किन्तु जगत के सम्बन्ध में यह बात चरितार्थ नहीं होती थी। यदि कोई मित्र साधारण सम्बन्ध उपरान्त व्यवहार रखने के लिए अग्रसर होता तो जगत दृढ़ता से उसे दूर कर देता और अपमानित मित्र क्षुब्ध होकर दूर हट जाता। फिर भी उसे अपना मित्र समझने वालों की संख्या कम न थी। इन सबसे मिलकर जगत दूर जाकर बैंड का संगीत सुनने लगा। संगीत रसदायक था; ध्वनि में अनुभव का साक्षात्कार कराने की शक्ति थी। मन में पवन का सीत्कार हुआ वहाँ से स्वरों ने उछलकर

समुद्र तरंगों को गगन विहार का बोध कराया। अचानक मानों प्रलय काल शान्त पड़ गया हो, ठीक उसी प्रकार स्वर दबे, नीचे पड़े और विषाद का वातावरण फैल गया, दुःख में असीम निर्जनता में रो उठे मानों हिचकी बँध गई—और संगीत रुक गया। जगत इन स्वरों के सुन्दर लय में तल्लीन हो गया था, उसकी तन्मयता भंग हुई। अभी-अभी उसे अपने प्राचीन स्वभाव की रसिकता का पुनः दर्शन हुआ था। अनजान में विचार ने भूतकाल के रमणीय प्रदेश में विचरण किया। मन में प्रियतमा की दैवी मूर्ति खड़ी हो गई। उसने चारों ओर दृष्टि दौड़ाई; इतने जनसमूह में एक चेहरा भी ऐसा न था, एक शरीर-रेखा भी ऐसी नहीं थी जो उसकी 'देवी' की रम्य मनोहर मूर्ति की तुलना कर सकती ? शीरीन कुछ दूर पर खड़ी थी; उसका साधारण परन्तु चंचल और गौरवपूर्ण चेहरा, सुदृढ़, सुन्दर शरीर और सीधा पौरुषेय व्यवहार आकर्षक था। बिलकुल दरवाजे के पास रमा दिखाई दी। उसके कोमल मुख पर लावण्य, माधुर्य, पुरुषों की कान्ति सुशोभित थी, उसकी शरीर-लता हँस गति से हिलती परन्तु तनमन का उज्ज्वल दीप्त सौन्दर्य और श्रेष्ठ अपूर्वता का अंश किसी में नहीं था। जगत ने एक दीर्घ श्वाँस लिया। तुरन्त ज्ञान हुआ मन को वश में किया। अब 'देवी' कहाँ ? सदैव भूतकाल का भूत क्या लगा रहेगा ?

'कहिए मास्टर जी ! किस गम्भीर विचार में लीन हैं ?' शीरीन का कण्ठ-स्वर सुनाई दिया।

'कुछ नहीं, मैं तो संगीत सुन रहा था।'

अच्छा, आपने कुछ लिया ? शीरीन ने पूछा।

'नहीं, मुझे आवश्यकता नहीं है।'

'बड़े दुःख की बात है जगतराय जी ! क्या इसी के लिए एकान्त में घूम रहे थे। मेरे यहाँ भी आप ऐसा सोचते हैं ? क्या चाहिये ?'

'जो आप चाहें ! पाव-रोटी पर्याप्त होगी।'

'नानबाई के यहाँ की सूखी रोटी ! आपकी स्वाद वृत्ति के लिए धिक्कार ! बॉय, आइसक्रीम !'

'शीरीन बाई ! आप को यह संगीत अच्छा नहीं लगता ? अभी-अभी जो धुन इन्होंने बजाई वह सुनने लायक थी।' कह कर बॉय को आइसक्रीम ही ले आने को कहा।

'मैं तो 'स्टुपिड' हूँ। अच्छे संगीत के समय मेरे कान काम ही नहीं करते।'

'मैं अबोधगम्य को अच्छा नहीं कहता। संगीत काव्य का जो कुछ हो वह अच्छा, हमारे हृदय-सागर को केवल उत्तेजित और शान्त करने की शक्ति

उसमें होनी चाहिये। वीणा जिस प्रकार सर्प को नचाती है वैसे ही हमारे हृदय को जो उद्वेलित कर सके वही सच्चा संगीत है।'

'मास्टर जी!' साहसपूर्वक शीरीन बोली, 'अच्छा बताइये गत 'ट्यून' के समय आप क्या सोच रहे थे? सच-सच बताइयेगा!'

अचिंत्य रेखायें जगत के उच्च ललाट पर पड़ गईं, 'शीरीन! कितने ही विचार ऐसे होते हैं जो व्यक्त नहीं किये जा सकते।'

जगत ने प्रथम बार उसके नाम के पूर्व 'बाई' अथवा 'मिस' लगाये बिना सम्बोधन किया।

'आप क्या सोच रहे थे मैं बताऊँ?

'हाँ हाँ बताइये!'

'आप सोच रहे थे कि यह वैराग्य का पूछल्ला न पकड़ा होता तो अधिक अच्छा हुआ होता, बताइये ठीक है या नहीं?'

जगत ने मुस्कराकर कहा, 'आधा ठीक और आधा गलत। बहुधा पर्दा हटाने में कुछ लाभ नहीं रहता शीरीन! आपका काम अभी अपूर्ण रह गया है, देखिए मिस्टर वकील बुला रहे हैं।

शीरीन ने उसकी ओर मार्मिक दृष्टि से देखा। जगत उसे हटाना चाहता था परन्तु जगत के अन्तिम दो एक वाक्यों ने उसके हृदय पर पड़े हुए पट को चीर कर उसे सच्चे स्त्री-स्वरूप में ला पटका था। उसे अपने शरीर के चारों ओर दाहल वातावरण-सा लगा। उसकी विशाल उज्ज्वल आँखों ने जगत के चेहरे को ईश्वरीय रूप धारण करते हुए देखा। दृष्टि उसके वक्षःस्थल पर, शरीर पर पड़ी, कल्पना ने जगत के वस्त्रों को चीर कर उसका वक्षःस्थल, उसके सबल बाहुओं को अपनी आँखों में सामने नाचते हुए देखा। वह अधिक विचार नहीं कर सकी अलबत्ता उछलते हुए हृदय के साथ आपने पिता के पास गई।

किसी ने इसमें कोई असाधारणता नहीं देखी, परन्तु प्रेम-पीड़ा से चंचल बनी हुई रमा के चक्षु इन दोनों को ही देख रहे थे उसने शीरीन के चेहरे पर आच्छदित प्रेम को परख लिया, जगत को धीरे से कुछ कहते देखा। वह समझ गई, बाकी कल्पना ने पूरा कर दिया। उसकी आँखों के नीचे अंधेरा छा गया, सिर पर हाथ रख कर वह बैठ गई। मिस्टर वकील ने उसे देखा और तुरन्त शीरीन को पुकारा।

'शीरीन! देखो रमा की तबीयत ठीक नहीं है क्या?'

'क्या है रमा? क्या है?' शीरीन इस समय सुखी थी, वह सोच ही नहीं सकती थी कि कोई दुःखी भी हो सकता है।

'कुछ नहीं, आँखों के नीचे कुछ अँधेरा दिखाई पड़ रहा है।'

'क्या है ?' पूछते हुए रघुभाई भी आये।

'पिताजी ! घर चलिये, मेरी तबीयत ठीक नहीं मालूम पड़ती।

'हाँ चलो; गाड़ी आ गई होगी।'

रमा के जाने के थोड़ी देर बाद जगत ने भी विदा ली। शीरीन का मन वश में नहीं था। फिर यह सब होते हुए भी उसे रोक रखने की इच्छा हुई; परन्तु रोकती कैसे ?

७३

'अच्छा ब्रह्मानन्द ! मैं रात में आऊँगा।' एक साधारण नौकर जैसे दिखाई पड़ने वाले व्यक्ति से जगत ने कहा, 'स्वामीजी ने और कुछ सन्देशा भेजा है ? परन्तु वह बंगले में आया कैसे ?'

'बंगले वाले का पत्र लेकर आया था कि भाड़े पर लेना है। इसलिए माली ने जाकर पूरा बंगला दिखा दिया।'

'तुम थे ?'

'जी हाँ, परन्तु मैं क्या कर सकता था ? मैंने स्वामीजी को तुरन्त सूचना दी और उन्होंने आपके पास भेजा है।'

'कोई बात नहीं है ब्रह्मानन्द !' बक्स खोल कर एक पिस्तौल और कटार निकालते हुए उसने कहा—'यह दोनों वस्तुएँ लेते जाओ, यदि मेरी अनुपस्थिति में वह व्यक्ति किसी मार्ग से घुसने का प्रयत्न करे तो उसे पकड़ना और न पकड़ा जा सके तो···' उसे पिस्तौल दिखा कर संकेत किया।

'बहुत अच्छा !' कह कर ब्रह्मानन्द चला गया।

जगत संतोषपूर्वक बैठ गया। रमा ने मृत्यु के मार्ग पर चलना प्रारम्भ कर दिया था जिससे रघुभाई का गिरना निश्चित था। श्यामदास स्वयं सिंह के मुँह में घुसता चला जा रहा था। दोनों तरफ से उसका प्रतिशोध और मण्डल का कार्य पूरा हो रहा था। जगत का हृदय कचोटता : क्या यह पथ योगियों का है ?' परन्तु उसका उत्तर प्रतिशोध का उत्साह दबा देता था। धीरे-धीरे अत्यधिक अभ्यास से प्राप्त स्वस्थता एवं व्यवसायात्मिका बुद्धि' अदृष्ट हो रही थी परन्तु इसका विचार करने की उसे कहाँ चिन्ता ? वह उच्च पद से गिर रहा था, योगी मिटकर मनुष्य बना और राक्षस बन रहा था।

इतने में शीरीन और साथ में मिस्टर परशुराम दीक्षित आये। शीरीन को रात्रि में निद्रा नहीं आई थी फिर भी प्रातःकाल उठने पर उसे गत रात्रि की

थकावट नहीं मालूम पड़ रही थी। परशुराम दीक्षित को बुलाकर एक अंग्रेजी मासिक निकालने की योजना बना डाली। उसका मस्तिष्क व्योम-विहार कर रहा था परन्तु अकेले नहीं, साथ में सदैव मन जगत की कल्पना करता। जगत उसे दूर रखता है, इस बन्धन को नष्ट करने का आज वह निश्चय कर आई थी।

परशुराम दीक्षित पेशवा प्रेस का मालिक और मिस्टर वकील का घनिष्ठ मित्र था। वह भारत के प्राचीन खान-पान, एवं वस्त्र का पक्षपाती था। वह एक दक्षिणी ब्राह्मण था साथ ही देशभक्त भी था। उसका मत था कि यदि लोग दक्षिणी पहनावा पहनें और प्राचीन रीति-रिवाज स्वीकार करें तो देश का उद्धार बहुत शीघ्र हो जाय। उसने गत रात्रि में जगत को कोट पतलून में देखा था जिससे उसके सम्बन्ध में दीक्षित ने उपेक्षणीय भाव बना लिया परन्तु आज जब उसे साधारण धोती, कमीज पहन कर बैठा हुआ देखा और उसका अपने से अधिक संस्कृत पर आधिपत्य देखा तब तो उसे अपनी पराजय स्वीकार करनी ही पड़ी और जगत के सम्पादकत्व में मासिक निकालना उसने स्वीकार कर लिया। जगत ने यह कह कर अस्वीकार कर दिया कि न जाने कब उसे बम्बई से चला जाना पड़े। शीरीन को भी उसने मना किया कि जब तक वह बी० ए० न कर ले तब तक ऐसी प्रवृत्तियों में पड़ना उसके लिए उचित नहीं है। अन्त में मिस्टर दीक्षित ने अपने नाम से ही मासिक निकालना निश्चित किया, यह भी निश्चय हुआ कि शीरीन और जगत अपने लेखादि से बराबर सहायता किया करेंगे। शीरीन के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा, जगत की अधीनता में काम करना, उसके विचारों को संसार पर प्रकट करना, इससे बढ़कर दूसरी बात और क्या हो सकती है? आगामी जनवरी से मासिक निकालने का निश्चय कर दीक्षित जी चले गये।

दीक्षित को पहुँचा कर आने के पश्चात् शीरीन ने बैठते हुए कहा—'मुझे कितनी प्रसन्नता हुई जगतराय! अब देखना, हम ऐसा काम करेंगे कि...'

'आप कर सकती हैं, परन्तु मेरा निश्चय नहीं है।'

'क्यों? यह भी भला कहीं हो सकता है? जहाँ मैं वहाँ आप?'

'यह तो बहुत बड़ी बात है।' जगत की तीव्र दृष्टि में शीरीन की स्थिति कुछ विचित्र मालूम पड़ी। वह बातचीत शीघ्रातिशीघ्र बन्द कर देना चाहता था किन्तु शीरीन ने इतनी स्वच्छंदता ले रखी थी कि अन्य मित्रों के समान उसे निकाल बाहर करना कठिन था। शीरीन की आँखें चमक रही थीं वह मुस्करा रही थी किन्तु आज की मुस्कराहट कुछ भिन्न प्रकार की थी।

'मास्टर साहब! यदि आपको निरुत्साहपूर्ण बुद्धिमता खर्च करनी हो तो मैं जाऊँ मुझे आपसे बहुत कुछ पूछना था।'

'मुझसे ? जो कुछ मालूम होगा बता दूंगा ।'

'आप जैसी पण्डिता तो मैं हूँ नहीं । मुझे शब्द-जाल में न फँसायें । मुझे तो स्पष्ट उत्तर चाहिये । कब तक छिपा रखियेगा ?'

'मैं क्या छिपा रहा हूँ ?' शीरीन के स्पष्ट और प्रामाणिक दृष्टिपात और प्रश्न से भ्रान्त-चित्त होकर जगत ने पूछा ।

'क्या छिपा रहे हैं ? मास्टर जी, सभी कुछ तो ! मेरी आँखें हैं, मैं अंधी नहीं हूँ । आप यहाँ क्यों रहते हैं ? गुप्तरूप से आप क्या काम करते हैं ? प्रायः आप किसी को क्या लिखते हैं ? यह जिज्ञासा आप क्रुद्ध होंगें—बिगड़ेंगे । आप पहले थोड़ा स्नेह प्रदर्शित करते हैं, पश्चात् दरवाजा बन्द कर ढकेल देते हैं । मैं यह सहन नहीं कर सकती । मैं आपको पहचानना चाहती हूँ, आपके सभी कार्यों में रस लेना चाहती हूँ । इन चार-पाँच महीनों में आपने मुझे पागल बना डाला है । आप मुझे नहीं बताइएगा कि आप सचमुच क्या करते हैं ?' कहकर शीरीन ने अपना हाथ जगत के हाथ पर रख दिया—उसके शरीर में बिजली दौड़ गई ।

जगत को इस ढंग की बात-चीत का स्वप्न में भी विचार नहीं आया था। क्या करे ? शीरीन की बुद्धि और उसके स्नेह के लिए मन में गर्व था ।

'शीरीन···' उसने बड़ी ही शिष्टतापूर्वक बोलना प्रारम्भ किया ।

'जहन्नुम में गई शीरीनबाई ! शीरीन नहीं कह सकते ? आप तो पत्थर हैं !'

'अच्छा, लो शीरीन को पुकारता हूँ ।' जरा हँसकर जगत ने कहा, 'देखो मैं दूसरे का दास हूँ, कुछ ऐसी बातें हैं जो व्यक्त नहीं की जा सकतीं ।'

'क्यों ? मुझसे कहना पड़ेगा । आप कह रहे थे कि आप पर भरोसा नहीं किया जा सकता, यह भी आपको पता नहीं कि कब तक आप बम्बई में रहेंगे । क्यों ? कहाँ जाने वाले हैं ?'

'तुम तो व्यर्थ व्याकुल हो रही हो । ऐसे प्रश्न दूसरों से पूछना एक विदुषी के लिए सभ्यतापूर्ण नहीं कहा जा सकता ।' विरक्ति से जगत ने कहा ।

'यहाँ आने के पूर्व मैं सभ्यता को ताक में रख आई हूँ । मुझ पर इन शब्द जालों का कोई असर नहीं होगा । मैं अपने हृदय का कहना मानूँगी—जैसा वह कहेगा वैसा ही करूँगी ।'

'अरे, कुछ संयम से काम लो । ऐसा व्यवहार तुम्हें···'

'शोभा दे अथवा न दे । इस समय मैं आपसे उत्तर चाहती हूँ ; आप को देना होगा ।'

'किस अधिकार से ?' जरा गौरव से सिर ऊँचा करते हुऐ जगत ने तिरस्कार से पूछा । वह संक्षुब्ध हो उठा । इन अक्षरों ने शीरीन के सुप्त प्रेम को भड़का दिया उसके स्फटिक के समान स्वच्छ हृदय का पट खुल गया ।

'अधिकार ! मास्टर जी ! मास्टर जी ! आप अन्धे हैं ? देख नहीं रहे हैं क्या मैं दुश्चरित्रा हूँ कि इस प्रकार भाषण करूँ ? आपके बिना मैं जीवित नहीं रह सकती । आपके जीवन में, आपके विचारों में मैं एकाकार हो जाना चाहती हूँ—आपको अपना बनाना चाहती हूँ । अपनी सूखी हँसी मत हँसिएगा; मैं सच कह रही हूँ ।' कहकर शीरीन खड़ी हो गई ।'

'ऐसा ?' मुस्कराते हुए, कुछ भी उद्वेलित हुए बिना स्वाभाविक भाव-हानता से वह बोला ।

'जी हाँ, ऐसा ! क्या आप सदैव ऐसे ही बरफ के समान शीतल और वैरागी बने रहेंगे ? जब प्रथम बार आपसे भेंट हुई उस समय में बालिका थी इतने दिनों के सम्बन्ध मात्र से मैं स्त्री बन गई हूँ और मेरे हृदय को अपना स्वामी चाहिए ।'

'मैं अत्यधिक दुःखी हूँ ।'

'मुझे आप में दुःख का तनिक भी आभास नहीं है । बोलिए—बोलते क्यों नहीं ? आपकी सच्चाई कहाँ गई ? चलिए, हम एक साथ संसार विजय करने के लिए निकल पड़ें ।'

'तुम्हारे पिता जी यह सुनकर क्या कहेंगे ?'

जगत के खेद का ठिकाना नहीं रहा । वह शीरीन को दूसरे ही भाव से चाहता था । उसकी यह स्थिति देखकर उसका हृदय फटा जा रहा था । परन्तु रास्ता क्या था ? बारह वर्षों के पश्चात् यह विचित्र प्रश्न आया था । वह अपनी स्वस्थता बनाए रखने का प्रयत्न कर रहा था ।

शीरीन हँसकर बोली—'हाँ और कुछ ? कहिए न कि मैं हिन्दू नहीं हूँ । ऑल राइट ! यह कारण बाधक हैं, अच्छा मैं सब कुछ त्याग दूँ, तब ? जैसे कहें वैसे मैं नाचने को तैयार हूँ ।'

जगत मूक बैठा रहा । सोच रहा था कि शीरीन के तूफान को किस प्रकार शान्त करें ?

'किन्तु.....'

'किन्तु ! किन्तु ! किन्तु हमेशा किन्तु !' पैर पटककर वह बोली—'बताइए, मुझे अपनाइएगा ? स्वीकार हो तो कहिए और फिर मैं आपकी आज्ञाधीन हूँ । मुझमें जो पसन्द न हो इसे भी बताइये । जो आपको सन्तोषजनक होगा वही आपकी शीरीन का कर्तव्य होगा ।'

'क्या कारण बताऊँ ? यह भी कभी सम्भव है ? कहाँ आप और कहाँ मैं ? कहाँ आप सुकोमल, सुशिक्षिता रमणी और कहाँ जीवित शव के समान पाषाण हृदय का एक क्षुद्र मैं ?' धीरे-धीरे प्रत्येक शब्द अलग-अलग करता हुआ जगत बोला. 'मुझे क्या खबर थी कि ऐसा होगा । अन्यथा मैं आपसे मिलता ही नहीं ।'

'यह उत्तर ? जगत ! आप भले ही न मानें किन्तु मेरी आत्मा तो वाट देखा करती थी, अपने जीवन स्वामी का ? वह आया और मैं तैयार हूँ परन्तु कुछ सच-सच भी वताइएगा ?'

'सच-सच मैं क्या वताऊँ ? मैं कौन हूँ इसका भी तुम्हें पता नहीं है।'

'मुझे इससे कोई मतलव नहीं। मैं आपको अधिक अच्छी तरह पहचानती हूँ—हाँ या नहीं—कहिए—वस।'

जगत ने खेदपूर्वक गम्भीर चेहरा वनाए हुए सिर हिला दिया।

'नहीं क्यों ?'

'मेरी भावनाएँ आप को स्वीकार नहीं कर सकेंगी।'

'क्यों नहीं ? सच्चा कारण कहिए न ?' झल्लाकर वह वोली।

'मैं नहीं कह सकता, यही मेरा अन्तिम उत्तर है।' कहकर जगत उठ खड़ा हुआ। उसे अपने हृदय पर से अंकुश खिसकता हुआ सा लगा, 'आप जो देने के लिए कह रही हैं···'

'तव आप इस प्रकार मुझे तिरस्कृत कर निकाल वाहर कर दीजियेगा ?' उसने पूछा। प्रेम-तेज से उद्दीप्त मुख पर रोष के अंकुर फूट निकले। 'विना कारण, विना कुछ कहे, ऐसा उत्तर देकर आप मुझे निकाल वाहर कीजियेगा ? आप की भावना ? क्या आप की भावना इतनी क्रूर एवं आचरण पत्थर जैसा घातक और राक्षसी है ?'

'जगत ने 'हाँ' कहकर और सिर हिलाकर आक्षेप स्वीकार किया।

'हाँ ! वैठे रहिए तव ठंडे हृदय से। लोग आयेंगे, आपकी प्रशंसा करेंगे और पीछे समझ जायेंगे कि आप की छाती में हृदय छा स्पंदन नहीं केवल पत्थर है। जीवन भर रोयेंगे कि घर आई गंगा को ठुकरा दिया।' कहकर गर्व से शीरीन वहाँ से हटी, जिस कमरे में विद्या-विलास में कितने दिन और कितनी रातें व्यतीत किए थे उसे एक वार पुनः देखा, छाता उठाया और चल पड़ी।

वह दरवाजे के पास पहुँची थी कि जगत ने अपना सिर ऊँचा किया; उसके भव्य चेहरे पर दुःख के चिन्ह दिखाई पड़ रहे थे। आसन्न मृत्यु सिंह के समान सिर हिलाकर उसने वाल हटाया।

'शीरीन !' उसने गद्गद् कंठ से पुकारा। उस कंठ-स्वर का आकर्षण शीरीन के लिए भयंकर था; उसने पीछे देखा। 'यहाँ आओ !' जगत ने उसे वुलाया ?

वह जहाँ की तहाँ खड़ी रही।

'यहाँ आओ, वैठो।' उसकी सत्ता सदैव के समान उस पर अचल थी।

'वैठो।' कह कर उसने उसे अपने पास वैठाया।

जगत का आँख से एक अश्रु-बिन्दु छलक कर जमीन पर टपक पड़ा। शीरीन का सब रोष जाता रहा। इस प्रभावशाली, सशक्त मनुष्य को रोता हुआ देख कर दैत्य भी पिघल जाता। छाता फेंक कर वह जगत के गले से लिपट गई।

७४

'नाथ ! मैं जानती थी कि आपका हृदय सोने का है।'

जगत की स्वस्थता नष्ट हो गई थी। उसका पहले का आवेशपूर्ण, प्रेमी स्वभाव अभ्यास से बाँधे हुए बाँध को तोड़कर पूर्ववत् स्नेहार्द्र हो गया था, परन्तु शीरीन के प्रति उसका प्रेम-भाव नहीं था। व्यथित होकर भाव बिना उसने उसे छाती से लगा लिया ; उसके ललाट का धीरे से, गम्भीर विचार पश्चात् एक चुम्बन लिया। जब उसमें भाव नहीं था तब अन्तर्वेग कहाँ से होता ? कुछ व्यक्ति पत्थर का भी इससे अधिक प्यार से आलिंगन और चुम्बन करते हैं।

कंपित स्वर में उसने कहा—'यदि मेरा हृदय इस प्रेम का अनुभव करने में सशक्त होता, तो मैं तुम्हें अवश्य स्वीकार कर लेता। अरे ! तुम्हारे कहने के पहले तुमसे मैं कहता ! तुम्हारी सुसंस्कृत बुद्धि को क्या मैं नहीं पहचान सकता ? यदि बुद्धि की सहानुभूति में ही प्रेम रहता तो तुम्हारे स्वभाव जैसा दूसरा मुझे कहाँ मिल सकता है ? किन्तु···मैं मृत हूँ—जीवित नहीं।'

वह ऊपर सिर उठाये देख रही थी। जगत को अपना हृदय-बंधन टटता-जान पड़ा। एक-एक शब्द बोलते समय प्राण निकलने की सी वेदना होती थी।

'जिसे तू अपना प्रेम अर्पण कर रही है—जिसे तू प्रशंसा की धुन में ईश्वर तुल्य समझती है वह मनुष्य नहीं है—अधम से अधम जन्तु हैं।'

उसने सिर हिलाकर 'नहीं' कहा। परन्तु जगत उस ओर ध्यान न देकर आगे कहने लगा। उसकी आवाज मन्द, काँपती हुई, अश्रुपूर्ण थी।

'सुनो, वर्षों पूर्व जब 'हृदयपर्ण' हरे थे उस समय जीवन मार्ग में एक सखी मिली, उसके सौन्दर्य के सामने तुम सब मिट्टी की पुतली हो। वह तो स्वर्ग से संदेह अवतरित हुई थी।' एक अस्पष्ट हिचकी जगत को आई, 'तेरा मास्टर जिस पर तू इस समय आसक्त होकर अपना सर्वस्व अर्पण करने के लिए प्रस्तुत है—उस शैतान ने उसे रिझाकर उसकी देवी आत्मा को अपनी पापी आत्मा के साथ प्रेम में आबद्ध कर दिया। तदन्तर उस कृतघ्नी चांडाल ने बालपन के अज्ञान में अविचार में उसे पद-दलित कर पीस डाला। जब तेरे पापी

मास्टर का ज्ञान हुआ तब उसके हाथ में राख का ढेर मात्र रह गया था। 'देवी' जीवन त्याग कर चली गई थी।' जगत आँखें फाड़कर जमीन की ओर देख रहा था। वह एकाग्र चित्त से सुन रही थी। जगत इस प्रकार बोलता गया मानों शीरीन वहाँ पर हो ही नहीं।

'उसने आत्म-हत्या का विचार किया. दुःख में, वियोग में घुल-घुलकर उसने जीवन का स्रोत विषमय बना डाला। मृत्यु ही शान्ति प्राप्त करने का एक मात्र उपाय था। अन्त में जब वह मरने को ही था कि उसे गुरु प्राप्त हुआ।' जगत की आँखों में थोड़ी कोमलता आई, उसने उसकी ओर देखा।

'तू मुझे बहुत बड़ा विद्वान्, बड़ा सभ्य समझती है किन्तु तूने उन्हें देखा नहीं है! यदि कोई देवता सचमुच संदेह पृथ्वी पर अवतीर्ण हुआ है तो वह ही है। किसी जर्मन प्रोफेसर की विद्वता, अंग्रेज राजनीतिज्ञ की कार्यदक्षता, किसी कविराज का आर्द्र हृदय और इटली के किसी महाकलाकार की सूक्ष्म सौन्दर्यसेवी दृष्टि, आर्य ऋषियों का वैराग्य, उनकी निर्मल बुद्धि एवं शान्ति सभी उस महात्मा में विद्यमान हैं। उन्होंने मुझे वैराग्य सिखाया, पर मन शान्त नहीं हुआ; बारह वर्ष तक स्वामी जी के समीप रहा किन्तु तुम्हें व्याकुल देखकर मेरा मस्तिष्क व्यग्र हो उठा। 'देवी' का स्मरण आते ही आँखों में आँसू आ गए।

'वह महात्मा करते क्या हैं?'

'तू पूछ रही थी कि मैं क्या करता हूँ। उस महात्मा का मैं दासानुदास हूँ। सम्पूर्ण भारत का वातावरण पवित्र, जीवित करने के लिए, सच्चे जीवन की उच्च भावना फैलाने के लिए उन्होंने एक मण्डल की स्थापना की है। सर्वत्र हम जाते हैं और शुद्ध मार्ग से लोगों को सुशिक्षित बनाने का प्रयत्न करते हैं। गत वर्ष की रिपोर्ट मैं तुम्हें दूँगा। संसार जानता नहीं कि उसके बिना जाने दूसरे क्या कर रहे हैं। अच्छा इस बात को जाने दो, तू मुझसे विवाह करना चाहती है किन्तु मैं करूँ क्या? मेरा हृदय सूख गया है। चार दिनों में तू ऊब जायगी। मेरा जीवन मेरा नहीं है; आगामी रविवार को मैं जीवित रहूँगा या नहीं, यह भी कहा नहीं जा सकता। इस समय मण्डल के अस्तित्व के विपक्ष में एक भयंकर षड्यंत्र चल रहा है और मैंने अकेले उसे नष्ट कर डालने का भार अपने सिर पर ले रखा है, बता मैं क्या करूँ?'

'जगत! आपने स्वयं अपने को अनेक गालियाँ दीं किन्तु आपके प्रत्येक शब्द से मेरा प्रेम बढ़ा। आपके महात्मा चाहे जैसे हों परन्तु मेरे लिए सच्चे महात्मा तो आप ही हैं। क्या मैं आपके साथ नहीं रह सकती?'

'विवाह के लिए मुझे दो ही कारण उचित मालूम पड़ते हैं, विश्व-नियमानुसार दो ही हो सकते हैं, जहाँ प्रेम होता है वहाँ सब विश्व-नियम हत-तेज

हो जाते है, वहाँ विवाह न करना पाप है। सब प्रकार का बन्धन तोड़कर जो ऐसा न करे वह रूढ़ि का दास है। यदि ऐसा न हो तो किसी महान् धर्म के लिए अथवा किसी ऐसे कर्त्तव्यवश जिसके सामने मन के उत्साह का कोई हिसाब ही नहीं होना चाहिये।'

'अर्थात् आप को न तो प्रेम ही है और न कोई ऐसा कर्त्तव्य ही दिखाई देता है ?'

'कृपा कर इस प्रकार बातें मत करो। बारह वर्ष तक में मौन रहा हूँ, तुमने आज मेरा मुँह खोल दिया है। मुझ पर दया करो। प्रेम अर्पण करने में मैं असमर्थ हूँ। अनुमान करो कि मैं तुमसे प्रेम करता हूँ और मैं मर जाऊँ—तुम्हारे लिए विलख-विलख कर प्राण दे दूँ—तो क्या तुम दूसरे से प्रेम कर सकोगी ?' जगत ने सिर के पसीने को पोंछते हुए पूछा।

'और कर्तव्य ?'

'कर्तव्य ! तुम इसका कोई अनुचित अर्थ मत लगाओ। मैं एक महान् धर्म के लिए जीवित हूँ। हिन्दू-संस्कृति की भावना का भारतवासियों के मस्तिष्क में प्रचार करना और उस भावना के आधार पर एक बड़े, विशाल, प्रभावशाली राष्ट्र की रचना, उस राष्ट्र की संस्कृति सृष्टि में फैलाकर जन-समाज का उद्धार करना ही मेरे स्वामीजी का, हमारे मण्डल का और मेरा जीवन-लक्ष्य है। तुम्हारी 'परिष्कृत बुद्धि' यह भावना समझेगी। मैं मनुष्य नहीं हूँ बल्कि यह भावना परिपूर्ण करने का एक अल्पचक्र हूँ और ऐसे ही अनेक चक्र उत्पन्न करके उसे चलाने का काम मेरा है। इस कार्य में जो वस्तु सहायता करे वही मेरा धर्म है जो न करे वह अधर्म है। इस धर्म के अतिरिक्त संसार से मेरा दूसरा सम्बन्ध नहीं है; तुम्हारे साथ विवाह करने से इस धर्म का समर्थन क्या हो सकेगा ? हो सके तो में प्रस्तुत हूँ। मेरे स्वामीजी तो बराबर कह रहे हैं कि विवाह बिना मेरा उद्धार असम्भव है। परन्तु विवाह धर्म के लिए होना चाहिए इसके विपरीत किसी भावनावश ऐसा करने से क्या कार्य में विशृंखला न आ जायगी ?'

वह जगत के सुन्दर, भावनापूर्ण, दीप्त चेहरे की ओर देख रही थी, उसके तेज ने उस पर प्रभाव डाला। उसका महत्वाकांक्षी स्वभाव—यह भावना परम्परा सुनकर सचेत हो गया। सुख-विवाह—सब क्षण भर के लिए भूल वह जगत के विचारों में तल्लीन हो गई। ऐसा महत्कार्य क्या छोड़ा जा सकता है ? यदि तुम्हारे साथ विवाह करने से इसमें बाधा न हो तो मैं तैयार हूँ। पर···

कुछ क्षण रुककर वह फिर बोला—

'बाधायें तो उत्पन्न होंगी। तुम हिन्दू नहीं हो। आज जो सहस्रों मनुष्य अनंत मण्डल द्वारा सरल की गई चारित्र्य-भावना को स्वीकार करते हैं, जब

वह अपने नेता को एक पारसी रमणी के साथ विवाह करते हुए देखेंगे तब क्या कहेंगे ? कहेंगे कि 'पारसिन के रूप पर विरागी बुद्धिमान सिद्धनाथ मुग्ध हो गया। कहेंगे, वह भ्रष्ट हो गया और अनंत मंडल को एक ऐसा गहरा धक्का लगेगा कि सम्पूर्ण जीवन अर्पण कर स्वामीजी की आरम्भ की हुई प्रवृत्तियों का सत्यानाश हो जायगा। लोग मूर्ख हैं परन्तु मूर्खों को समझाना है। मेरी कठिनता·····'

:जगत डीयर ! आपकी कठिनताओं को मैं समझती हूँ। मैंने आपके साथ सचमुच अन्याय किया है, परन्तु दूसरा रास्ता नहीं है। मुझे क्या करना चाहिए, प्रेम को किसी अनुज्ञा की आवश्यकता है।'

'यह मैं समझ रहा हूँ। हाँ, एक अधमता का मार्ग है। मण्डल छोड़ दूँ तो हो सकता है; किन्तु अपने स्वामीजी को अपने पिता से भी अधिक पूज्य व्यक्ति को अपने जीवन के आदेश और भावनाओं को प्रेमविहीन विवाह के लिए तिलांजलि दे दूँ ? दूसरे ही दिन तुम मुझसे तिरस्कार करोगी; मैं अपनी जाति को धिक्कारूँगा एवं आत्म-हत्या की अधोगति के सिवा दूसरा रास्ता नहीं रह जायगा।'

नहीं, यह तो हो ही नहीं सकता। मैं आपसे विवाह करूँ और आप अपनी भावनाएँ खो बैठें ! इसकी अपेक्षा मेरा अकेले मरना क्या बुरा है ?'

'यह तू क्या कहती है ? यदि तू कहती है तो मैं तैयार हूँ। नहीं तो···'

'नहीं तो ?'

'यदि तू कहे तो स्वामीजी से पूछ लूँ।'

'जगत प्यारे ! इसमें मुझे कोई बाधा नहीं है।' शीरीन ने डबडबाई आँखों से कहा। 'परन्तु यदि आप प्रेम-अर्पण नहीं कर सके तब मेरा क्या होगा ? मुझे सुखी बनाने के लिए विवाह करें, इतने के लिए आपका जीवन नष्ट करना मुझे उचित प्रतीत नहीं होता।'

'तब ?' अनिश्चितता से जगत ने पूछा।

'तब क्या ? मेरा भाग्य फूट गया, मन की मन ही में रह जायगी। खैर !' हाथ में सिर लेकर अवरुद्ध कण्ठ से शीरीन ने कहा। जगत ने उसके सिर पर हाथ फेरा—उसे ऊँचा किया।

'तू क्या करना चाहती है ? मेरी ओर अब नहीं देखेगी ?'

'इसके बिना भी कहीं चल सकता है, मास्टरजी ! दूर से ही देखकर मुझे सन्तोष करना पड़ेगा।' और फिर वह रोने लगी।

'रोओ मत शीरीन ! क्या विवाह सभी करते हैं ? मेरा टूटा-फूटा हृदय जो कुछ भाव रख सकता है वह तेरे ही लिए है। विवाह करने से क्या इसमें वृद्धि हो जायगी ? यदि हो सकती हो·····'

'जाने दोजिये, आप की भावनाएँ नष्ट कर दो घड़ी का आनन्द मुझे नहीं चाहिए, किन्तु जगत ! आज की बात से अपने मन में किसी प्रकार का भेद-भाव न आने दीजियेगा। जैसे हैं वैसे ही बने रहियेगा।'

'भेद-भाव कैसा, बारह वर्ष पूर्व स्वामीजी के सम्मुख हृदय खोला था वही आज तुम्हारे सामने·····।'

'अच्छा अब बहुत देर हुई ! निराश होकर जाती हूँ ! मेरी सब आशाओं पर पानी फिर गया।' आँखों के आँसू पोंछते हुए खड़ी होकर वह बोली—'किन्तु मास्टर साहब ! अब जीवन आपके आधार पर है।'

'ऐसा मत कहो। जले पर नमक छिड़ककर मेरे दुःखी हृदय को अधिक दुःखित मत करो।'

'मास्टरजी ! जाने से पहले·····' वाक्य को पूरा करने में उसकी लज्जा ने रुकावट डाल दी। उसकी आँखों व भावभंगियों ने उसके वाक्य का आशय पूर्ण कर दिया; जगत ने इसके हाथ को हाथ में लिया। शीरीन ने रोते-रोते आलिंगन किया—और फिर कुछ देर वह जगत का हाथ अपने दोनों हाथों से पकड़े हुए खड़ी रही; तत्पश्चात् सहसा उसे झटककर अपनी छतरी उसने उठा ली।

जगत उसे नीचे दरवाजे तक पहुँचाने गया।

'अपने स्वामीजी से कब भेंट कराइयेगा ?'

'जब तुम कहो।'

'बम्बई में हैं क्या ?'

'बाँदरा में हैं।' धीरे से जगत ने कहा।

'कल प्रातःकाल क्या भेंट हो सकेगी ? यदि हो तो मैं अपनी मौसी के यहाँ आ जाऊँ और सवेरे चौपाटी पर मिलूँ ?'

'हाँ मैं भी अभी वहीं जाने वाला हूँ।'

'अच्छा हो सका तो साथ ही चलूँगी, देखिए न ! आपका आकर्षण कितना दुःखद है ? अच्छा प्रणाम !' उसे जाते हुए देखकर जगत ने निःश्वास ली—'कितने हृदयों को तोड़ने के लिए मेरा जन्म हुआ है।'

७५

जगत की धारणा के अनुसार ही श्यामदास ने कार्य किया। 'घोस्ट हाउस' की खोजकर वहाँ गया; दो-तीन दिन निरीक्षण करने पर उसे दो-तीन बाबा उसमें जाते-आते दिखाई पड़े। मकान मालिक की तलाश कर उसके पास से

'मकान किराये पर लेने के लिए देखना है' कहकर पत्र ले आया। जैसा ब्रह्मानन्द ने जगत को बताया वह पूरा बँगला देख गया। जगत ने ऐसा प्रबन्ध कर रखा था कि देखने वाला तुरन्त समझ जाय कि गुप्त कागज पत्र कहाँ पर रखे हुए हैं। श्यामदास जब गया तो एक तिजोरी खुली हुई थी जिसमें कुछ पुराने कागज लपेट कर रखे हुए दिखाई पड़ रहे थे। इन कागजों को ले लेना बिल्कुल सरल समझ श्यामदास वापस लौट आया। उसने छद्मवेश धारण किया, जेब में टार्च रखा और अँधेरी रात का लाभ उठाकर बँगले में चुपचाप पहुँच गया। ऊपर एक रोशनी जल रही थी। दरवाजा खुला हुआ था जिससे कम्पाउण्ड में प्रवेश कर वृक्षों में छिपता हुआ जिस कमरे में तिजोरी थी उसकी खिड़की के नीचे पहुँच गया और बड़बड़ाया—'साला बाबा अभागा है खिड़की भी खुली रख छोड़ी है।'

उसने ऊपर देखा, दूर कहीं बारह का घण्टा बजा, साथ ही ऊपर की रोशनी भी बुझ गई। वह दस मिनट रुका रहा, पश्चात् उछल कर पेड़ की एक डाल पकड़ कर उसी के सहारे खिड़की में पहुँच गया। भीतर पूर्ण शान्ति विराज रही थी परन्तु अँधेरा इतना था कि हाथ फैलाये हाथ नहीं सूझ पड़ रहा था। खिड़की पर से जमीन पर उतर कर उसने टार्च निकाल कर प्रकाश किया और उसे इधर-उधर घुमाया। उसका हृदय नाच उठा। बाबा ने कुञ्जी भी तिजोरी में लगी रहने दी थी। उसने अपने आपको शाबाशी दी और बड़बड़ाया—'अब रघुभाई और अमरानन्द धूल फाकें।'

धीरे से कुञ्जी घुमाकर उसने तिजोरी का दरवाजा खोला। भीतर बहुत से कागज रखे हुए थे जिन्हें उसने एक निगाह से देख डाला। रघुभाई ने पूरा पूरा विवरण बता दिया था, पुराने कागज एवं संवत् १९१० और १२ के दो जन्माक्षर। थोड़ी खोज करने पर ही उसकी दृष्टि जन्माक्षर पर पड़ी; कौए की चपलता से उसने उन कागजों को हथियाया; अब यमराज भी उससे उन कागजों को ले नहीं सकता था। उसने धीरे से तिजोरी बन्द कर कुञ्जी घुमाई; उठकर वह खिड़की के पास गया; वह काँप उठा—खिड़की के पास उसे एक छाया-सी दिखाई पड़ी। उसके चीखने से पहले ही बिजली के प्रकाश में कमरा जगमगा उठा। श्यामदास का सब साहस जाता रहा। सामने एक दीर्घ देह, भीमकाय लम्बी दाढ़ी वाला बाबा खड़ा था उसकी आँखें श्यामदास पर गड़ी हुई थीं।

'वहाँ पर बैठ!' शांत, अनिर्वाच्य, तिरस्कारपूर्ण आवाज में बाबा ने कहा। श्यामदास के पैर थर-थर काँप रहे थे। निर्दिष्ट कुर्सी पर वह बैठ गया।

बाबा बहुत देर तक श्यामदास को घूर कर देखता रहा। उसे ऐसा लग रहा था कि उसकी हृदयगति बन्द हो जायगी।

'कागज उस मेज पर रख दे।'

यन्त्रवत् श्यामदास ने आज्ञा का पालन किया।

'बता पुलिस को बुलाऊँ या काम तमाम कर दूँ ?' कह कर बाबा ने एक पिस्तौल निकाल कर सामने कर दी। श्यामदास की तो जीभ ही ऐंठ गई थी।

'बता पुलिस बुलाऊँ ?' कहकर बाबा खिड़की की ओर घूमा।

श्यामदास डरपोक था—'अरे नहीं बाबाजी···भाई साहब !'

बाबा ने पीछे फिर कर पूछा—'जो मैं पुछूँ उसका ठीक-ठीक उत्तर देगा ?'

'जी हाँ, परन्तु मैं कुछ····· मुझे जाने दीजिए।'

'सच-सच उत्तर देगा तो छोड़ दूँगा, तुझे किसने भेजा ?'

'मैं अपने आप ही आया हूँ।'

बाबा ने पिस्तौल उठाकर कहा—'सच बोल।'

'रघुभाई और अमरानन्द ने।'

'तू रघुभाई के कहने से रत्नगढ़ गया था ?'

श्यामदास जरा उत्तर देने में अटका। बाबा की एक दृष्टि ने 'हाँ' कहला दिया।

'क्या अमरानन्द जानते हैं कि इन कागजों में क्या है ?'

'जी नहीं, उन्हें ठीक-ठीक पता नहीं है।'

'रघुभाई ने दूसरा कौन-सा काम सौंपा है ?

श्यामदास फिर रुका। दूर पर गश्त वाले पुलिसमैन के बूटों की तालबद्ध आहट सुनाई दी।

'बुलाऊँ ?'

'नहीं पीछे यदि आप न छोड़ें तब ?'

'तेरा भाग्य, मेरे बचन में यदि श्रद्धा हो तो बता वरना जेल तो है ही। बता, रघुभाई का कार्य कौन-सा है ?'

'दूसरा कोई नहीं है।' इधर-उधर भागने के लिए मार्ग देखता हुआ श्याम दास बोला।

'ऐसा ? अच्छा श्याम ! सूरत के दिन याद हैं क्या ?'

'उससे आपका क्या सम्बन्ध है ?'

'जो कुछ है मेरा ही है। यहाँ से छूटकर सूरत जाकर मजा करना है क्या ? करना है तो मेरा कहना कर।'

श्यामदास ने सोचा कि जिस प्रकार अमरानन्द को फुसलाया उसी प्रकार इस बाबा को फुसलाऊँ। जरा मोल-भाव करने की गरज से स्वस्थ होकर वह बोला—'मैं तो कुछ भी करने वाला नहीं हूँ।'

'श्यामदास ! तू अस्वीकार करता है ? तू सिद्धनाथ को पहचानता है ? कभी भी छोड़ूँगा नहीं, समझ रख । यह अपराध तो है ही, पुलिस को बुलाने भर की देर है । दूसरी बातें भी बहुत-सी हैं ।' कहकर जगत ने अपनी तेज आँखें श्यामदास पर डालीं, वह काँप रहा था ।

'देख सूरत की मास्टरी की बात तो अब जाने दे ।'

श्यामदास ने छद्मवेषी जगत की ओर देखा ।

'गुलाब—बहनोई की पत्नी—के साथ दोस्ती का विचार भी अभी नहीं करेंगे । करमदास को लूट कर घर भरा उसे भी जाने दे फिर भी·····।'

जगत इतनी धीरता एवं गम्भीरतापूर्वक बोल रहा था कि भय से श्यामदास कुछ विचार करने में भी समर्थ नहीं था । उसे यह जादू लगा और अज्ञानी को वहम के डर के समान दूसरी कोई वस्तु नहीं है । उसका गला सूख गया, सिर में चक्कर जैसा आने लगा । उसे अरुण का ख्याल आया और इस अपहृत बालक को खड़ा कर कब कौन अवमानना कर बैठे इसका भय उसे सबसे अधिक था । अतः वह पूछ बैठा—'फिर भी क्या ?'

श्यामदास ने बाबा की आँखों में से अग्निज्वाला सी निकलती हुई देखी ।

'तुझे याद है ? एक स्नेहमयी माता तुझे एक बालक सौंप गई थी ।' जगत की आवाज काँप रही थी । वह तनमन के सम्बन्ध में कह रहा था श्यामदास अरुण के सम्बन्ध में समझ रहा था । उसकी तूने तनिक भी परवाह नहीं की, उसे हाथ से मसल डाला, उसकी पवित्र आत्मा को शान्तिपूर्वक विश्राम भी नहीं लेने दिया । कमबख्त ! जो मैं कहता हूँ कर नहीं तो—नहीं तो उसके खून का जवाब देना पड़ेगा । जगत रुद्ररूप में दिखाई पड़ रहा था, 'बोला, क्या कहता है ?'

'ओह बाबाजी ! बस बहुत हुआ, भाई साहब ! जो कहिये मैं करने के लिए तैयार हूँ ।'

'रघुभाई ने और क्या कहा है ?'

'अमरानन्द के यहाँ से दूसरे कागज चुरा लाने के लिए कहा है ।'

'अच्छा ! उनकी तो मुझे भी आवश्यकता है ।'

'किन्तु लाऊँ कहाँ से ?'

'चाहे जहाँ से; चौथे दिन सवेरे ये कागज मेरे पास पहुँच जाने चाहिएँ ।'

'परन्तु—?'

चुप, नहीं तो दूसरे क्षण अपने को मृत समझना । उठा कलम ।'

'कलम किसलिए ?'

'लिखने के लिए ! लिख मैं आज ता०···की रात्रि को रघुभाई व अमरानन्द के कहने से—' जगत ने लिखाया श्यामदास ने ऊपर देखा । 'लिख !' वह फिर

लिखने लगा—बाबा की आज्ञा का अनादर करना असम्भव था—'रात में बारह बजे बाँदरा के 'घोस्ट हाउस' में कागज चुराने के लिए घुसा था। मैं कागज चुरा कर—' उसने फिर ऊपर देखा, और जगत ने लिखने का संकेत किया, 'भाग रहा था कि पकड़ा गया। हस्ताक्षर श्यामदास स्मरणदास।'

'बहुत ठीक, ला, कागज दे। देख, चौथे दिन अर्थात् गुरुवार को यदि तू कागज नहीं ले आया तो इस पत्र का उपयोग किया जायगा, समझा ? जा !' कहकर जतत ने दरवाजा खोल दिया। श्यामदास भागा। जगत ने नकली दाढ़ी उतार डाली और दाँत पीसकर बोला, 'यदि यह मण्डल का काम न होता तो उसे·····'

'क्रोधाद्भवति संमोहः !' मानो उसके जलते अंग पर ठंडा जल उँडेल रहे हों इस प्रकार अनंतानंद ने पीछे से आते हुए कहा। जगत ने लज्जित होकर सिर नीचा कर लिया।

७६

'जगत !' आपके महात्मा, जैसा कि आप कह रहे हैं ठीक वैसे ही हों तब तो मुझे डर लगेगा।' शीरीन ने कहा।

'ठहरो ! ठहरो ! शिष्य की अपूर्णता देखकर गुरु की योग्यता का विचार मत करो' जगत ने सीढ़ी चढ़ते हुए कहा, ऊपर हैं, यहीं बैठो, मैं बुलाये लाता हूँ।'

थोड़ी देर बाद जगत ने कहा—'चलो, ऊपर ही बुला रहे हैं।'

जगत के पीछे-पीछे ऊपर जाकर वह दरवाजे पर खड़ी हो गई। अनंतानंद एक पुस्तक खोलकर बैठे थे। 'कौन ? शीरीन बाई ! आइये ! कहकर स्वामी जी ने सिर हिलाया। इतनी स्नेहपूर्ण आवाज में तो मिस्टर वकील भी न बुलाते होंगे।

'बैठिये। सिद्धनाथ अर्थात् आपके जगत ने मुझे आपका परिचय दिया है।'

शीरीन ने लजाकर सिर नीचे कर लिया। अनन्तानन्द ने जरा हँसकर कहा—'घबराइये नहीं, आपके प्रेम के लिए मैं आपको धन्यवाद देता हूँ। सृष्टि में सर्वप्रथम विश्व नियम प्रेम ही है !'

शीरीन को आश्चर्य हुआ। अदृष्ट आशा से मन हर्षित हुआ—'आप संन्यासी होकर·····'

'हाँ, संन्यासी होते हुए भी समझता हूँ कि प्रेम सच्चे मनुष्यत्व का आरम्भ है।'

'स्वामीजी !' वह जरा साहस कर बोली और उसने जगत की ओर देखा, 'आपके शिष्य का अभिप्राय भिन्न है। यह तो कहते हैं कि इनके लिए विवाह व्यर्थ है !'

'नहीं मनुष्य की तरह प्रेम प्राप्त कर, अर्पण कर इसने मनुष्यत्व प्राप्त किया है। आपको यह स्वीकार नहीं करता क्योंकि यह आपको प्रेम अर्पण करने में असमर्थ है।'

'नहीं तो ये भी योगी·····!'

'हाँ ! यह भूल है। सच्चा योगी तो वही है जो विश्व के नियमों का अनुसरण करे; विश्व के छोटे-से-छोटे नियम का विरोध न करे। विवाह तो प्रकृति का साफल्य है।'

शीरीन को इस बात में—बात करने वाले में—रस प्रतीत हुआ; थोड़ी देर के लिए वह अपना दुःख भुलाकर यह नया विचार समझने के लिए तत्पर हो गई।

'पर जगत तो सब का त्याग करते हैं।'

'जो कुछ खराब हो उसका त्याग कर ही देना चाहिये। जिस दिन भारत और संसार के दुर्भाग्य ने योगियों से संसार का त्याग कराया उसी दिन संसार के पुनर्जीवन के बीज का सत्यानाश प्रारम्भ हो गया।'

'तब ?' शीरीन ने पूछा।

'स्वामीजी !' जगत बीच में बोल उठा, यदि आप इस प्रकार कहेंगे तो शीरीन मेरे साथ अन्याय करेगी।'

'बेटा, यह वैसा नहीं करेगी। मेरा दृष्टि-बिन्दु प्रत्येक योगी, जो सद्-बुद्धि वाला होगा, समझेगा। शीरीन बाई ! आपको दुःखी होने का कोई कारण नहीं है, आपका पीड़ित हृदय अमृत की वर्षा करेगा, जो लाभ विवाह से कभी भी नहीं हो सकता था। साधारणतः प्रेम-विहीन विवाह घोरतम पाप है। प्रकृति माता सहृदय को ही दिव्य बंधन में बाँधती है।

'यह तो मैं जानती हूँ, परन्तु इसके सिवा·····।'

'हाँ, इसके सिवा भी विवाह नीतिपूर्ण होता है जिसे सहधर्माचार कहते हैं। अतः योगी चाहे जितनी पूर्णता प्राप्त कर ले, चाहे जितना विश्वमय हो जाय, फिर भी जहाँ प्रकृति ने उसे अपूर्ण रहने के लिए आज्ञा दी है वहाँ रहना ही चाहिये। मेरे जैसे एकाकी व्यक्ति से सृष्टि का सच्चा उद्धार सम्भव नहीं है। बुद्ध एवं उनके संघ अविवाहित मर गये परन्तु पृथ्वी पर से पाप का कोप नहीं हुआ। जिस समय योगीगण पागलपन स्वीकार कर तपभंग से डर कर पर्वतों में छिपते-फिरते थे उस समय इस स्थिति का पालन करना भले ही सम्भव रहा हो।' स्वामीजी ने जगत की ओर देखा, किन्तु तुम्हें तो घर-घर

फिरना है, गाँव-गाँव को सचेतन बनाना है, और बाद में सशक्त, उच्चाभिलाषी वीरों का समूह उत्पन्न कर भारत के पुत्रों को पृथ्वी के उद्धार के लिए देश-देश में विजयध्वज लेकर भेजना है।

शीरीन और जगत देखते रहे। अनंतानंद जिस समय ऐसे शब्दों का उच्चारण करते थे, उस समय उनके मुख पर तेजस्विता चमक उठती और श्रोता का संशय नष्ट होकर उसमें दृढ़ता एवं उत्साह प्रेरित होता फिर तुरन्त ही उनका कण्ठ-स्वर स्नेहपूर्ण एवं मन्द हो गया।

'मैंने भी आपके जगत को इस सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा है और यदि सब बातें सानुकूल होतीं तो दोनों का सम्बन्ध हो जाता और मेरे सिद्धनाथ की अपूर्णता जाती रहती।'

'क्या मेरे से यह नहीं हो सकता ?'

'आप इसे पहचानती नहीं। इसका हृदय विशाल है, स्नेहार्द्र है, अभ्यास से निर्मल बन गया है, परन्तु करुण से नम्र नहीं बना है। क्या आपने इसे अरुण को खिलाते हुए देखा है ? कोई विनीत, कोमल, संलग्नशील लता इससे निराधारता से जब लिपट जायेगी तभी इसकी कठोरता और कर्कशता दूर होगी।'

इस वर्णन से शीरीन को रमा याद आ गई। जगत मूक बैठा था, वह जरा कठोरतापूर्वक बातें सुन रहा था।

'स्वामीजी ! ऐसी कोई रास्ते में नहीं पड़ी है जो आपकी इच्छापूर्ण करे।' जरा तीव्रता से जगत ने कहा।

'मिलेगी, परन्तु, शीरीन बाई ! आपको दुखी होने का कोई कारण नहीं है। आपसे जगत की अपूर्णता न पूर्ण की जा सकेगी। आप बुद्धिशाली हैं, सिद्धनाथ के कथनानुसार, स्वाश्रयी और वीर भी लगती हैं। सिद्धनाथ अधूरा है किन्तु इसकी अपूर्णता पूर्ण करने के लिए विधि ने आपको नहीं सृजा है। आप भी इसी के समान अपूर्ण हैं।'

शीरीन ने ठंडी सांस ली।

'निराश क्यों होती हो ? इसकी पत्नी होने के समान ही क्षेत्र आपके लिए भी खुला हुआ है। आप इसकी भावना की सहचरी हो सकती हैं।'

'सहचरी बिना विवाह के·····।'

'बिना विवाह सहचरी क्या नहीं हुआ जा सकता ? एक साथ रहकर, गृहस्थी न होने से क्या मानसिक सहजीवन नहीं बन सकता ? विवाह की भावना सम्बन्धी जो व्याख्या मैंने की क्या उसे लोग कब समझेंगे ? प्रेम अथवा अपूर्णता के उपचार इन दो कारणों को छोड़ तीसरे कारणवश विवाह करना पाप है। स्नेह के लिए, आराम के लिए, शोभा के लिए, विवाह का पाप लोग क्यों करते हैं ? इसी से संसार में दुःख और पाप सम्बन्धी निर्भयता

बढ़ी हुई है। ये उच्च आशय न हों तो क्या दूसरा सम्बन्ध नहीं रखा जा सकता संसार में अनेक प्रकार के सम्बन्ध हैं। मित्रता, भाव, स्नेह इनमें से एक को क्यों न स्वीकार किया जाय ? इससे किसी को हानि नहीं पहुँच सकती और मानसिक सहानुभूति मिल सकती है; साथ ही विलग होते समय अधिक पीड़ा भी न होगी। हमारे संसार की सभी रूढ़ियाँ नष्ट हो गई हैं और शेष नष्ट हो रही हैं, दुनियाँ को नये परिधान की आवश्यकता है।'

शीरीन तो दिग्मूढ़ हो गई। उसने बहुत से साधु देखे थे किन्तु उनमें कोई 'प्लेटोनिक लव' की बात कर सके ऐसा आज ही देखा।

'यह तो 'प्लेटोनिक' भावना···'

'नहीं, जब तक आपको वैराग्य का अनुभव नहीं है तब तक ऐसा लगता है। वैराग्य से अपनापन नष्ट हो जाता है जिससे केवल भावना मार्ग द्वारा सहसंचार ही शेष रह जाता है, वही स्नेहभाव अथवा 'प्लेटोनिक' प्रेम है। यह इस प्रकार समझ में नहीं आएगा। सिद्धनाथ के साथ अधिक समय तक रहिए। पत्नी बनने का क्या काम है। सहचरी बनिये, छः मास में देवी बन जाइयेगा।'

शीरीन मुस्कराई। उसे महान् प्रयत्न करने की उत्कट इच्छा हुई। उसे यह शब्द बराबर श्रवण करते रहने का मन हुआ। दुःखी मन निर्मल शान्त हो गया। तदपश्चात् कुछ इधर-उधर की बातें कर अनन्तानन्द ने शीरीन को विदा किया।

'मास्टर साहब ! आपके गुरु का स्वप्न तो विचित्र ही है !'

'स्वप्न ! तू उन्हें पहचानती नहीं। उनके विशाल विचार में सम्पूर्ण सृष्टि को परिवर्त्तित कर देने की शक्ति है।'

'किन्तु आप नहीं बदलते।'

'मैं, मैं तो इनके चरण की रज मात्र हूँ। यह सब बातें क्या अकेले तुम्हारे लिये कह रहे थे ? इसमें से आधा प्रवचन तो मेरे लिए था।'

'वह कैसे ?' शीरीन ने पूछा। क्रमशः उसने अपने बुद्धि बल से पीड़ित हृदय को अधिक वश में कर लिया था।

'स्वामीजी समझते हैं कि यदि मुझे अच्छी पत्नी मिल जाय तो मेरा उद्धार हो जाय, इसलिए वह इस दृष्टिबिन्दु द्वारा मुझे समझाया करते हैं।'

'परन्तु आपको तो समझना ही नहीं है—?' उसने कुछ कटूक्ति करते हुए कहा।

'तू ऐसा कहेगी मैं यह जानता था। तेरे पास से आकर स्वामीजी से मैंने सब कुछ कह दिया। अपना संशय भी बता दिया कि तुम्हारे साथ विवाह करने से वर्तमान कार्य में बाधा पड़ेगी।'

'जो भी हो परन्तु प्रेमासक्त स्त्री को आश्वासन देना तो आपको खूब आता है।'

'ऐसा कहोगी ?' कुछ दुःख से सामने देखते हुए जगत ने कहा।

'नहीं जी, मैं तो हँसी कर रही थी। जगत डियर ! मैं स्त्री हूँ पर मूर्ख नहीं हूँ। मैं स्वयं समझ रही हूँ कि जैसा स्वामीजी कह रहे थे आपके अपूर्ण स्वभाव को पूर्ण करने की शक्ति मुझमें नहीं है। मैं तो विचार यन्त्र के समान हूँ।'

'बस अब···'

'परन्तु एक मेरी दृष्टि में है सुनेंगे आपके स्वामीजी भी खुश हो जायेंगे।'

जगत समझ गया। वह बात आगे नहीं बढ़ाना चाहता था अतः उसे उड़ाते हुए वह बोला—'नहीं, मुझे एक या दो कोई नहीं चाहिए। तू मित्र है इतना ही बहुत है अन्यथा सूरत जाकर कोई आठ-सात वर्ष की पकड़ लाऊँगा।'

'मास्टर ! किन्तु आपके स्वामीजी···?'

'मेरे लिये तो वह परमेश्वर हैं।'

'परन्तु याद रखना आप भी मेरे परमेश्वर है !' कहकर शीरीन वहाँ से चली गई। वह अपने विचारों में तल्लीन हो गई। इसी समय एकाएक उसे स्मरण आ गया—'अरर ! मैं कितनी मूर्ख हूँ ! रमा डियर तो बिचारी बीमार पड़ी हुई है, परसों तो यह बिल्कुल मरणानन्न हो गई थी।' कहकर वह अपनी मौसी के यहाँ चली गई।

पार्टी में से आने के पश्चात् रात्रि में रमा को तेज ज्वर चढ़ा, और दूसरे दिन भी वह बिछौने पर पड़ी तड़पती रही। उसका सुकुमार शरीर तनिक में ही मुर्झा गया और सूखे शरीर में हड्डियाँ निकलने मे देर नहीं लगी। मुँह से एक शब्द भी उसने नहीं निकाला, उसका अन्तःकरण जल रहा था; धीरे-धीरे हृदय टुकड़े-टुकड़े हुआ जा रहा था। किंतु बाहर से इसे कोई समझ नहीं सकता था। किसी के सामने विलाप करना, आक्रन्द करना, यह उसके स्वभाव के विपरीत था। प्रेमाग्नि मन्द पड़ने के साथ ही उसकी शक्ति, उसके जीवन तत्व भी मन्द पड़ने लग गए। तीसरे दिन उसका ज्वर उतरा। रघुभाई आकर व्यर्थ नाम करने के लिए आकर पूछ गए, रुग्णा पुत्री उसके लिए केवल एक विपद्मात्र थी। रमा को लड़कपन से पिता के प्यार की भूख नहीं थी। उसने बिछौने के पास कुछ पुस्तकें रख लीं और उनमें से चुनकर वह पढ़ने लगी।

चार बजे शीरीन को आते हुये देखा और वह काँप उठी---'यह क्यों आई ? विजयी शीरीन अपनी विषमय उपस्थिति से इस अशांत मस्तिष्क को अधिक उत्तेजनामय बनाने के लिये क्यों आई ? किंतु उपाय क्या था ?' दीर्घ निःश्वास

लेकर दाँत पर दाँत बैठाकर, अपने ही हाथ से सिर पर कोलनवाटर डालकर बिछौने पर पड़ गई।

शीरीन दौड़ती हुई आई और दो ही दिनों में रमा की यह दशा देखकर वह तो सन्न हो गई। 'रमा! बहन! यह क्या? तू इतनी बीमार है और मुझे कहलाया तक नहीं?' कहती हुई वह दौड़कर चारपाई पर बैठ गई और उसके शरीर पर हाथ रखा। रमा विरक्ति से कांप उठी।

'नहीं, कुछ नहीं है, यह तो बस थोड़ा ज्वर आ गया था।'

'तू यहाँ अकेली मर रही है, मुझे बुलाया क्यों नहीं? ठहरो, माथे पर पट्टी रख दूँ। मैं तो ऐसी बुरी फँस गई थी कि···' गत दिवस की घटना स्मरण आते ही शीरीन के गालों पर लाली दौड़ गई।

रमा ने आँखें मूँदकर स्वस्थ होने का प्रयत्न किया? शीरीन की उपस्थिति उसका स्पर्श उसे असह्य लग रहा था। 'शीरीन! क्यों व्यर्थ कष्ट कर रही हो?'

'भाड़ में जाने के लिए! बीमार पड़ी यह अपराध कम किया; ऊपर से कष्ट की बात कर रही है।' करुण हँसी हँसकर शीरीन ने कहा। उसका हृदय भी रो रहा था फिर भी वह अपने मुख पर हँसी बनाए हुए थी। 'एइ यू सिली गर्ल!' कहकर खिलवाड़ से रमा को तमाचा लगाया।

रमा काँप उठी और उसे शीरीन ने देखा। उसने समझ लिया कि रमा का मन बेचैन है। परन्तु सच्चे कारण का ज्ञान उसे नहीं था।

'बहन! मिस्टर जगतराय ने तेरे निबन्ध के सम्बन्ध में क्या टीका लिखी है तुझे पता है?'

शीरीन की देखा-देखी रमा ने भी कुछ लिखना प्रारम्भ किया था। बेचारी रमा के बचे हुए साहस को नष्ट करने के लिए उसका इतना कहना ही पर्याप्त था। रमा का गला भर आया। शीरीन के मन में तो जगत रम रहा था।

'आई सी!' मैं समझ गई किंतु इतना बोलने में ही रमा की आँखों से अश्रुधारा वह निकली।

'अरे यह क्या? रमा! डियर? क्या बात है?'

'कुछ नहीं?' रुँधे गले से रमा बोली।

'मेरा सिर? तुझे हो क्या रहा है? बोल न क्या कष्ट है?'

'कुछ नहीं,' बेचारी रमा से कहे बिना न रहा गया, 'कृपा कर तू यहाँ से चली जा, नहीं तो मैं मूर्छित हो जाऊँगी।'

'शीरीन के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा, वह आँखें फाड़-फाड़ कर रमा को देखने लगी, 'रमा? यह क्या? मेरा आना ही तुझे पसन्द नहीं।'

'मुझे क्षमा कर बहन ।'

'पर बात क्या है ? पिछले साल बिना भोजन पानी के मेरी चारपाई पर बैठी रहती थी, याद है ?'

'हाँ, किंतु वह समय दूसरा था । शीरीन ! बहन ! मैं पैर पड़ती हूँ, जाओ, बाई साहिबा !'

'रमा मुझे बताओ, कुछ है अवश्य । नहीं बताओगी ! चाहे सूर्य पश्चिम में उगता तब भी तू मुझे निकालने वाली नहीं थी । सो आज क्यों निकाल रही हैं ?'

'क्यों पूछ रही हो ? मुझे चुपचाप पड़ी-पड़ी मरने दो ।'

'नहीं, बताओ है क्या ? देखो, मेरा मिजाज बिगड़ा तो नोच डालूँगी ; ठीक वैसे ही जैसे उस दिन किया था ।'

'क्या बताऊँ ? किस मुँह से तू पूछ रही है ? परन्तु तेरा दोष ही क्या है ?'

'पगली । कुछ साफ-साफ बतायेगी या पहेली में ही बात करेगी । मेरा दोष और बात क्या है ?'

'तेरा कोई दोष नहीं । तू तो भाग्यवान है ।'

'अरे वाह रे भाग्यवान !' कल का प्रसंग स्मरण आते ही कुछ मर्म से वह बोली, पर है क्या ?'

'देखो, हम दोनों के हृदय ने एक लक्ष्य देखा, तू विजयी हुई और मैं पराजित ।'

'कौन सा लक्ष्य ?'

'जगतराय !' तकिया में सिर छिपाकर रमा बोली । अब शीरीन कुछ समझी । वह चिल्ला उठी—'तू उनसे विवाह करना चाहती थी ?'

'पिताजी ने पूछा था परन्तु उन्होंने अस्वीकार कर दिया ।' रमा पुनः रो पड़ी ।

'और तू समझ रही है मेरे साथ विवाह करना उन्होंने स्वीकार कर लिया, क्यों ?'

रमा ने कुछ उत्तर नहीं दिया । शीरीन को इस दुःख के समय भी हँसी आ गई ।

उसने उत्सुकता से पूछा—'कैसे समझ लिया कि मैं विवाह करना चाहती थी ?'

'झूठ मत बोल, क्या मैं अंधी हूँ ? तू उन्हें चाहती थी ? और वह···'

'और वह मुझ पर न्योछावर हो गए । शाबाश ! इसी तरह वह निकाल रही थी ! बहन ! तू यदि स्वस्थ होती तो मैं भी रो पड़ती ।'

'क्यों ? तुझे भी अस्वीकार कर दिया ।'

'हाँ ! हाँ ! मुझे जिसे तू उसकी पत्नी समझ निकाल बाहर कर रही है मैं उनके पैर पड़ी, क्रुद्ध हुई—हाथ पैर पटके परन्तु सब व्यर्थ । वे टस से मस नहीं हुए । मेरी रमा ! हम दोनों इसमें भी समभागी हैं । कहकर रमा से लिपट गई । बहुत देर तक दोनों मूक रहीं । दोनों की आँखों में बहने वाली अश्रु सरिताओं का संगम हो गया ।

'रमा ! बहन ! हमने उन्हें समझा ही नहीं । उनका जीवन, उनकी भावना हम जैसों के लिए नहीं है । अन्य के साथ हृदय सुखी बने इसकी अपेक्षा उनके लिए तड़प-तड़प कर मरना भी गौरव है ।'

'किन्तु !' बोलते-बोलते रमा के कण्ठ को आँसुओं ने पुनः अवरुद्ध कर दिया ।

पता नहीं कब तक दोनों सखियाँ एक-दूसरे के गले में हाथ डाले बैठी रहीं । इसके पश्चात् शीरीन प्रायः वहीं रहने लगी ।

७७

रघुभाई और श्यामदास बैठे बातें कर रहे थे ।

'श्यामदास ! अब जो कुछ करना है जल्दी कर !'

'अरे देखो ! यह अमरानन्द आ रहे हैं । स्वामीजी ने कुछ किया क्या ?'

रघुभाई देखा कि अमरानन्द लुढ़कते-पुढ़कते हाँफते हुए दौड़े चले आ रहे हैं ।

रघुभाई । ओ रघुभाई ! अरे श्यामदास ! मेरा तो सत्यानाश हो गया । मेरे सब कागज कोई चुरा कर ले गया ।

दो मिनट तक तीनों एक-दूसरे की ओर देखते रहे ।

'कह क्या रहे हैं लक्ष्मणपुर वाले ?'

अमरानन्द अपना सिर पकड़ कर बैठ गया, 'मेरे सब परिश्रम पर पानी फिर गया । श्यामदास ! रघुभाई ! चाहे जो कुछ करो परन्तु मेरे कागज वापस लाने का प्रयत्न करो ।'

'अररर ! यह तो बड़ा बुरा हुआ । किन्तु गया कैसे ?' रघुभाई ने पूछा ।

कल रात को मैं कुछ देर में आया और सो गया । प्रातःकाल उठने पर देखा कि दरवाजा खुला है और कोठरी में जो ट्रंक रखी हुई थी वह गायब है । हाय ! हाय ! क्या हो गया ? ओफ ! मैंने उसकी रक्षा का उपाय तक नहीं किया ।'

कोई घबराने की बात नहीं है अमरानन्द ! अभी मेरे कागज तो हैं न ; बाजी हाथ से गई नहीं है ।'

'रघुभाई ! आप भाग्यवान हैं ।'

'अच्छा, श्यामदास तुम जाओ ।'

'हाँ, मुझे भी कुछ काम है ।' कहकर श्यामदास उठा और बंगले के बाहर चला गया ।

एक स्त्री रघुभाई से मिलने के लिए आई थी, वह बगल की 'कोठरी में बैठी थी । प्रथम बार वह यहाँ आई थी और उसकी विक्षिप्त-सी आँखें दीवार पर टंगे हुए चित्रों को देख रही थी । उस स्त्री ने श्यामदास को जाते हुये देखा और चौंक पड़ी, तुरन्त वह भी बाहर निकल कर उसके पीछे पीछे जाने लगी ।

श्यामदास तेजी से चलकर ग्राँट रोड पहुँचा । बाँदरा का टिकट लिया । थोड़ी देर में उस स्त्री ने भी श्यामदास को बाँदरा का टिकट माँगते सुनकर वहीं का टिकट लिया । श्यामदा इतनी जल्दी में था कि कोई उसका पीछा कर रहा है, यह भी देखने का उसे अवकाश नहीं था ।

स्टेशन पर एक व्यक्ति श्यामदास की बाट जोह रहा था । 'रामचरण ! आ गए ?'

'जी हाँ, तैयार हूँ !' रामचरण नया, उत्साही, क्रिमिनल इन्वेस्टिगेशन डिपार्टमेंट (गुप्तचर विभाग) का उदीयमान तारा था । इन दोनों में बहुत दिनों से मित्रता थी । क्योंकि पुलिस में कोई मित्र होने से साहस दूना हो जाता है ।

'देखो रामचरण ! यदि मुझसे कोई छेड़-छाड़ न करे तो तुम कुछ बोलना मत, यदि कुछ हुआ तो मैं तुम्हें बुलाऊँगा ।'

बाँदरा आया । दोनों व्यक्ति आगे-आगे चले और वह स्त्री उनके पीछे । स्त्री का स्वरूप पागल जैसा था परन्तु मनुष्यों की भीड़ में किसी ने उसकी ओर ध्यान नहीं दिया । 'घोस्ट हाउस' पहुँचकर रामचरण को श्यामदास ने दूर ही खड़ा कर दिया ।

'देखिए, कृपानिधान ! उस खिड़की से मैं बुलाऊँ तब ही आप आइयेगा, नहीं तो कोई आवश्यकता नहीं । काम तो सब ठीक हो जाने की आशा है और आपका काम शायद ही पड़े । परन्तु शायद बाबा साला मार बैठे ।'

'हाँ, हाँ, तुम निश्चिन्त रहो, डरो मत ।'

श्यामदास भीतर गया, पीछे-पीछे वह स्त्री भी गई ।'

'ऐ मिस्टर ! जरा सिद्धनाथ को बुला दो ।'

ब्रह्मानन्द ऊपर बुलाने गए । बंगले में चारों ओर शान्ति थी और वह

स्थान इतने एकांत में था कि शायद ही कोई उधर से आता-जाता हो। श्यामदास कमरे में जाकर सोचने लगा कि पासा इस समय साधा पड़ जाय तो बंबई छोड़कर चुपचाप सूरत चला जाऊँ, अब वृद्ध भी हो चला हुँ। दीवार पर एक कटार टंगी हुई थी, उस पर का काम वह देख रहा था। कला अच्छा काम लोग बनाते हैं। वह घूमा, सिर से पैर तक काँप उठा और चिल्ला उठा—'कौन ? गुलाब !

उस स्त्री ने राक्षसी के समान अट्टहास किया—'हाँ गुलाब ! इतने दिनों से कहाँ था ?'

'तू कहाँ से आई ? बाबा सब.....।'

'अरे कमीने ! तेरे पीछे-पीछे ग्रांट रोड से आई। अब कहाँ जायगा। मुझे छोड़ कर भाग गया नीच ! मेरा लड़का कहाँ रख छोड़ा है ?'

गुलाब की आँखों में पागलपन भरा, विष का तेज चमक रहा था, उसका अंग अंग काँप रहा था। श्यामदास तो स्तब्ध-सा हो गया। उसमें पहले ही अधिक साहस नहीं था, इस पर गुलाब आ गई जिससे वह अर्द्ध मृत हो गया।

'मैं क्या जानूँ ? तू जा यहाँ से।'

'अब मैं जाऊँगी ? तेरा कोट पकड़कर खड़ी रहूँगी। मुझे खराब करके मेरे लड़के को मार डाला, और अब जाने दूँगी ! अब तो मैं तुझे मरने पर भी छोड़ने वाली नहीं।'

श्यामदास खूँखार बन गया, उसकी आँखें चढ़ गईं। 'कमजात ! जाती है या नहीं ?' कहकर उसने एक तमाचा जड़ दिया। तमाचा इतना जबर्दस्त था कि गुलाब की आँखों में पानी आ गया, किन्तु वह वहाँ से हटी नहीं।

'मुझे मारता है ? ले मार, मार, मैं भी आज तुझसे समझूँगी।' कहकर वह श्यामदास से भिड़ गई। श्यामदास ने उसे मारने के लिए हाथ उठाया, उस का खून खौल रहा था। उसका वश चलता तो गुलाब को मार ही डाला होता। श्यामदास का हाथ गिरने के पहले ही छद्मवेषी ने उसे पकड़ लिया।

गेरुआ वस्त्र धारण कर और दाढ़ी लगा कर जगत आया और इन दोनों को अलग करने का प्रयत्न करने लगा। गुलाब पूरी ताकत से भिड़ी हुई थी, उसे अलग करना बड़ा कठिन था। और श्यामदास का क्रोध भी समा नहीं रहा था।

दोनों लड़ रहे थे और जगत उन्हें छुड़ा रहा था। दो तीन घूँसा खाने के बाद गुलाब को अलग कर सका। 'मामला क्या है ?'

'गुलाब ! वेश्या .....' हाँफता हुआ श्यामदास बोला—और गुलाब की ओर बढ़ा।

'गुलाब का नाम सुनकर जगत का रोम-रोम खड़ा हो गया। श्यामदास को उसकी ओर बढ़ने से रोका। आध मिनट तक जगत और श्यादास में हाथा-

पाई हुई, जगत ने गुलाब को नजदीक आते हुए देखा, परन्तु श्यामदास चीख उठा और जमीन पर गिर कर लम्बा हो गया। उसके सफेद कोट पर रुधिर की धारा बह रही थी। गुलाब कटार फेंक कर हँसती हुई भीतर की कोठरी से होती हुई ऊपर दौड़ गई। श्यामदास की चीख सम्पूर्ण बँगले में गूँज उठी। जगत ने देखा कि गुलाब ने श्यामदास का खून कर डाला है।

उसकी समझ में नहीं आया कि वह क्या करे। तुरन्त उसे मण्डल का ख्याल आया। पुलिस को बुलाकर गुलाब को दे देना चाहिए अन्यथा मण्डल का सब काम चौपट हो जायगा। ब्रिटिश भारत में मण्डल द्वारा खून! रघुभाई विजयी हो जायगा परन्तु साधू का वेश काम का नहीं। ऊपर जाकर साधारण कपड़े पहन आने के लिए कमरे का दरवाजा बन्द कर वह ऊपर गया।

अनन्तानन्द उपवन में बैठे हुए कुछ विचार कर रहे थे। कमरे में धमा-चौकड़ी की आवाज सुनकर उस ओर उनका ध्यान गया, इसी समय गेरुआ वस्त्र में जगत और सफेद कोटधारी श्यामदास के बीच हाथापाई होती हो ऐसा उन्हें लगा। कुछ नहीं जगत विजयी होगा—उसका शरीर बलिष्ठ है। इतने में स्वामीजी ने चीख सुनी तो उठकर दौड़े। उसी समय जगत ने दरवाजा बन्द कर दिया था। यहाँ से वे खिड़की के पास गये और जिस प्रकार चार दिवस पूर्व श्यामदास गया था उसी प्रकार वह भीतर गये।

उन्होंने श्यामदास को दम तोड़ते हुए देखा, उसकी छाती से रुधिर बह रहा था।

'अरे सिद्धनाथ! यह तूने क्या कर डाला? तेरी निजी शत्रुता ने यह क्या कराया?'

इतने ही शब्द स्वामी जी बोले और उन्होंने श्यामदास की ओर देखा। हृदय से अधिक लोहू निकलने के कारण उसके प्राण पखेरू उड़ गए थे। बिना घबराये नीचे झुककर श्यामदास की जेब में दिखाई पड़ने वाला कागज स्वामीजी ने निकाल लिया और स्वाभाविक स्वस्थता से तिजोरी के पास जाकर अपने जन्माक्षर के कागज निकालकर सब में दियासलाई रगड़ कर आग लगा दी। थोड़ी देर में सब कागज जो मण्डल के लिए भय रूप थे, जल कर राख हो गये।

रामचरण ने भी दूर से गेरुआ वस्त्र एवं सफेद कोट के बीच होने वाली हाथा-पाई देखी थी, चीख सुनी थी। वह मन में हर्षित हुआ 'प्रोमोशन' पास आता हुआ दिखाई पड़ा, वह पास में जाकर खड़ा हो गया।

७८

जगत गुलाब के पीछे गया। वह दौड़ती हुई कमरे में भीतर चली गई। उसे अपने कृत कर्म का कुछ ज्ञान हो रहा था। जगत आकर दाढ़ी और गेरुआ वस्त्र उतारने लगा। गुलाब को उसने देखा। वर्तमान गम्भीर समय, भूतकाल का अनुभव, गुलाब, श्यामदास, तनमन, सब उसके मस्तिष्क में भर गये।

'कौन ? गुलाब ! हरिलाल चाचा की पत्नी !'

'आप कौन हैं ?' गुलाब ने पूछा।

'मैं ?' दाँत पीसकर जगत बोला ; गुलाब को देखकर प्रतिशोध की भावना उत्तेजित हो उठी—मन में 'देवी' की प्रतिमा मूर्त खड़ी हो गई—उसकी अकाल मृत्यु स्मरण आ गई। सिद्धनाथ मिट गया, किशोर कालान्तर का यमराज बन कर खड़ा हो गया।

'मैं ? भाग्यहीना गुलाब ! मैं जगत हूँ ! तनमन याद है ? उसी का किशोर। आखिर मेरे हाथ में पड़ ही गई। याद है मेरी 'देवी' को तूने मार डाला। विषयी, क्रूर, पापिणी गुलाब ! देख, अब तेरी मृत्यु आ गई। श्यामदास कुमौत मरा और तू भी मरेगी !'

'ओ मौसी !' जगत की प्रचण्ड आवाज के बाद एक कोमल, मधुर, दयापूर्ण आवाज सुनाई दी। चारपाई पर अरुण सोया हुआ था, वह आँखें मलता हुआ उठा और गुलाब को देख चिल्ला उठा। भयभीत, काँपती हुई गुलाब ने अपने खोये हुए पुत्र को देखा और चीख उठी, झुककर अरुण को उसने उठा लिया, 'मेरा बेटा ! मेरा भीखा ! मेरा लाल ! कह कर बार-बार उसका चुम्बन किया।

जगत तो पागल-सा हो गया। उसका वैर, क्रोध, उसका माथा फटा जा रहा था, उस पर यह मौसी ?

'यह तेरा लड़का है ! तेरे और श्यामदास के पाप का फल ?' जगत गरज उठा। उसकी आँखें अग्नि के समान लाल हो गईं। उसकी शान्त नसों में ज्वाला दौड़ रही थी ; मण्डल, शान्ति, योग्य, स्वामी जी—वह सब भूल गया, उसकी नाक में से फूत्कार निकल रही थी।

'मेरा भीखा !' कहकर गुलाब ने चुम्बन लिया। अरुण गले से लिपट गया। वह अपनी माँ की गोद में जाकर ऐसा चिपट गया मानो वह सुख की सीमा को पहुँच गया हो।

'तेरा भीखा !' कह जगत ने अपने सुदृढ़ हाथों से गुलाब को दूर हटा दिया।

'मौसी ! मौसी ! मौसी को मारना मत। कह कर अरुण उससे लिपट

गया। जगत खून का प्यासा हो रहा था। उसने बलपूर्वक अरुण के बाल पकड़ कर उसे ऊपर तान दिया। कोमल, छोटा बालक डर गया, जगत के डरावने चेहरे की ओर देखने लगा।

'यह तेरा भीखा है! मेरी देवी का भाई!' जगत कठोर प्राणघातक रूप से हँसा। उसने बाल पकड़कर करुण को झकझोरा!

'भैया!' अरुण करुण स्वर में बोल उठा—'भैया! जगत भैया! आप क्यों ऐसा बोल रहे है यह तो मेरी मौसी है।'

गुलाब ने जा कर जगत का हाथ पकड़ लिया। उसकी आँखों से आँसू गिर रहे थे।

'जगत. किशोर! मेरे भीखा को छोड दो, मुझे मारो, लो। तुम्हारी तनमन को मैंने दुःखी किया था किन्तु इसने···' कहकर गुलाब जगत के मुँह की ओर देखने लगी।

जगत—विकराल और कुपित जगत—माँ-बेटे को देख रहा था। दोनों रो रहे थे। दृष्टि के सामने स्वामी जी खड़े हो गये। तुरन्त गुलाब और अरुण को एक बार झकझोर कर उसने अपने पास से दूर कर दिया—ढकेल दिया।

'चाण्डालो! हट जाओ, अपना पाप पूरा करो। जगत का जीवन अधिक उच्च काम के लिये है।' कहकर वह वहाँ स हट गया।

नीचे किसी ने दरवाज़ा खटखटाया। उसकी आवाज शान्त बंगले में गूँज उठी। तुरन्त नीचे पड़ा हुआ श्यामदास स्मरण हो आया।

'अरे, परन्तु मेरा मण्डल, मेरे स्वामी जी! दूसरा मार्ग नहीं है। मेरे प्रतिशोध का यह फल! स्वामी जी सच कह रहे थे अब मैं पूर्णरूप से प्रायश्चित करूँगा। गुलाब! चाण्डालिन! ले यह कुञ्जी! उस सन्दूक में दो एक हजार रुपये होंगे, उसे लेकर भाग जा, अरुण को ठीक से रखना। कोई पूछे तो कह देना कि श्यामदास का खून मैंने किया है।' कहकर जगत चला गया। उसने छाती पर हाथ रखा, भीतर प्रेम-चिह्न को दबाया और पुलिस बुलाकर समर्पण कर देने के लिए नीचे उतरा।

'खून किसने किया?' रामचरण पूछ रहा था।

'मैंने!' अनन्तानन्द की शान्त और स्वस्थ आवाज सुनाई दी।

रामचरण ने तुरन्त स्वामी जी के हाथ में हथकड़ी पहना दी। जगत ने आकर स्वामी जो देखा और उसकी आँखों के नीचे अन्धेरा छा गया, वह समझ गया। स्वामी जी ने सोचा कि मैंने खून किया है, और मुझे बचाने के लिए स्वामी जी ने आत्म समर्पण किया। 'स्वामीजी!' पुकार कर जगत चीख उठा।

अनन्तानन्द लौट पड़े, उनके मुखमण्डल पर दिव्य तेज चमक रहा था और

अपनी स्वाभाविक भव्यता को अलौकिक बनाते हुये वह शुद्ध हृदय से मुस्कराये 'बेटा ! मेरा समय पूरा हो गया है। देखा ? इसका नाम 'बुद्धिनाश ताण-श्यति !' इससे शिक्षा ग्रहण कर।'

'किन्तु आप·····'

'सुन, तेरी अपूर्णयता खरादने के लिए किसी को तो मूल्य देना ही चाहिये।' अनिवार्थ गौरव से स्वामीजी ने कहा। इतने में दयानन्द बाहर से आ गये—यह देखकर वह चकित हो गया।

'दयानन्द ! सिद्धनाथ बतावेंगे, इसमें घबराने का काम नहीं है। मेरी सूचनायें वहाँ रखी हैं।' कहकर तिजोरी की ओर संकेत किया। 'और मेरा उत्तराधिकारी एवं मण्डल का प्रमुख यह खड़ा है !' जगत की ओर संकेत करते हुए कहा, 'आज इसकी सब अपूर्णता मैं अपने साथ लिये जा रहा हूँ। चलो, पुलिसमैन !'

जगत चिल्ला उठा, 'अरे पर स्वामीजी ! आप बिना···पुलिसमैन ! मैंने !'

स्वामीजी तन कर खड़े हो गये—जगत की ओर उन्होंने आग्नेय नेत्र से देखा—कठोर, सत्तापूर्ण आवाज में कहा—'वत्स ! धर्म रक्षा करने का अभी बहुत समय है—खामोश रह; मेरा वचन ही तेरे लिए विधि-लेख है !'

गौरव से, दृढ़ता से स्वामीजी रामचरण के साथ चले गये।

७६

स्वामाजी के जाने के पश्चात् दयानन्द ने जगत की ओर देखा। जगत ने डबडबायी हुई आँखों से सब बातें सुनाईं और वह फूट-फूट कर रोने लगा।

'दयानन्दजी ! हाय स्वामीजी की हत्या मेरे पिता की, प्रभु की हत्या स्वयं मेरे हाथों हो रही है। मैंने उनका कहना नहीं माना, निजी शत्रुता को विपरीत बुद्धि से ऊँचा समझा। इस समय यदि मण्डल का विनाश होगा तो उसका कारण मैं ही हूँगा। मुझे बचाने के लिए ही स्वामीजी ने यह किया है ! उनकी धारणा कि हम दोनों में मण्डल के लिए मैं अधिक लाभप्रद हूँ। हाय मेरे स्वामीजी ! मेरी पूर्णता ? अधम अभिमानी जगत की पूर्णता के लिए यह मूल्य ? बारह वर्ष का समय व्यतीत हो गया; फिर भी मैं प्रतिशोध भूल नहीं सका; अन्त में यह मूल्य ? दयानन्द ? यह मेरा अधूरा योग और उसकी यह शिक्षा ?' जगत का बल क्षीण हो गया था।

'सिद्धनाथ ?' शान्त अचल स्वभाव वाले, विचारवान् दयानन्द ने कहा—'प्रतिशोध की व्यर्थता तो तुमने देख ही ली जिससे अधूरा योग पूरा हो गया।

अब उठो, देखा जाय कि स्वामीजी क्या रख गये हैं।'

दोनों शिष्यों ने अश्रुपूर्ण नयनों से स्वामीजी की सूचना पढ़ी। उसमें मृत्यु के पश्चात् क्या-क्या करना, सब का विस्तारपूर्ण विवरण दिया हुआ था। स्वामीजी ने कहीं पर भी भूल नहीं की थी। स्वामीजी को यथाशक्ति बचाने का मण्डल को किसी प्रकार का धक्का न पहुँचने देने का नियम रख, दोनों ने कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। अनन्त मण्डल के सभी अग्रगणों को तार द्वारा बम्बई बुलाया।

'कागजों के जल जाने से अब कोई भय शेष नहीं रह गया था, किन्तु सेक्रेटेरियट में किसी प्रकार का संदेह न फैले यह सम्भालने का कठिन काम जगत के सिर आ पड़ा। जगत मिस्टर वकील को लेकर होमी सेठ से मिला और उसकी सलाह के अनुसार कार्य करना उसने प्रारम्भ कर दिया। तीन चार दिन तो रात-दिन लगातार जगत को व्यस्त रहना पड़ा, उसे जरा भी विचार करने का समय नहीं मिला।

चौथे दिन बम्बई में जगत के मकान पर रात्रि के समय मध्यस्थ मण्डल के चौंतीस सभासदों की बैठक हुई। चम्पा और रणुभा आँसू बहाते हुए आ पहुँचे। जगत ने हृदय पर पत्थर रखकर उन सुसंस्कृत सभ्यों के समक्ष सब बातें रख दीं एवं स्वामीजी की सूचना पढ़कर सुनाई। प्रत्येक सभासद ने उसी के अनुसार चलने की सौगन्ध ली; अमरानंद को मंडल से निकाल बाहर करने की आज्ञा प्रचारित हुई, रणुभा ने मण्डल के अध्यक्ष पद से त्यागपत्र दे दिया। स्वामी जी के आदेशानुसार वह पद जगत को दिया गया, सभासदों को भी उस पर पूर्ण विश्वास था। सबके विचारानुसार और सदैव के लिए भय दूर कर देने के विचार से यह निश्चय हुआ कि जगत रत्नगढ़ का दीवान निर्वाचित किये जाने का प्रयत्न करे एवं रणुभा केवल राजा के वली बने रहें।

ऐसे विपद के समय सब कार्य ठीक-ठीक चल सके, इसके लिए सब लोगों के स्वामीजी से मिलने का प्रबन्ध बड़ी कठिनता से महान् परिश्रम के पश्चात् हो सका। दुःखार्त्त हृदय से सब लोग गये; स्वामीजी अचल गौरव से बैठे हुए थे, सब लोगों ने दण्डवत् प्रणाम किया। दयानन्द ने सब व्यवस्था कह सुनाई, खून किसने किया था यह भी बताया। मण्डल पर आई हुई विपत्ति बहुत कुछ दूर हो गई थी। अमरानंद नीचा देख चुके थे और सेक्रेटेरियट पर जगत का ऐसा प्रबल प्रभाव जम गया था कि मण्डल का निर्धारित कार्य वहाँ के कार्य-कर्त्ताओं ने करना स्वीकार कर लिया था।

'मेरे शिष्यगण ! तब मेरी दृष्टि सच्ची थी। मैंने अपना कर्त्तव्य पालन किया और यदि मैंने ऐसा न किया होता तो आज हम अपने सच्चे वीर से हाथ धो बैठे होते। हम ऐसी स्थिति पर पहुँच गये हैं जहाँ मेरे जैसे स्वामी की

आवश्यकता नहीं है, आपका प्रभावशाली अध्यक्ष आपको निश्चय विजयी बनायेगा। इसमें जो कमी थी वह पूर्ण हो गई है; इसका योग पूरा हो गया है।' तत्पश्चात् स्वामीजी ने सबसे यथायोग कहकर सबको विदा कर दिया। केवल जगत, चम्पा, रणुभा और दयानन्द रह गये।

'स्वामीजी !' जगत बोला—'अब हम···' उसकी आँखें डबडबा आईं।

'तुम विजयी होगे बेटा ! आर्य देश का भाग्य मेरे जैसे के अल्प प्रयास पर नहीं टिका है; उसके भविष्य का प्रकाशमय पृष्ठ लिखा जा चुका है। जहाँ योग की भावना कृष्ण के समान पूर्ण हो—जहाँ उत्साहवान, प्रभावशाली अर्जुन हो 'तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम' सृष्टि बाट जोह रही है। निराश होने का कोई कारण नहीं है।'

'हाँ ! परन्तु आपके जाने से मेरा मन·····' चम्पा ने कहा।

'चम्पा ! योगी से स्त्री क्यों बन रही है ? तब मण्डल का हिसाब कौन रखेगा ?' हँसते हुए स्वामीजी बोले। चम्पा रो पड़ी।

'जाओ ! इतने से ही सब लोग घबरा उठे। कल मण्डल पर अधिक विपत्ति आ पड़े तब क्या करोगे ? जाओ ! बहुत हुआ।' कहकर सबको विदा किया।

जगत अकेला रह गया—पैर पकड़ कर रोने लगा। 'मेरे प्रभु ! मेरे पिता !'

'सिद्धनाथ ! यह कायरता तुझे शोभा देती है ? देख, मेरे बचाव के लिए कोई प्रयत्न मत करना।'

'मैंने तो बैरिस्टर·····।'

'नहीं, मुझे आवश्यकता नहीं है, मैंने स्वयं मृत्यु बुला ली है और मेरे प्राण भी मेरी स्वेच्छा से ही जाएँगे, दूसरों की इच्छा से नहीं।'

'स्वामीजी ! दूसरे के पाप के प्रायश्चित के लिए आपका शरीर·····।'

'इससे बढ़कर और क्या हो सकता है ? यह बात छोड़ सिद्धनाथ ! तेरी 'देवी' का प्रतिशोध अन्त में तुझे शुभ मार्ग दिखायेगा। आखिर उसकी सौतेली माँ को बचाने के लिए तू स्वयं मरने के लिए तैयार हो गया, यह आत्म-त्याग, यह भावना भविष्य में तेरे हृदय को निर्मल रखेगी।'

'प्रभो ! आपके मार्ग पर चल कर कृतार्थ होने की आशा रखूँगा।'

'नहीं तेरी बुद्धि ही तुझे मार्ग प्रदर्शित करेगी वह शुद्ध होती जा रहा है। देख, अब संन्यास मत लेना, समझा।'

'जी नहीं, मेरा विचार·····।'

'लेने का नहीं है। मेरे मण्डल का अध्यक्ष संन्यासी नहीं गृहस्थाश्रमी होना चाहिए। इसी से मैं सफल नहीं हुआ। सभी आर्य अनुजों को हमें अपना

सहचर बनाना है। यदि सभी संन्यासी बन जाएँगे तब भला क्या होना है? ब्रह्मा का काम स्त्री बिना चल सकता है, किन्तु तुझे अब विष्णु रूप से रहना है। लक्ष्मा बिना क्षीरसागर शून्य रहता है—जानता है? तेरे हृदय की पीड़ा भी मैं जानता हूँ—जानता कुछ नहीं! पर भविष्य के जीवन में कोई सुशिक्षित रमणी तेरा साथ देगी। यदि मण्डल का अध्यक्ष तुझे बनाना न चाहता होता तो शीरीन से विवाह कर लेने की कभी की आज्ञा दे दी होती। कोई जल्दी नहीं है। अब जा बेटा! निराशीतिर्ममाभूत्वा युध्श्चय विगतज्वरः!' कहकर स्वामीजी ने जगत का आलिंगन किया। जगत अवरुद्ध कंठ से घर आया।

इतने दिनों के पश्चात् आज थोड़ा विश्राम करने का भी अवसर मिला, शीरीन के यहाँ जिस दिन पार्टी थी उस दिन से आज तक उसे शारीरिक अथवा मानसिक शांति नहीं मिली थी। शरीर भी कुछ दुर्बल हो गया था। सदैव मस्त रहने वाले मन को पहले शीरीन के सामने, फिर गुलाब के सामने, दयानन्द के सम्मुख और अन्त में स्वामीजी के आगे रोना पड़ा था; अस्वस्थ बन कर स्थिरता खो बैठा था। उसे विचार करने का समय ही नहीं मिला था। प्रतिशोध का विचार, गुलाब को क्यों जाने दिया, स्वामीजी कह रहे थे कि मैंने योग प्राप्त कर लिया है यह किस लिए? इन सब विषयों पर विचार कर जीवन में एकाग्रता लाने का प्रयत्न वह न कर सका था। इतने दिनों की इतनी भयंकर घटनाएँ सिनेमा के खेल के समान उसकी दृष्टि के सामने निकल गई थीं—उसके जीवन में, विचारों में दूसरे परिवर्तन हुए थे, परन्तु वह अभी स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ रहे थे।

घर पहुँचते ही शीरीन का पत्र मिला।

'प्यारे जगत!'

तीन बार आई किंतु अभाग्यवश भेंट नहीं हुई। मैं रमा के यहाँ रहती हूँ इसलिए यदि भेंट न हो तो क्षमा कीजियेगा। आपकी ही—शीरीन'

पत्र पढ़ा। स्वामीजी कहते थे, मन कह रहा था कि शीरीन के साथ विवाह नहीं किया जा सकता। ठीक, अभी बहुत समय है। अरे पर 'देवी?' उसका स्थान शीरीन लेगी? जगत ने पत्र फाड़ डाला और रघुभाई के घर जाने के लिए वह निकल पड़ा।

८०

बहुत दिनों के बाद आज जगत रघुभाई के यहाँ आया। बीच में शीरीन से उसने सुना था कि रमा बहुत निर्बल हो गई है। गुलाब को उसने क्षणिक

आवेश में छोड़ दिया था परन्तु रघुभाई को उसी प्रकार छोड़ देने में लाभ न था, ऐसी उसकी धारणा थी। फिर भी यह विचार तो उसके मनमें ही उदय हुआ कि अब प्रतिशोध लेने से कोई लाभ नहीं है। दबे हुए, निराश हृदय में विचार आया कि रमा मरणासन्न है अतः रघुभाई भी अवश्य दुःखी होगा और उसका प्रतिशोध फलीभूत होता होगा। परन्तु उस प्रतिशोध में अब आवेश नहीं था।

रघुभाई को देखकर जगत आश्चर्य चकित हो गया, बुड्ढा तो उलटे और भी हृष्ट-पुष्ट दिखाई पड़ रहा था और शोकग्रस्त होने का कोई चिन्ह भी नहीं था।

'ओ हो हो! जगत भाई! बहुत दिनों बाद?' स्वाभाविक शिष्टता से उसने पूछा।

'कुछ काम में व्यस्त था। आप कैसे हैं?'

'मजे में! परन्तु आप जरा सूख गये लगते है?'

'रमा बहन कैसी हैं?'

'यह डाक्टर आए हैं, इन्हीं से पूछ लीजिए।'

डाक्टर गम्भीर चेहरा बनाए हुए आकर बैठ गए।

'कैसी है, डाक्टर?' रघुभाई ने पूछा।

'हार्ट का ऐक्शन बड़ा ही धीमा है। मुझे तो कोई रोग प्रत्यक्ष दिखाई नहीं दे रहा है। एक सप्ताह होने पर कुछ कहा जा सकता है। मेरा ख्याल है कि इसी बीच में कुछ होगा।'

'जान का तो खतरा नहीं है न?' रघुभाई ने पूछा।

जगत के विस्मय का पारावार न रहा। यह पिता है! न तो आँख में पानी है और न आवाज में कम्पन, निश्चिन्ततापूर्वक मुँह में पान चबा रहा है।

'कुछ कहा नहीं जा सकता।' कह कर डाक्टर उठा।

'रमा बहिन की तबियत इतनी अधिक खराब है!'

'तुम्हारी ही करतूत है।' शान्तिपूर्वक रघुभाई ने कहा।

'मेरी?'

'हाँ, आजकल की लड़कियाँ जो प्रेम-प्रेम रटती हैं, उसी का यह परिणाम है!

'नहीं, रघुभाई! यह तो आपके कार्य का परिणाम है।' जगत ने कठोरता से कहा। दबा हुआ हृदय रघुभाई को देखकर कठोर फिर हो गया था।

'मेरा? कैसे?' रघुभाई चौंका।

'भूल गए? गुणवन्ती को दुःख दिया—उसे रुलाया, यह भूल गए? ईश्वर ने उसके पुत्र को प्रतिशोध के लिए भेजा और वृद्धावस्था में से आपको दुःखी

बनाया; गुणवन्ती की आत्मा को अब शान्ति प्राप्त होगी।' जगत आवेश में कह गया। कुछ दिनों से वह इतन निर्बला हो गया था कि जरा-जरा सी बात में उग्र हो उठता था।

रघुभाई खिलखिलाकर हँस पड़ा। उसकी आँखों से विष प्रकट हो रहा था, वह बोला—'गुणवन्ती की आत्मा को शान्ति, ऐसी लड़की के मरने से मैं दुःखी होने वाला हूँ ! खूब !'

जगत व्यग्र हो उठा, क्या रघुभाई को पुत्री के प्रति जरा भी स्नेह नहीं है ? क्या उसका प्रतिशोध—रमा को मार डालने की योजना निरर्थक है ? 'क्या ?'

'क्या-क्या ?' विजयसूचक आवाज में रघुभाई बोला, 'इस लड़की के मरने से दुःखी मैं होऊँगा ! छोकरे तेरे जैसे न मालूम कितने ही को मैंने रास्ता बता दिया है।' कहकर रघुभाई पुनः अट्टहास कर उठा और जगत की ओर तिरस्कार से देखने लगा।

जगत खिसियाना पड़ गया। यह है उसका प्रतिशोध, निर्दोष युवती पर अकारण ही अत्याचार, वहाँ अनन्तानन्द जी की जान गई, यहाँ रमा की ना रही है। उसका हृदय दया से भर गया। जाने के पूर्व रघुभाई के मन में जगत को कुछ स्वाद चखाने का विचार आया।

'छोकरे !' हँसी आने से रघुभाई ने कहा, 'इस लड़की का पौरा ही कुछ ऐसा अनिष्टकर है। देख, यह बीमार पड़ी और मेरा भाग्य चमका।'

जगत ने इस स्वार्थी, चाण्डाल पिता की ओर एक तिरस्कारपूर्ण दृष्टि डाल कर पूछा—कैसे ?'

'देखो !' कहकर रघुभाई ने एक समाचार पत्र निकालकर अनन्तानन्द की गिरफ्तारी एवं श्यामदास की मृत्यु का समाचार दिखाया।

'इससे क्या ?' जगत ने अनजान बनकर पूछा।

'इससे क्या ? पन्द्रह दिनों में रघुभाई रत्नगढ़ के दीवाने की गद्दी पर; क्या समझे ?' जरा घमण्ड से रघुभाई ने कहा।

जगत जरा तनकर बैठ गया, उसकी आँखों में अग्नि बरसने लगी, 'रघुभाई ! यह भी क्या कोई लड़कों का खेल है ?'

'तू क्या जाने ? अब अनन्तानन्द के अनुयायी को निकाल बाहर करने में क्या बाधा है ? सेक्रेटेरियट में वर्त्तमान दीवान रणुभा को हटाकर दूसरा दीवान नियुक्त करने की बातचीत भी चल रही है।

'ऐसा ? 'तेरे मन कछु और है कर्त्ता के कछु और !' स्वामी जी मूर्ख नहीं थे।'

'इस सम्बन्ध में तू क्या जाने ? अनन्तानन्द जैसे बहुतों को मैंने देखा है।

अब वह बच नहीं सकेगा।

'नहीं, वह स्थूल शरीर से मरेंगे पर उनकी अमर आत्मा जीवित रहेंगी।' गौरव से जगत ने कहा। उसका चेहरा भव्यता से दीप्त हो रहा था।

'यह कैसे ?'

'उसके मण्डल का अध्यक्ष निर्वाचित हो चुका है।'

'ऐसा कौन है ?' जरा आतुरता से रघुभाई ब पूछा।

'आपका सेवक ?' जगत ने नम कर कहा।

रघुभाई खिलखिला कर हँस पड़े। 'छोकरे ! कहाँ तू और कहाँ अनन्त मण्डल का अध्यक्ष ? मस्तिष्क तो नहीं खराब हो गया है या उपहास कर रहा है ?'

'दो में से एक भी नहीं। अनन्त मण्डल गत दस तारीख को एकत्रित हुआ और मैं अध्यक्ष नियुक्त किया गया।'

'तू ?' रघुभाई ने घबराई आवाज में पूछा।

'जी हाँ ! यदि दीवान होने की आशा रखते हों तो उसे भी छोड़ दीजिए। स्वामी जी अमर हैं।' कहकर जगत ने जेब में से कागज निकालकर दिखाया। सेक्रेटेरियट के एक कार्यकर्त्ता का पत्र था। उसे देखकर रघुभाई भौंचक्का-सा हो गया। वह बोल उठा—'क्या जगतराय नीलकंठ रत्नगढ़ का दीवान !

'जी हाँ, वही। गुणवन्ती का और आपके राय जी का पुत्र।'

'तू ? परन्तु तू कहाँ से टपक पड़ा ?'

'सिद्धनाथ मैं ही हूँ। रघुभाई, गुणवन्ती की आत्मा को अब शान्ति मिलेगी।' कहकर जगत तिरस्कार से रघुभाई को उसकी आशा के स्वप्नों में विचरता हुआ छोड़ उस कमरे का अपवित्र वातावरण त्यागकर चला गया।

८१

जगत रघुभाई को छोड़कर निकला तो दूसरे कमरे में कोई दूसरी वार्ता चल रही थी। शीरीन चारपाई पर बैठी थी। मरणासन्न रमा लेटी हुई थी, उसकी ओर एक-एक हड्डी गिनी जा सकती थी, उसके स्वरूपवान चेहरे के बदले दो बड़े-बड़े नेत्र एवं पिचके हुए गाल रह गये थे। उसे देखते ही तुरन्त लोग समझ लेते कि इसके दिन नजदीक आ गये हैं।

'शीरीन ! तू अच्छी तरह जानती है कि वह अब घर भी नहीं आते ?'

'अरे, मैं उनके यहाँ जाती हूँ तब भी वे नहीं मिलते।'

'परन्तु बिना भेंट हुए ही मृत्यु हो जाय तब ?' रमा की आँखें डबडबा

आई ; शीरीन ने उसकी आँख पोंछकर अपनी आँखें पोंछी।

'अरे मैं जाकर बुला लाऊँगी, तू घबराती क्यों है ? देखो जरा शर्बत लो कुछ नहीं लोगी तब कैसे चलेगा ?'

'बहन ! क्या कहूँ ? गले के नीचे नहीं उतरता। मुँह बेस्वाद-सा बना रहता है।'

'फिर भी जरा चेष्टा तो कर।'

'दो।' रमा ने दो-एक चम्मच बड़ी कठिनता से गले के नीचे उतारा, परन्तु उलटी हो जाने के भय से और नहीं लिया।

'शीरीन ! वह ढँकी हुई तस्वीर तो ले आ।'

'कौन सी ? यह ?'

'हाँ इसे मेरे सामने रख दे।'

शीरीन ने रखकर पूछा—'यह कौन है ?'

'जब मैं छोटी थी तब मेरी एक सखी थी, वह बेचारी बड़ी दुःखी थी। जबरदस्ती उसका विवाह किया गया था। बेचारी मर गई। वह मेरी सर्वप्रथम मित्र थी।

'और दूसरी ?'

'तू !' कहकर रमा ने अपना निर्बल हाथ शीरीन की गोद में रख दिया। 'प्रथम प्रियतमा का क्या हुआ ?'

'तनमन बहन बेचारी मर गई। मृत्यु के समय में उपस्थित थी अत्यधिक कष्ट भोग कर उसने प्राण विसर्जन किये। उसके 'किशोर' का एक रुमाल था। पुरानी बात स्मरण कर निर्बलता से हकलाते हुए रमा ने कहा।

'अभी भी ? ?'

'यह है।' कहकर तकिया के नीचे से रमा ने रुमाल निकाला, अपने अधरों से लगाया और शीरीन को दे दिया।

आधा बन्द दरवाजा खुल गया, उसमें जगत खड़ा था। मालूम पड़ता था कि उसका आंखें निकल पड़ेंगी। वह तनकर खड़ा था, उसका शरीर काँप रहा था। वह सजीव प्रेत के समान दिखाई पड़ रहा था। दोनों सखियाँ चौंक उठीं, रमा के मुँह से चीख निकल पड़ी।

यन्त्रवत् जगत सीधा वहाँ आया, सामने रखी हुई छवि की ओर देखकर दबी हुई आवाज में उसने पूछा—'यही आपकी तनमन बहन थीं।'

'जीं हाँ, क्यों ?'

उसकी मृत्यु के समय आप उपस्थित थीं ?'

'मेरी ही गोद में बेहोश हुई।'

जगत ने जोर से शीरीन के हाथ में से रुमाल छीनकर आँखों से लगा

लिया ; रूमाल पीला पड़ गया था, एक कोने पर 'देवी' और दूसरे कोने पर 'किशोर' का नाम रेशम से कढ़ा हुआ था। जगत ने उसे हाथ में दबा लिया।

दोनों बालाएँ चकित होकर देखती रह गईं।

जगत ने रूमाल हथेली में दबाया, उसे अधरों से लगाया। तुरन्त उसके कन्धे ऊँचे हुए, वह कुर्सी पर बैठ गया और माथा टेबुल पर रखकर रो पड़ा। इतने दिनों का श्रम, अस्वस्थता सब एकत्र हो गई थीं, अन्तिम घटना असह्य हो गई। शीरीन दौड़कर आई, 'जगत ! यह क्या ?'

'यह क्या ? यह मेरा दुर्भाग्य है। देखो यह क्या लिखा है ?' हिचका भरते हुए जगत ने पूछा।

'देवी'—'किशोर'।

'यह मेरा है।' फिर हिचकी लेते हुए जगत बोला।

'एं !'

'आप ?' दोनों बोल उठीं। बीमार रमा चारपाई से उठकर खड़ी हो गई। उससे खड़ा भी नहीं हुआ जा रहा था।

'आप तनमन बहन के·····'

'किशोर !'

'आप !'

'हाँ, मैं ही अभागा पापी किशोर हूँ।' कहकर फिर जगत ने अपना सिर रख दिया। शीरीन ने उसके सिर पर प्रेम से हाथ फेरा, जगत ! यह आपको शोभा देता है ?'

'शीरीन ! आप इन्हें···' शीरीन घूम पड़ी, रमा लड़खड़ा रही थी, खड़ी होने से अत्यधिक परिश्रम पड़ा था।

'जगत ! जगत ! रमा गिरी·····'

जगत उठकर दौड़ा; रमा को उसने बाहों में सँभाल लिया और उठाकर चारपाई पर लिटा दिया।

थोड़ी देर में रमा सावधान हुई। तब जगत और शीरीन पास में बैठे थे। उसने जगत का हाथ अपने हाथ में ले लिया और पाँच मिनट में उसे निद्रा आ गई।

'शीरीन !' जगत ने कहा, 'मेरे अभिमान की मुझे पूरी-पूरी शिक्षा मिल गई। अपना प्रतिशोध कहाँ और किससे लूँ ?'

'क्यों ?'

'क्योंकि अपने जीवन में भूल के अतिरिक्त और कुछ मैंने किया ही नहीं।'

८२

जगत और शीरीन बहुत देर तक वार्तालाप करते रहे। अधिक समय हो जाने पर जगत ने जाने के लिए अपना हाथ रमा के हाथ में से हटाने का प्रयत्न किया; तुरन्त रमा ने एक निःस्वास लेकर आँखें खोल दीं और पूछा—'जा रहे हैं ?'

'हाँ, कल सवेरे जाऊँगा।'

'ऐसे ?' कहते-कहते रमा की आँखें अश्रुपूर्ण हो गईं और गला भर आया। जगत का हृदय फटने लगा, उसने इस बाला के प्रति अन्याय किया था; बिना अपराध उसे कष्ट दिया था। तनमन की स्थिति की आभा मात्र उसे दिखाई पड़ गई। वह भी इसी प्रकार उसके वियोग में मर गई थी फिर उसने वैसा ही नाटक प्रारम्भ किया था। उसे कोई कहता प्रतीत हुआ। 'जैसे मुझे छोड़ दिया, वैसे ही दूसरे को कभी न छोड़ना।'

उसका हृदय दयार्द्र हो गया, रमा को दिए हुए दुःख का बदला देना चाहिए; डाक्टर ने कहा था कि थोड़े ही दिनों की मेहमान है। जगत स्नेहपूर्ण आवाज में बोला—'रमा ! रो मत, यदि तू कहे तो न जाऊँ।'

शीरीन तुरन्त बोल उठी—'रहिये ! रहिये ! रमा को अच्छा लगेगा।'

'अच्छी बात है नहीं जाऊँगा। सो जा रमा !' कह कर जगत बैठ गया।

निर्गत रमा मुस्कराई, जगत का हाथ मानो कोई छुड़ा रहा हो, इस भय से पकड़ लिया और फिर निद्रावश हो गई। रात्रि भर रमा सोती रही।

'रमा ! खूब रही, मुझे तो रात भर जगाती थी और रात भर मिनकी भी नहीं।' शीरीन ने कहा।

रमा के सफेद, मृतक के समान गाल पर लाली दौड़ गई, उसने कुछ उत्तर नहीं दिया। इतने में डाक्टर आ गए, रमा की परीक्षा करके वह जगत से बोले—सचमुच ! यह तो आश्चर्यजनक लगता है। आज तो बहुत परिवर्तन हुआ है। ऐसा ही चार दिन रहे तो इसके जीवन की गारण्टी मैं लेता हूँ। आप कौन हैं ?'

'मैं इनका मित्र हूँ।'

'आप कल आए हैं ? आप यहाँ रहें तो यह जल्दी स्वस्थ हो जायगी।'

'अच्छी बात है ! यदि मेरे रहने से इन्हें आराम होता हो तो मैं रहने के लिए तैयार हूँ।'

'ठीक, तो मैं चलता हूँ।'

बेचारी शीरीन का बुरा हाल था। रमा उसके लिए बहन के समान थी,

जगत उसके लिए पति से भी अधिक प्रिय था, दोनों के साथ रहना था और रमा का निर्दोष आनन्द बराबर शूल के समान उसके हृदय में चुभता जिसे सहन करना ही पड़ा था। वह दोनों के साथ हँसती किन्तु मन व्यथित था। क्या करे ?

दस बजे रघुभाई ने भोजन करने के लिए जगत के पास आदमी भेजकर पुछवाया, जिसका कुछ कठोरता से जगत ने उत्तर देते हुए कहा—'नहीं' मैं अपने यहाँ भोजन करूँगा, यहाँ नहीं।'

'क्यों ?' रमा ने मन्द स्वर में पूछा।

'स्वीकार कर लीजिए।' शीरीन बीच में ही बोल उठी—'नहीं तो इसका रोग फिर बढ़ जायगा।'

जगत ने दाँत पीसकर भोजन करना स्वीकार कर लिया। रमा ने 'थैंक्स' कहा।

तीन-चार दिनों में ही रमा में अत्यधिक परिवर्तन हो गया जिससे जगत को छुट्टी मिल गई। अब तक जो कोई उससे मिलने आता उससे बगल के कमरे में वह मिलता।

'शीरीन ! ये लोग कौन हैं ?'

'कौन ? जगत से मिलने के लिए आते हैं वे क्या ?'

'हाँ।'

यह सुनकर शीरीन ने जगत सम्बन्धी सब बातें उसे बताईं।

'शीरीन तू ठीक कह रही थी। यह देव स्वरूप हैं।'

'हाँ, किन्तु यह बात मैं तेरे से पहले ही जान गई थी; क्यों ?'

'भला मैं तेरे उपकार को भूल सकती हूँ। तू अपने हृदय पर पत्थर रख कर यह सब मेरे लिए कर रही है; यह भी क्या मुझसे छिपा है ?'

रमा के स्वस्थ होने पर जगत केवल तीन-चार घंटे के लिए आता था बाकी समय रमा बेचैनी में व्यतीत करती। इस समय जगत के लिए काम इतना अधिक था कि उस पर ध्यान दिए बिना छुटकारा नहीं था। जगत जब आता तो उसके शब्दों को रमा ध्यान से सुनती और उसका हाथ अपने हाथ में रख कर पड़ी रहती। रघुभाई ने तो उससे मिलना बन्द कर दिया था, ऊपर ही पड़े रहते थे।

जगत ने अपना सारा इतिहास एक दिन कह सुनाया, केवल रघुभाई से प्रतिशोध लेने की बात नहीं कही। रमा का कोमल स्नेहशील स्वभाव उसका शब्द मुरली पर नाच उठता, रो पड़ता था। जगतने अपने स्वभाव पर निरन्तर रखे हुए अंकुश को हटा दिया जिससे उसके स्नेहशील, भावनापूर्ण स्वभाव की गम्भीरता देखकर पहले के कठोर, क्रूर जगत प्रेममाला अर्पण

करने वाली रमा तो पागल ही बन गई।

एक दिन गम्भीर मुख बनाए हुए जगत आया, 'शीरीन ! तुम्हें आना चाहिए।

'कहाँ ?'

'जेल में।'

'आज मुकदमा है क्या ?'

'हाँ !'

'रमा ! मैं जाऊँ ?'

शीरीन के साथ जगत जब कोर्ट में पहुँचा तो उस समय तक कमरा बिलकुल भर गया था। मण्डल के सभी सदस्य भिन्न-भिन्न वेश में वहाँ बैठे हुए थे। एक कोने में चम्पा बैठी थी। थोड़ी देर में सेशन्स जज आये, वह भारतीय थे।

पहला मुकदमा स्वामीजी का था। पेशकार ने कैदी को भीतर लाने की आज्ञा दी। कमरे में पूरा सन्नाटा था। एक राजेन्द्र के समान स्वामीजी आए और कटघरे में खड़े हो गये। उनका विशाल शरीर और भी विशाल दिखाई पड़ रहा था। उनके चेहरे पर पहले जैसी ही भव्य प्रभावशाली शान्ति, नेत्रों में वैसा ही अद्‌भुत सर्वग्राही एवं स्थिर तेज विराजमान था। उन्होंने अपने शिष्यों को देखा और मृदुतापूर्ण हास्य से सब को सम्बोधन किया। अपनी श्रेष्ठता से सब की ओर माया से, दया से देख रहे थे।

जज ने पेशकार से पूछा, पेशकार ने अनंतानन्द का पूर्व इतिहास बताया इसके बाद रामचरण की गवाही हुई। फिर चार्ज सुनाकर जज ने पूछा—'अपराध स्वीकार करते हो या नहीं ?'

स्पष्ट एवं स्थिर आवाज में अनंतानन्द ने उत्तर दिया—'आपका प्रश्न करने का अधिकार मैं स्वीकार नहीं करता।'

जगत काँप उठा, चारों ओर शान्ति छा गई। जज ने जूरी को सम्बोधित किया, उनकी राय ली, कुछ लिखा, ऊपर देखा; नाक पर चश्मा रखा, तिरस्कार से स्वामीजी की ओर देखते हुए, गला साफ कर वह कहने लगा—

'अनंतानंद ! जो तूने भयंकर कृत्य किया है उसके लिए न्यायानुसार तू कठोरतम दण्ड के लायक है; तुझे फाँसी की सजा दी जाती है।'

इतने से सन्तोष न कर जज ने आगे कहा—'तेरे जैसों को सजा देते समय मुझे एक प्रसन्नता होती है कि इस देश के भार रूप पाखण्डी साधुओं में से आज एक कम हुआ।'

स्वामीजी ने जज की ओर घूरकर देखा, उनकी आँखों में से विद्युत-सी

ज्वाला निकल रही थी उनका स्पष्ट कंठ स्वर कोर्ट की शान्ति में गूँज उठा—'बेटा ! तू अपना काम कर, मुझे अपने धर्म का पता है।'

शब्द के उच्चारण में सर्व, तिरस्कार का प्रभाव था। लोग देखते रह गये। जज लज्जित हो गया। अनन्तानंद पुलिसमैन के साथ भीष्म के गौरव से चल पड़े। ऐसा लगा जैसे सजा उन्हें न होकर दर्शक समुदाय को हुई है। दो स्त्रियों के आक्रन्द का शब्द सुनाई दिया।

फाँसी के दिन प्रातःकाल जेल में जगत, दयानन्द तथा दो-तीन अनुयायी गये। बड़ी सिफारिश के बाद स्वामीजी की फाँसी देखने की आज्ञा उन्हें प्राप्त हो सकी थी। जेलर से वह मिले, अत्यन्त आश्चर्य से उन्होंने सुना की अनंतानंद ने रात्रि में देह त्याग कर दिया है। जेलर उन्हें वहाँ ले गया। पलथी मारकर स्वामीजी मृत बैठे हुए थे, समाधि द्वारा उन्होंने प्राण त्याग किया था। जीवितावस्था में जैसे वे प्रभावशाली थे वैसे ही मृत्यु के पश्चात् भी थे। सभी ने झुककर प्रणाम किया।

८३

रमा दिनों दिन स्वस्थ होती गई, अब वह धीरे-धीरे वृद्धा की तरह कमर पर हाथ रखकर अकेले चलने भी लग गई थी। शीरीन अब कम आती थी ; जिसके लिए अपना हृदय भस्म कर डाला था उसका पास वह अधिक रह नहीं सकी। एकान्त में पढ़ने-लिखने में ही भावी जीवन का मार्ग ढूंढ निकालने का उसने निश्चय किया। वह स्वयं अधिक भावना प्रधान स्वभाव की नहीं थी जिसने जितना गहरा घाव किसी अन्य स्त्री को लगता उतना उसे नहीं लगा। एक अस्वस्थ क्षण में जगत के प्रति उसके प्रेम एवं मान ने बुद्धि की मर्यादा त्याग कर आवेग का स्वरूप धारण किया था परन्तु फिर घटनाओं ने उसे पूर्ववत् बना दिया था।

ज्यों-ज्यों रमा की निर्बलता कम होती गई त्यों-त्यों अधिक बीमारी के समय जगत के लिए बेचैनी भी होती गई। दिन में दो घंटे के लिए भी जगत आ जाता तो वह संतुष्ट हो जाती थी। प्रेमपूर्ण नयनों से उसे देखा करती और उसकी बातें सुनती। उनके बीच विवाह संबंधी बातचीत कभी न चलती, रमा इस ओर अधिक ध्यान भी नहीं देती थी; जगत की हास्यकिरणों की ताप से वह फिर शक्ति प्राप्त कर रही थी। शक्ति के साथ-साथ विचार उत्पन्न हुआ और वह व्यग्र हुई। अब क्या करना ? थोड़े ही दिन पहले जगत ने साफ-साफ अस्वीकार कर दिया था, शीरीन के प्रेम की अवगणना की थी, अब क्या

विवाह करेगा ? उसका हृदय घबरा उठा । थोड़े ही दिन में उसे रत्नगढ़ जाना पड़ेगा । वह चला जायेगा ; उसकी दृष्टि-मर्यादा में से सदा के लिये अन्तर्ध्यान हो जायगा । इतने दिनों के प्रगाढ़ परिचय से वह जगत की जीवन भावना समझ गई थी । उसे मृत्यु से बचाने के लिए जगत चाहे जितना आत्म-त्याग कर दिन भर बैठा रहे, समय पाने पर शायद विवाह भी कर ले ; परन्तु क्या वह उचित होगा ? उस के आत्मत्याग का लाभ उठाकर, 'वह तनमन के मृत्यु के समय उपस्थिति थी यह आकस्मिक उपकार चढ़ाकर उसे विवाह करना उस की भावनाओं को कुचल डालना, उसका पवित्र जीवन प्रवाह कलंकित करना, एवं प्रमाद विहीन सूखा, रसहीन लग्न सम्बन्ध स्थापित कर उसके गले मढ़ जाना क्या ठीक होगा ? रमा का सूक्ष्म, सुसंस्कृत स्वभाव इस दुःख से फिर व्यथित हो उठा ।

जगत प्रायः ; वही दृढ़, सत्ता दर्शक व्यक्तित्व । वह बैठा और हँसा । अब उस में कठोरता का अंश मात्र भी नहीं था ।

'रमा ! अब कैसी हो ?'

रमा की आँखें हँस रही थीं, 'आपको कैसी लग रही हूँ ।'

'अब थोड़ी ही देर है ।'

'किस बात की ?'

'यहां से दौड़ती हुई शीरीन के यहाँ जाने की ।'

'आपको तो दिन भर शीरीन ! उसे और आपको दूसरा भी कोई धंधा है ?'

'हाँ ! हम दोनों तुम्हें स्वस्थ करने का धंधा करते हैं रमा !' जरा गंभीर स्वर में जगत बोला—'वह पुण्यवान एवं सुशिक्षित आत्मा है । उसकी जोड़ी मिलनी कठिन है ।'

'मैं जानती हूँ । आज कितने ही दिनों से वह माँ से भी बढ़कर मेरी सेवा कर रही है ।'

'और मेरी तो कोई गिनती ही नहीं ।'

रमा लजाकर नीचे देखने लगी ।

'देखो, फिर तकिया फेंक दिया । इस प्रकार करोगी तो अच्छी कैसे होगी ?' कह कर जगत उठा और उसने तकिया फिर ठीक कर रख दिया । ठीक करते समय वह इतना पास पहुँच गया कि उसकी श्वांस रमा के ललाट को स्पर्श करती थी । रमा ने अर्द्ध उन्मीलित नेत्रों से जगत को देखा और रस भार से दब कर आँखें बन्द कर लीं ।

'मैं दो चार दिन के लिए बाहर जाने का विचार कर रहा हूँ ।'

'कहाँ ?'

'सूरत । अपने चचेरे भाई से भेंट करने के लिए जाना है । यह नया पद

ग्रहण करने के पूर्व उनसे भेंट करने से उन्हें बुरा लगेगा। साथ ही उन्हें रत्न-गढ़ भी भेजना है।'

'वहाँ क्यों ?'

'दीवान साहब के रहने का प्रबन्ध करने के लिए।'

रमा को पूछने की इच्छा हुई कि 'मुझे भी साथ ले चलेंगे ? परन्तु प्रश्न मन में ही रह गया।

तो अब चलूँ ?'

'अच्छा फिर आइयेगा !'

थोड़ी देर पश्चात् रघुभाई आये। उसकी आशाएँ नष्ट हो चुकी थीं साथ ही उसकी नीति निपुणता भी भ्रष्ट हो गई थी। चेहरे पर जो कुछ गौरव था वह भी अदृश्य हो गया था, उस पर पामर एवं कपटपूर्ण हास्य सदा बना रहता था। इतने दिनों में कुछ वृद्धत्व भी अधिक बढ़ गया था।

क्यों री छोकरी, कैसी है ?'

'अच्छी हूँ दृष्टि फेरकर रमा ने कहा।

'अब कब विवाह का निश्चय किया ?' नीति निपुणता के साथ ही रघु-भाई की लज्जा, शर्म, सभ्यता सभी कुछ जाती रही और वह अपने सच्चे स्वरूप में दिखाई पड़ने लग गया।

'विवाह कैसा ?'

'क्यों, देख नहीं रही है कि यह फिर प्रसन्न हुआ है ? कहकर उसने जगत का ओर संकेत किया।

'पिता जी ! आप यह क्या कर रहे हैं ?'

'यदि विवाह न करना हो तो व्यर्थ मेरी इज्जत·····'

रमा का शान्त स्वभाव भी उत्तेजित हो उठा ; 'पिता जी ! आपकी इज्जत आपकी पुत्री के हाथ में बिलकुल सुरक्षित है, आप घबराइए नहीं।'

'तू तो निरी मूर्ख है। इसके साथ विवाह का निश्चय कर ले, नहीं तो यह फिर बदल जायगा।' इस विचार की नीचता से रमा को कँपकँपी आ गई वह कुछ बोली नहीं।

'अभी मान जायगा, उसे पश्चात्ताप भी हो रहा है।'

'किस बात का ?'

'तुझे रुलाकर तेरा प्राणनाश कर मुझे दुःखी करने यह छोकरा आया था, मेरे पिछले कृत्य तुझे क्या मालूम ? परन्तु मुझे तो कुछ हुआ नहीं जिससे यह पछतायां और फिर गुड़-चींटा हो गया।'

रमा की आँखों पर से अन्धकार का पर्दा हट गया, उसको अपने पिता और जगत के पूर्व व्यवहार में अनकानेक समझ में न आने वाले प्रसंग अब समझ में

आ गये। अब उसके इतना स्नेहपूर्ण पड़ने का कारण भी समझ में आ गया। जब रत्नभाई चले गये और वह अकेली रह गई तो उसके मन में 'रमा बहन' का ही विचार आया। 'नहीं, रमा को दुःखी किया यह सोचकर विरागी जगत प्रायश्चित करने के लिए विवाह करे। नहीं! मुझे ऐसा विवाह नहीं करना है।' रमा ने निश्चय किया। कोई उपाय निकाल कर उसे अपना यह 'धर्म' पालन करने से रोकना चाहिए, इसका प्रतिफल मुझे चाहे जो भोगना पड़े। एक आह भरकर रमा विचारमग्न हो गई।

८४

जगत घर पहुँचा तो चम्पा को बैठी हुई पाया। अनन्तानन्द के स्वर्गारोहण के पश्चात् उसे भी अपनी मृत्यु पास आ गई जान पड़ रही थी।

'चम्पा! चलो, मुझे जरा देर हो गई, 'क्यों?'

'भाई! अब मुझे बम्बई में अच्छा नहीं लग रहा है। बीस वर्ष पूर्व यह नगर छोड़ा था। तब नहीं जानती थी कि इस प्रकार यहाँ आना पड़ेगा।'

दोनों ने नीचे उतर कर एक गाड़ी भाड़े पर की और भूलेश्वर के एक गन्दे मकान में गये। एक छोटी कोठरी में एक स्त्री बैठी थी, एक लड़का सो रहा था।

'गुलाब! अरुण कैसा है?'

'बुखार आ रहा है, कौन? जगतकिशोर! क्यों आये हो? मेरे लड़के को ले जाने के लिए?'

'कौन, भैया! मुझे बुखार आ रहा है।' बिछौने पर से अरुण बोला—'आप बिना मुझे अच्छा नहीं लगता।' जगत ने उसे उठा लिया। अरुण का शरीर दुर्बल हो गया था।

'देखो गुलाब! यहाँ रहोगी तो तुम्हारा लड़का मर जायगा। इस महिला के साथ रत्नगढ़ चली जाओ, वहाँ आराम से रह सकोगी। मैं भी कुछ दिन में वहीं आ जाऊँगा।'

'परन्तु मैं अपने भीखा को नहीं दूँगी।'

'नहीं भई, नहीं! इसे भी साथ ले जाओ।'

'सिद्धनाथ आप जायें, मैं इसे समझाऊँगी। मैं आज रात की गाड़ी से जाऊँगी।' चम्पा ने कहा।

'अच्छा मैं भी स्टेशन पर मिलूँगा, मुझे भी सूरत जाना है।'

दूसरे दिन बच्चू भाई एक तीन वर्ष के लड़के को बगल में दबाये हुए और

पाँच वर्ष के पुत्र को उँगली पकड़ाये हुए छोटे भाई को लेने के लिए स्टेशन पर आये। जगत बीच-बीच में बच्चू भाई से भेंट कर जाया करता था; कुन्दन भाभी भी एक लड़की को गोद में दबाये द्वार पर अगवानी करने आई। बड़ा आठ वर्ष का लड़का एक मैली फटी हुई धोती पहने हुए, अपना मैला हाथ अपने मुँह पर घिसकर चाचा के शुभागमन में अपना मुख उज्ज्वल कर रहा था। जगत ने सब लड़कों को एक-एक कर गोद में लिया; छोटे बालकों का नाम भूल गया था, इसलिए फिर से पूछा। भाई के सद्भाग्य से उसकी गृहस्थी पूर्ववत् चली जा रही थी। जगत ने बच्चू भाई को रत्नगढ़ जाकर अपने घर का प्रबन्ध कर देने का भार सौंपा। जिसे सुनकर भाई-भाभी के आनन्द का ठिकाना नहीं रहा। भाभी ने हर्ष के आवेश में एक पुरानी हाँडी निकाल कर दीवान होने के उपलक्ष में राल में बरामदे में टाँग दिया।

दूसरे दिन बहुत से लोग मिलने के लिए आये, सबने कुन्दन भाभी की बनाई हुई रसोई चखी। कुन्दन भाभी तो देवर के घर का प्रबन्ध करने की बात पर इतनी लट्टू हो गई थी कि सब अड़ोसी-पड़ोसी से जाकर कह आई, 'मेरे देवरजी हैं न, छोटे से थे तभी से पोपटजी जैसे होशियार ! और बालपन से ही था मुझ पर कुछ स्नेह ! पढ़-लिख कर भी इतना होशियार कि वाह ! वह मेरा कीका है न उसके बाप ने बनाया। अब हम उनका घर सम्भालने जा रहे हैं। देखो न हम लोगों की बात ! अभी मेरे देवरजी हैं कुँवारे, और 'एक-एक से दो' कहावत है न, ठीक वैसे ही।'

तब प्रायः पड़ोसिनें उत्तर देतीं, 'देखो, यह मेरी मौसी की लड़की है; कामदेव के समान सुन्दर ! कर दो न रिश्ता पक्का ?'

'देखूँगी, मुझसे हो सका तो अपनी बहन की जन्म पत्री आज ले आती हूँ। फिर तो हम दोनों बहनें एक ही घर में·····'

'हाँ, यदि न बने तो·····'

'हाँ जी ! भला इसमें भी कुछ कहना है ?'

सन्ध्या समय भोजनोपरान्त तीनों व्यक्ति बैठे थे। जगत रात की गाड़ी से बम्बई जाने वाला था। वह झूले पर बैठा था और कुन्दन भाभी सामने पैर पर पैर चढ़ा कर पान का डब्बा रखे हुए मुँह में पान चबा रही थीं, लड़की को दूध पिला रही थीं और एक लड़के को डाँट भी रही थीं। जगत की तीक्ष्ण आँखों ने यह दृश्य देखा। तुरन्त रमा—सुसस्कृत, कोमल, परागमय रमा याद आ गई ; एक ही जाति से सम्बन्धित किन्तु कितना अन्तर ? गुलाब स्मरण आई; शिक्षा; संस्कार, शुभ्र वासना में कितना अन्तर ?

'बच्चूभाई ! रत्नगढ़ कब जाओगे ?'

'परसों !'

'अरे परसों कैसे जाओगे ?' कुन्दन भाभी ने कहा, 'सामने चन्द्रमा पड़ता है।'

'चौथे दिन चले जाना, कोई जल्दी नहीं है। वहाँ सब लोग हैं, मेरा भी आज बारह वर्ष से घर वहीं है, यह तो आप अपने घर के हैं इतना ही अन्तर है।'

भाई भाभी की छाती एक हाथ ऊँची हो गई।

'परन्तु देवरजी ! हम कितने दिन रहेंगे ? इस प्रकार कहीं चलेगा ? अब तो मेरा कहना मान लीजिए।'

'क्या ?'

'देखिए, विवाह बिना नहीं चलेगा। दीवान ही कुँवारा हो तो भला राज्य कैसे चलेगा ?'

'हमारे रत्नगढ़ में तो भाभी सब कुँवारों का ही राज्य है।'

यह सुन तीनों हँस पड़े।

'नहीं, नहीं, देवरजी ! इस प्रकार बात उड़ाने से काम नहीं चलेगा। देखिये आप जैसे राजा के समान हैं वैसे ही मेरी बहन भी राजकुमारी जैसी है। कहिये तो पास ले आऊँ, मानो विधाता ने आपके लिए ही गढ़ा है। बिलकुल मेरे जैसी है। सच, न हो तो अपने भाई से ही पूछ लीजिए।' कहकर कुन्दन ने चुटकी बजाई। जगत को हँसी आ गई। वह मन में बोला—कितना अन्तर ? तनमन को खोया, रमा तरसती हुई मरने से बची—और यह पुतली ? भाई से पूछने का उसने कष्ट नहीं किया।

'भाभी अभी देर है। पुतलियाँ घर में रखेंगे तो टूट जाएँगी। मेरा विचार होगा तो आप हैं ही।'

जगत दूसरे दिन बम्बई पहुँचा। वहाँ पर एक पत्र पड़ा हुआ था।

'मान्यवर जगतराय जी !

पिताजी को लकवा मार गया है जिससे माथेरान जा रही हूँ। क्षमा कीजियेगा। वहाँ हमें अधिक समय तक रहना पड़ेगा इससे कब भेंट होगी, कहा नहीं जा सकता। रत्नगढ़ पहुँचने पर लिखियेगा। अब भला बिना काम बम्बई क्यों आना होगा ? कभी-कभी पत्र लिखते रहियेगा। कृतज्ञ—रमा

पुनश्च इस पत्र के साथ तनमन बहन का रूमाल भेज रही हूँ, उसे मेरी ओर से स्वीकार कीजियेगा।

एक आह भर कर जगत ने रूमाल अपनी जेब में रख लिया। पत्र पढ़कर हँसना है या क्या करना है यह सूझ नहीं पड़ा। विकट लीला है ! मरणासन्न थी तब तो कुछ नहीं और अब ऐसा विरागपूर्ण पत्र लिख रही है।

'इसका प्राण जाता रहा क्या ?'

किसका ?' प्रवेश करती हुई शीरीन का स्वर सुनाई पड़ा।

'देखो न अपनी बहन को ! इतना ही बाकी रह गया था।'

शीरीन ने पत्र पढ़कर कहा—मेरे पास भी पत्र आया है। कुछ हुआ था क्या ? एकाएक ऐसा क्यों ?'

'मुझे क्या पता ? मैं तो अभी सूरत से चला आ रहा हूँ। मेरे सामने तो एक अक्षर भी नहीं बोली थी।'

'जगत ! आपने विवाह सम्बन्धी बात चलाई थी ?'

'नहीं तो।'

'तभी ! अवश्य कुछ गड़बड़ घोटाला हुआ है।,

'मैं क्या करूँ ? मैंने उसे दुःखी किया उसके प्रायश्चित स्वरूप विवाह करने के लिए तैयार हूँ। स्वामीजी ने भी कहा था कि विवाह कर लेना मैंने सोचा कि रमा 'हां, कहे तो इसके कोमल, आर्द्र संसर्ग से मेरी अपूर्णता जाती रहे। मैंने तो समझा था कि अब निश्चित हो गया है।'

'जगत आप मूर्ख हैं।'

'ऐसा ? परन्तु यह बहुत विलम्ब से मालूम हुआ।'

'यदि आप किसी स्त्री से धर्म के नाम पर विवाह करना चाहें तो ऐसा विवाह वह स्वीकार करेगी ? हम भी क्या बाजारू औरतें हैं जो आपको कर्त्तव्य का विचार आते ही विवाह करने के लिए तैयार हो जायें ? रमा ने समझा होगा कि आप कर्त्तव्य वश विवाह करने के लिए तैयार हुए हैं, इसी से वह चली गई।'

'धत् तेरे की ! ऐसा जानता तो सूरत से दो-चार पुतलियाँ साथ में लेता आता।' जगत ने कुन्दन भाभी की कथा कह सुनाई।'

सुन कर शीरीन ठहाका मारकर हँसी 'अच्छा !'

'अब उसके पीछे-पीछे अभी माथेरान जाइए।'

'निर्विकार होने की इच्छा रखने वाले योगी के लिए यह अच्छी दौड़-धूप है।' जरा तिरस्कार से जगत बोला।

'यदि ऐसा है तो विवाह का विचार जाने दीजिए।' शीरीन ने गौरव से कहा।

'क्यों ?'

'नहीं तो विवाह कर उस बेचारी का जीवन प्रेम-हीन व्यवहार से आप नष्ट कर देंगे।'

'तात्पर्य कि मुझे अब प्रणयी का भाव अख्तियार करना पड़ेगा।'

'हाँ, नहीं तो बेचारी को पड़ी रहने दीजिए, वहीं एकान्त में सुखी रहेगी। यदि पूर्ण होने की लालसा अधिक हो तो फिर कोई दूसरी ढूँढ़ निकालिए।'

'सोचूँगा।'
'मूर्ख हो जगत !'
'यह स्वीकार है !'

शीरीन के जाने के पश्चात् जगत गम्भीर विचार सागर में डूब गया। साँझ हो जाने पर भी वह विचारमग्न बैठा रहा। उसका गर्व, उसके प्रतिशोध का पागलपन सभी कुछ नष्ट हो गया था। उसने स्वामीजी द्वारा बतलाए सत्य को देखा। कठिन अभ्यास बल से उसने वासना को निकाल फेंका था फिर भी उसमें छलकती हुई स्नेहपूर्ण मानवता थी। उसने योग्यपद का सच्चा अर्थ समझा। अपनी मानवता को निर्विकारी बनाकर विकसित करना है। आत्मा के विकास के लिए कोमलता और नम्रता की उसे आवश्यकता थी। सुसंस्कृत स्त्री बिना यह कहाँ से आवेगी ? फिर मण्डल का विचार आया उसके भाग्य में इस उदीयमान संस्था का नायक होना लिखा है—समाज को जीवित, प्रत्यक्ष, सुसंस्कृत योगी का नमूना दिखाकर सच्चे मनुष्यत्व के मार्ग पर अग्रसर करना है। कुँवारा रहने पर स्वयं वह समाज से बाहर हो जायगा; गृहस्थ बनने पर ही समाज के हृदय में प्रवेश कर सकेगा। विवाह यदि विश्वनियम हो तो रमा जैसी विदुषी, कोमल, स्नेहमयी स्त्री उसकी अपूर्णता को पूर्ण करने के लिऐ निर्मित अर्द्धांगिनी—कहाँ मिलेगी ? अन्त में विचार सागर से मथता हुआ वह थक गया। विश्व ! समय ! भविष्य ! तुझे क्या चाहिए ? वैराग्य या गृहस्थ ?'

हाँ ! समय को अनन्तानन्द की आवश्यकता नहीं है, जनक की आवश्यकता है। अच्छी बात है, रमा तेरा और मेरा जीवन एक होने वाला है। जगत उठा, सवेरा हो रहा था। उसने कपड़ा पहना और बोरीबन्दर के लिए चल पड़ा। आत्मा के विकास के लिए।

८५

रघुभाई को लकवा मार जाने से रमा का कोमल हृदय बलदान बन गया उसने स्वार्थ भावना का त्याग कर दो काम करने के लिए माथेरान का रास्ता लिया था। जगत अब रत्नगढ़ जाकर, भूल जायगा और इस प्रकार एक प्रकरण समाप्त हो जायगा और अपना हृदय-व्रण छिपाकर सिंहा की सेवा में वह अपना समय व्यतीत करेगी। यही मार्ग उसे सरल दिखाई पड़ा। यह निश्चय कर रघुभाई के एक मित्र से एक बंगला लेकर दूसरे ही दिन वह माथेरान पहुँच गई। यह कार्यक्रम उसे बिलकुल ठीक जँचा परन्तु इसमें बाधा इतनी ही थी कि उसने अनन्तानन्द के शिष्य की प्रबल, दुर्जय इच्छाशक्ति का अनुमान नहीं

किया था।

दूसरे दिन प्रातःकाल टहलने की इच्छा हुई। बम्बई में बहुत ही कम चल-फिर सकती थी। किंतु यहाँ तो पैर में अत्यधिक बल आ गया हो ऐसा प्रतीत हो रहा था। वह अकेली ही निकल पड़ी और थोड़ी दूर जाने पर बैठने की इच्छा हुई। संध्या रमणीय थी। वृक्षों की घनघोर छाया में कोयल अमृत वर्षा कर रही थी। बहुत-सी लताओं पर पुष्प सूँघने वालों के अभाव में आना घात ही मुरझा रहे थे। रमा इस प्रकृति जीवन में अनिर्वाच्य आनन्द का अनुभव करती उसके अस्वस्थ हृदय को कुछ शांति प्राप्ति हुई। प्रायः उसे ऐसे रमणीय स्थान में जीवन व्यतीत करने की इच्छा होती, अभी-अभी उसके विचारों ने कुछ पलटा खाया था। स्थान चाहे कैसा ही रमणीय क्यों न हो, एक व्यक्ति बिना उसे सब सूना लग रहा था। यह विचार करते हुए वह आगे बढ़ी।

अचानक पीछे किसी की पद ध्वनि सुनाई दी जो कुछ परिचित-सी लगी। 'नहीं रे मूर्ख मन! कोई टहलने वाला होगा।' परन्तु छाती कुछ धड़क उठी—कान में नाद हो उठा। पीछे से किसी के पुकारने की भनक-सी सुनाई दी 'रमा!' कंठ स्वर वैसा ही दृढ़ चिर-परिचित, प्रिय था।

रमा ने घूम कर देखा। जगत उसके पीछे खड़ा था। रमा घबरा गई।

जगत आया रमा का हाथ उसने पकड़ा दृढ़ता से, और मालिक की जैसी निश्चिंतता से। किसी कार्य को एक बार करने का निश्चय कर लेने पर वह उसे पूर्ण किए बिना वह नहीं रह सकता था। रमा इस समय बड़ी मोहक लग रही थी।

'रमा! तुम क्यों भाग आईं?' धीरे से जगत ने पूछा।

'यों ही, पिता जी बीमार पड़ गए थे इससे चली आई। पर आप क्यों आए हैं?'

तुमसे बात करने के लिए आओ चलो ऊपर चलें।'

'नहीं, थैंक्स। मैं अब लौटूंगी बहुत थक गई हूँ।'

'कोई हर्ज नहीं, मेरा सहारा लेकर चलो, थकावट नहीं आयेगी।'

रमा का हृदय जगत की आज्ञा मानने के लिए विवश था।

'हम कहाँ चले जा रहे हैं? किसी सिंह की माद में तो नहीं!'

'जी नहीं!' जरा हँस कर रमा बोली, वही तो बर्ड उड प्वाइंट है।'

रमा हाँफ रही थी जिसने कुछ बोला नहीं। 'बर्ड-उड प्वाइंट' आने पर एक बेंच पर दोनों बैठ गए। संध्याकालीन सूर्य की किरणें नीचे घाटी को सोने में मढ़ रही थीं। सुख शांति का यह सिंह द्वार विश्वकर्मा की ललित कला ने रचा हो ऐसा ज्ञात हो रहा था।

कैसा सुन्दर दृश्य है?' रमा के मुँह से निकल गया।

'यहाँ प्रकृति सच्चे स्वरूप में विराज रही है। हम लोगों का हृदय भी ऐसा ही होना चाहिए—ऐसा सुदृढ़, ऐसे ही सुन्दर, ऐसे ही हरे वृक्षों एवं वन-लता की कोमलता से पूर्ण! जाने दो ये बातें—रमा! मालूम पड़ता है कुछ तुम्हें भ्राँति हुई है।'

'किस रात की?'

'अपने हृदय से पूछ देखो। तुम यहाँ भाग आई?'

'बताया तो!'

ध्यान खींचने के लिए एक उँगली ऊँची कर कटाक्षमय वाणी में वह बोला—'तुम्हारे कहने का तात्पर्य कि पन्द्रह दिनों तक जिस रमणी को मेरा हाथ पकड़े बिना निद्रा नहीं आती थी, वह निष्कारण ऐसा पत्र शुद्ध अन्तःकरण से लिख सकेगी?' पत्र निकालकर, दिखाते हुए जगत ने कहा।

'हाँ, क्यों नहीं? इसमें क्या धरा है?' हर्ष से धड़कते हुए हृदय से स्वमान रखने का प्रयत्न करते हुए रमा ने पूछा।

'रमा! बहुत वर्षों से मुझे स्त्री-जाति का अनुभव नहीं हैं; इससे कुछ समझ में नहीं आ रहा हैं। परन्तु यह है क्या? मैं विवाह करना अस्वीकार करता हूँ तो तुम चारपाई पकड़ लेती हो; जब मैं दृष्टि से बाहर जाता हूँ तब डाक्टर कहता है कि हृदय की गति बन्द हो जाने का भय है परन्तु जब मैं तुम्हारे पीछे दौड़ता हूँ तब तुम माथेरान भागकर चली आती हो। या तो मेरा भ्रम है या तुम्हारा, किन्तु इस प्रकार भागने से लाभ? तुम्हारे मन में पाप कुछ अवश्य है? उसे कह डालो निःसंकोच। परिणाम एक ही होगा। कल मैंने बहुत विचार किया, हम दोनों का एक सूत्र में बंधना निश्चित है उसे कोई टाल नहीं सकता।'

यदि जगत ने विनय की होती, व्यंग्योक्ति की होती तब रमा उसका उत्तर देने के लिए तैयार थी; किंतु यह तो मानो स्वयं उसका स्वामी हो, और रमा बस छोटी बालिकामात्र हो, इस प्रकार शांतिपूर्वक बातें कर रहा था। इसका उत्तर भला क्या दिया जा सकता था?

'कृपाकर यह बात आगे न बढ़ाइये, मुझे विवाह नहीं करना है!'

'क्यों?' रमा के कंधे पर हाथ रखकर बड़े ही भाव से जगत ने पूछा।

रमा का हृदय संतुष्ट हुआ। वह स्वयं अपने को धिक्कारने लगी।

'बस...यों ही।'

'रमा! तू एक वर्ष की थी तब मैं तेरे साथ खेलता था, स्वप्न में भी ख्याल नहीं था कि बड़े होने पर हम फिर मिलेंगे। जो भी हो, क्या तुझे ऐसा नहीं मालूम पड़ता कि हम दोनों एक दूसरे के लिए बने हैं?' जरा रुक्ष, आत्म-तिरस्कारपूर्ण हास्य के साथ जगत ने कहा।

'परिहास मत कीजिए !'

'तब रमा ! यह मान कैसा है ? तू···' कहते हुए जगत पुनः उसके कंधे पर हाथ रखने लगा। गरम लोह से कोई दाग रहा हो इस प्रकार घबड़ा कर रमा दूर हट गई—उठकर खड़ी हो गई।

'जगत ! नहीं, नहीं !' कहकर वह तन कर खड़ी हो गई। उसके नेत्र अश्रुपूर्ण थे किन्तु गर्व में उसके छोटे नथूने फूले हुए थे, 'आप मेरे लिए ईश्वर हैं, आपके चरणों में मरने के लिए मैं तैयार हूँ। परन्तु यह सम्भव नहीं, मैं विवाह नहीं करूँगी। वापस चलिये, अब मैं यहाँ अधिक नहीं ठहर सकती। पिताजी मेरी बाट देख रहे होंगे।'

जगत उठा और साथ चल पड़ा। रमा अकुला गई थी इसलिए कुछ कहना उसने उचित नहीं समझा।

'रमा ! कल प्रातःकाल सात बजे मैं यहाँ आऊँगा और तुम्हारा इन्तजार करूँगा, जो कुछ कहना है एक बार मुझे कह लेने दो, पीछे जो तुम्हारी इच्छा हो करना।'

'बहुत ठीक।' कहकर रमा पास ही के रास्ते से वनदेवी के समान अलोप हो गई।

दूसरे दिन जगत ठीक सात बजे 'बर्ड-उड प्वाइंट' पर पहुँच गया। दस मिनट बाद रमा आई।

'कल का प्रहसन आज भी न हो नाटक जैसा भावावेश मुझमें प्रकट हो कर मुझे मूर्ख सिद्ध न कर दे इसलिए मैं यहाँ इस पत्थर पर बैठता हूँ। तुम वहाँ बैठो। रघुभाई कैसे हैं ?'

'अच्छे हैं। एक पैर लकवा मार गया है।'

'बताओ रमा ! रात में क्या निश्चय किया ?'

रमा ने सोचा कि कैसा भावहीन है उसका प्रियतम !

'क्या निश्चय करूँ ?' झूठ बोलते हुए रमा ने कहा। उसने रात भर विचार किया था, दृढ़ निश्चय किया था, परन्तु जगत में कुछ ऐसा प्रभुत्व था कि उस की समझ में नहीं आ रहा था कि वह क्या कहे। 'अपना निश्चय तो मैंने कल ही बता दिया था।'

'यह नहीं, रमा ! यदि 'नहीं' कहना हो तो साफ-साफ कह दो। अपने जीवन में एक बार अपना लजीजा स्वभाव और अपना कोमल हृदय भुला दो। शीरीन के समान स्पष्ट कह दो।'

'आप को बुरा लगेगा...!'

'यदि बुरा लगता होता तो यहाँ क्यों आता ? रमा ! साफ-साफ बोली; यह समय मौन का नहीं है।' मानो स्वयं पति हो चुका हो इस प्रकार जगत

बोला ।

'तब पूछूँ ?' अपनी स्नेहपूर्ण आँखें जगत पर डालकर रमा ने पूछा, 'क्षमा कीजिए । तनमन बहन के लिए अपना जीवन सर्वस्व अर्पण करने के लिए प्रस्तुत विरागी और भावनाशील, कामनाहीन, सिद्धनाथ—शीरीन का त्याग कर, इस समय मुझसे विवाह करने के लिए क्यों तैयार हुए हैं ? सच-सच कहिए ।'

'रमा ! मैं सच-सच ही कहूँगा, मुझे झूठ बोलने की आदत नहीं है । यह प्रश्न मैंने स्वयं अपने मन से सहस्रों बार पूछा है ।' धीरे-धीरे मानों न्यायपूर्वक वाद-विवाद करता हो इस प्रकार जगत बोला—'देखो ! अपनी देवी का मैं सच्चा प्रणयी था । मेरे उछलते हुए, संयमहीन रक्त में रस की तरंगें लहरें मारती थीं । लम्बे अभ्यास, गम्भीर विचार, अखण्ड वैराग्य ने और सर्वोपरि स्वामीजी की संगति से उसमें परिवर्त्तन हुआ ।'

'क्यों ?'

'मेरा हृदय संयमी, अधिकांश रूप में विरक्त हो गया । अब प्रणयी नहीं रहा, होने की शक्ति भी नहीं रही । 'देवी' के लिए मानवी प्रेम नष्ट हो गया है, दूर पर, अपूर्व, सुशोभित एक दीपक चमकता रहे उसी प्रकार उसकी स्मृति मस्तिष्क में बनी हुई मेरे जीवन को कभी-कभी आकृष्ट करती है, परन्तु अरे हाँ ! मैं भूल गया ! वैराग्य का दिव्य अंग स्वरूप मैं नहीं बन सका ।'

'क्यों ? कभी-कभी क्या तनमन बहन···?'

'हाँ, वैराग्य से मेरा हृदय कठोर बन गया और प्रेम के अन्तर्वेग का कठोर रूपान्तर हुआ ।'

तात्पर्य ?' रघुभाई की बातों का स्मरण कर रमा ने घबड़ा कर पूछा ।

'उसका इतिहास बिलकुल भिन्न है । मैंने देवी का प्रतिशोध लेने का निश्चय किया । काम क्रोधादि विषयों को दूर कर केवल 'देवी' के शत्रुओं का संहार करने की सौरन्ध ली ।'

'इसका वैराग्य से क्या सम्बन्ध ?'

'बस यही मेरी भूल हुई । स्वामीजी ने बहुत समझाया । अन्त में बारह वर्ष पश्चात् मेरी मति में भ्रम उत्पन्न हुआ । अभिमान से मैंने सोचा कि प्रतिशोध ही सृष्टिक्रम का सिद्धान्त है । तू जानती है कि इसका फल क्या होता । मण्डल नष्ट-भ्रष्ट हो जाता. साथ ही मैं भी चला जाता; किसलिए ? श्यामदास और गुलाब जैसे तुच्छ कीड़ों की हत्या करने के लिए । मैंने शिक्षा ग्रहण की, गर्व नष्ट हो गया परन्तु उसका मूल्य अत्यधिक देना पड़ा । स्वामीजी ने बताया कि प्रतिशोध अपने आप ही हो जाता है । दुःखी करना और होना एक दूसरे से भिन्न नहीं है, एक ही वस्तु के अर्द्धांग हैं ।'

'यह तो सच है किन्तु बात हम कुछ दूसरी ही कह रहे थे।' रमा ने कहा।

'हाँ, भूल गया, यह उसका अनुसंधान है। जब मेरे प्रतिशोध के विचार का भयंकर परिणाम दृष्टिगोचर हुआ तब मेरी बुद्धि शुद्ध हो गई और गर्व जाता रहा। स्वामीजी ने कहा, तुम्हारी अपूर्णता मैं अपने साथ लिए जा रहा हूँ।' वैसा ही हुआ। रमा! आत्म दर्शन मुझे प्रथम बार हुआ। इतने वैराग्य से अपने स्वभाव में मैंने कर्कशता और क्रूरता को भर लिया था। मैं खलीफा उमर के वैराग्य को पहुँचा, भगवान बुद्ध के नहीं। मनोकामना जड़मूल से निकालते समय कोमलता जाती रही, जन समाज की निर्बलता के लिए करुणा प्रेम का समावेश नहीं हुआ। हमारे योग की चरित्र भावना भिन्न हैं। खलीफा उमर में भी प्रसंग आने पर जीसस क्राइस्ट का अप्रतिभ भाव. बुद्ध की अनिर्वाच्य कोमलता आनी चाहिए। स्वामीजी में वह चीज थी। जब वह छोटे बालक को खिलाते तब वह बच्चा अपनी माँ को भूल जाया करता था। मैं तो केवल धर्म का चक्र बना रह गया।'

'स्वामीजी सुधार नहीं सके?'

'स्वमीजी प्रायः कटूक्ति करते परन्तु वह मेरे मस्तिष्क में बैठती नहीं थी मुझसे स्वामी जी कहा करते थे कि विवाह कर ले तो सुधरेगा।'

'यह कैसे?'

'इसका रहस्य मेरी समझ में पीछे आया। मेरी जड़ता बढ़ गई, इसी समय तुझसे विवाह करना अस्वीकार कर तुम्हें दुःखी किया। शीरीन इस से पहले टकराई और कुछ ढीला किया। अरुण ने, गुलाब ने, स्वामीजी ने अधिक कोमलता उत्पन्न की। जब 'देवी' का स्मृति चिन्ह तुम्हारे हाथ में देखा तब पूर्णरूप से आर्द्रता आई—कठोरता का गर्व चूर-चूर हो गया। रमा! तब मुझे स्वामीजी का स्मरण आया; मैं अपना सच्चा स्वरूप परख सका। वैराग्य रखकर रस भूल गया। अपने स्वभाव को आर्द्र करने का स्थान रह ही नहीं गया।

'इसीलिए···'

'सुनो! अभी बहुत कहना है। स्वामीजी की भावना बड़ी ही दूरदर्शी थी और उसे सिद्ध करने का भार मुझे सौंपा गया है। परन्तु अब काम भिन्न प्रकार का है। अब तक कार्य मण्डल से स्थिरता लाने का था, वह तो आ गई। बारह हजार से अधिक मनुष्य इस समय एक प्रकार से मेरी आज्ञाधीन हैं। परन्तु इससे क्या? रमा! मुझे अपनी भावना दिग्दिगंत में फैलानी है। सब भारतवासियों के हृदय में यह भावना भर कर उन्हें वर्तमान अचेतनता में से जाग्रत करना है, इसके लिए आदर्श रूप बनना सर्वप्रथम मेरा जीवन-लक्ष्य है। इस भावना के लिए मैं अकेला समर्थ नहीं हूँ।'

'क्यों ?'

'स्वामीजी ने बताया था कि सृष्टि की रचना के लिए ब्रह्मा चाहिए, किंतु उसे चलाने के लिए विष्णु और लक्ष्मी दो चाहिएँ। गर्व दिखाई पड़े तो क्षमा करना रमा ? इतने वर्षों से हम वैराग्य एवं योग स्वार्थ को ही समझते आये हैं। हमारी भावना, जीवन में रहकर प्रत्येक खेल खेल कर अनाशक्ति से परम पद पर संचार करने की है। संन्यासी बने रहेंगे तो लोग भूल करेंगे, निवृत समझ जहाँ पहले थे वहीं ज्यों का त्यों बने रहेंगे। प्राचीन समय अब नहीं रहा। पाश्चात्य देशों में संसादे में गृहस्थ रूप में रहने वाले, अधिकांश में योगी हुए हैं। क्रोमवेल, वाशिंगटन, मेजिनी उदाहरण हैं ; इसी प्रकार यहाँ भी लोगों को सिखाना है कि भरत का त्याग एवं भीष्म की भीषणता का पालन गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए भी किया जा सकता है। हमारा मण्डल वही शिक्षा देने वाला है—जब तक मैं यह नहीं करता तब तक वह भावना पूर्ण हो रह जायगी। इससे प्रणयी बनाकर अपना धर्म पालन करने में बाधा डाले ऐसी पत्नी मुझे नहीं चाहिए बल्कि ऐसी चाहिए जो रण में सिर कट कर गिरने पर गोद फैला कर उसे ग्रहण करले।'

'जगत ! मेरे जैसी तुच्छ से भला यह हो सकेगा ? आप जैसे गगन में विहार करने वाले की भूमि पर भटकने वाली मुझ जैसी तुच्छ स्त्री के साथ कैसे पटरी बैठेगी ? शीरीन···'

'हाँ शीरीन थी। तुझ से अधिक सुशिक्षित, अधिक बुद्धिमान, फिर भी सूक्ष्म-दृष्टि से देखने से मेरी अपूर्णता उससे दूर नहीं की जा सकेगी।'

'क्यों ?'

'शीरीन में रस का भाव बहुत कम है; दो बुद्धिभक्तों के एकत्र होते ही कोमलता जाती रहेगी।'

'और मैं ?' थोड़ा हँस कर रमा ने पूछा।

'तेरे हृदय में रस का, प्रेम का अखण्ड स्रोत है। यह मेरी सभी कठोरता दूर कर सकने में समर्थ है। तू सुशिक्षिता है, बी० ए० तक पढ़ी है, इससे छः मास में मेरी भावना समझ जायगी। साथ ही मैंने देखा है कि तू मुझे सच्चे हृदय से चाहती है। मेरे बिना तू मरणासन्न हो गई, तो इस विश्व-नियम को व्यर्थ तोड़ना भूल है।'

'यह आप के कारण है। आप के वाक्चातुर्य एवं न्याय के लिए धन्यवाद ! मेरा ख्याल है कि इतनी न्यायपूर्वक प्रथम बार ही किसी स्त्री से विवाह की मांग की गई होगी।'

'होगा, अब देखो, बातें बहुत हुईं, अब क्या बाधा है रमा ? तू स्वीकार कर या अस्वीकार, परन्तु है तू मेरी ही; मुझे एक रमा मिल गई तब दूसरी

नहीं ढूँढने जाऊँ ? नहीं मानोगी तो दस वर्ष तक घेरा डाले पड़ा रहूँगा ।'

बातें इतनी रसदायक थीं कि रमा के हृदय को आकृष्ट कर रही थीं। उसका मन आनन्द-हिंडोले पर चढ़कर झूलने लगा। परन्तु हृदय में दूसरी कठिनाइयाँ थीं, उसने सिर हिलाया।

'रमा !' जगत पत्थर पर से उठते हुए बोला—यह क्या ? देखो, मेरी याचना स्वीकार कर लो मैं दे ही क्या सकता हूँ ?'

'नहीं नहीं ! यह असम्भव है जगत ! आँख पोंछती हुई रमा बोली।

पास में फिर बैठते हुए जगत ने पूछा—क्यों ?'

'नहीं ! मेरे पिता आपके कट्टर शत्रु इस समय अपंग हैं ; उन्हें छोड़ मैं कहां जा सकती हूँ ? वहीं मेरा स्थान अब उनके जीर्ण शरीर के पास है।'

जगत मुस्कराया और रमा के कन्धे पर हाथ रखा कुछ क्षण बाद धीरे से बोला—'पगली ! तुझे ग्रहण करूँगा तो तेरे सब लाव-लश्कर के साथ। भूल गई ? न्याय स्त्री-पुरुष को एक मानता है धर्मानुसार तेरे पिता मेरे पिता के समान है। मेरे लिए शत्रु कैसा ? मैं तो 'बीत-राग भय-क्रोध !'

'राग का क्या होगा ?' रमा ने कटाक्ष में आँख मटकाते हुए पूछा। और नीचे झुककर अपना सिर जगत के वक्षःस्थल पर रख दिया—और रसभार से रो पड़ी। जगत ने आँसू पोंछा, उसे सीने से लगाया। 'जगत ! प्राणेश ! क्या ऐसे ही बने रहोगे ?'

'रमा ! तूने मुझे भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न रूप में देखा है। मित्र रूप में, शिष्य रूप में·····'

'मित्र रूप में मुझे रुलाया, गुरू रूप में शीरीन को सताया, शिष्य रूप में स्वामीजी को मारा अब···? रमा की आँखों में अपूर्व प्रेम का आनन्द उमड़ आया, 'प्रणयी रूप में ?'

'प्रणयी रूप में देखना सभी आकाँक्षायें पूर्ण होंगी। चलो, अब सूर्य बहुत चढ़ आया, धूप बहुत तेज हो जायगी तो स्वर आ जायगा।' वह उठे और चलने के लिए तैयार हुए कि रमा ठमककर खड़ी हो गई।

जगत ने रमा का मुख देखा उस पर उमड़ती हुई लालिमा देखकर वह हँस पड़ा और बोला—'रमा प्यारी क्षमा करना, अभी प्रणयी बनना सीखा है। कहकर रमा को चूम लिया। मुँह से निकलती हुई एक 'हाय' को जगत ने दबा दिया। तेरह वर्ष तक उसके अधरों ने किसी स्त्री का स्पर्श नहीं किया था ; भूतकाल में अनुभव किये हुए एक चुम्बन का स्मरण लाल अंगारे के समान उसके हृदय में जल रहा था ! रमा सुख में लीन थी, सद्भाग्य से इस ओर उसका ध्यान नहीं गया।

८६

वृद्ध रघुभाई चुपचाप चारपाई पर पड़ा हुआ। उसके सभी विचार, महत्वकांक्षायें नष्ट हो गई थीं और इस समय वह दुर्बलता और असहायावस्था में इधर-उधर कष्ट से करवटें बदल रहा था।

जगत उसके पास गया। वह नहीं चाहता था कि रमा के हृदय को दुःख पहुँचे। जगत ने पुकारा—'रघुभाई!'

मुँह टेढ़ा कर बड़े परिश्रम से रघुभाई ने पूछा—'कौन? गुणवन्ती का जगत!'

'जी हाँ, किन्तु इस समय आपकी रमा का जगत!'

'क्यों? तुम तो विवाह करने वाले नहीं थे न?' कहकर विद्रूप से रघुभाई ने हँसने की चेष्टा की। रमा का सिर जमीन में गढ़ा जा रहा था।

'हाँ, पीछे ऐसा ही निश्चय किया। आपको भी रत्नगढ़ चलना होगा।'

अधिक बात न कर दोनों बाहर निकल आये। रमा ने पूछा—'अब?'

'अब क्या? वही सांसारिक रीति-रिवाज!'

'कहाँ, सूरत में?'

'नहीं, मुझे अधिक धूमधाम नहीं करनी है, बाँदरा का मेरा घोस्ट-हाऊस बहुत ठीक है। अच्छा अब चलो तार दे आवें।'

शीरीन विवाह का शुभ संवाद सुनकर पागल हो गई। जगत के बराबर मना करते रहने पर भी रुपये का कुछ ख्याल न कर उसने घोस्ट-हाऊस सजा डाला। उसके दृढ़ आग्रह से विवाहोपलक्ष में गायन-वादन का तथा वकील के आग्रह से पार्टी का भी प्रबन्ध किया गया।

अनन्तानन्द के विद्वान भावनाशाली शिष्य दयानन्द वगैरा भी आये। जगत ने उनसे सब कह सुनाया; सुन लेने के पश्चात् यह जानने के लिए कि पत्नी मण्डलाध्यक्ष के योग्य होगी या नहीं सभी की रमा को देखने की इच्छा हुई। साथ ही शीरीन को भी देखा—देखने के पश्चात् विचार में पड़ गये कि दोनों में से किसकी प्रशंसा करें। दोष देखना तो भूलकर 'स्त्रीत्व का विश्व में क्या स्थान है।' इसी विचार में लीन हो गये।

दूसरे दिन एक पत्र मिला जिस पर रोली के छींटे पड़े हुए थे। जगत ने पत्र खोला, बड़े-बड़े अक्षरों में लाल स्याही से लिखा हुआ था 'श्री रामजी की जय।' जगत की आंखों में पानी आ गया। नव्वे वर्ष के श्री रामकृष्णदास जी ने विवाह का समाचार सुन अपने जीवन में पहला पत्र जगत के पास भेजा। जगत ने जा कर उसे रमा को दिया और रमा ने उसे अपनी अन्य उपहार

वस्तुओं के साथ रख लिया।

परन्तु कुंदन भाभी रिसिया कर बैठी थीं। उनकी 'पुतली' जैसी बहन को छोड़ बीस वर्ष की 'घोड़ी' देवरजी उठा लाये! रायजी के कुटुम्ब की यह अधोगति! उस पर विवाह सूरत में नहीं। बाप-दादा के मकान में नहीं। बंबई में और वह भी बाँदरा के एक कोने में। जगत ने आदरपूर्वक पत्र लिखा। देवरानी के अकेली रहने से डर जाने का भय दिखाया बहुत मनाने पर उन्होंने जाना स्वीकार किया।

जगत उन्हें लेने के लिए स्टेशन गया। गाड़ी आई, दरवाजा खुलते ही कुन्दन भाभी चिल्लाईं—'अरे चंचल! लड़की को पकड़, अरे छोकरे खड़ा रह।'

जगत ने एक लड़का खींचकर निकाला। फिर दूसरा बाहर निकाला; कुन्दन भाभी के कितनी संतान थीं; वह भूल गया। उसने पूछा—'सब आ गये?'

'हाय! हाय! देवरजी! आप इतनी जल्दी भूल जाते हैं? अभी बका तो रह ही गया।'

जगत ने 'बका' को भी बाहर निकाला। उसका असली नाम क्या है इसका वह विचार ही कर रहा था कि भाभी ने एक ट्रंक निकाला, दूसरा, फिर तीसरा, दो पोटलियाँ, एक भोजन का डब्बा, एक डोलची, एक बटुआ कुल आठ नग; तब भाभी निकलीं, उनके पीछे एक बारह वर्ष की लड़की चंचल निकली। जगत ने कुली बुलाकर सामान उठवाया और सबको लेकर बाहर आया। मिस्टर वकील की मोटर पर सब लोग एक के ऊपर एक बैठे। बैठने पर भाभी से रहा नहीं गया—'देवरजी! देखिये, इसी को मैं कह रही थी।

जगत ने चंचल को देखा और मुस्करा दिया।

'अच्छा, देवरजी! यह तो बताइये कि मेरी देवरानी कैसी हैं?'

'कल सवेरे देख लीजियेगा।'

दूसरे दिन प्रातःकाल सब लोग चाय पीने के लिए बैठे। कुन्दन भाभी भी रिसाले के साथ शतरंज पर बैठ गईं। नम्बरवार चंचल की सहायता से लड़कों को चाय पिलाई जाने लगी और धीरे-धीरे शतरंजी पर चाय रूपी तालाब बनने लगा।

इसी समय शीरीन आई—जगत आरामकुर्सी पर बैठा था; वह उसके पास बैठ गई। कुन्दन भाभी तो आँखें फाड़-फाड़कर उसे देखने लगीं—यह देवरानी! जब जगत ने 'शीरीन' संबोधन किया तब वह कहीं शांत हुई। इतने में एक लड़की ने चाय अधिक उँडेल दी, उसे दो घूँसा जमाकर शीरीन का क्रोध उस पर उतारा। इसी समय बच्चूभाई जो खिड़की में खड़े थे बोल उठे

'रमाबाई आईं।'

'चंचल ! इधर बैठ, छोकरे को ले·····'

जगत ने रमा को जेठानी से मिलने के लिए बुलाया था, वह ऊपर चढ़ने से हाँफने लगी थी। अभाग्यवश हाल में एक ही कुर्सी थी जिससे किसी की ओर न देखकर वह बोल उठी—'जगत, जरा उठो न !'

जगत उठा और उस कुर्सी पर सुस्ताने के लिए रमा बैठी। कुन्दन भाभी का तो होश गुम हो गया। अरे एक दम पारसिन जैसा पहनावा ! सिर पर कपड़े का ठिकाना नहीं ! लम्बी बाँह की बिना बटन की कमीज ! कपड़े के नीचे से दिखाई पड़ने वाली सफेद मलमल की मिर्जई है। वक्षःस्थल पर देवर जी की छवि ! न तो जेठ की लाज, न पति की मर्यादा—'जगत' कहकर पति को पुकारा और आराम कुर्सी पर पड़ गई ? सब बरदाश्त हो सकता है परन्तु यह ? कुन्दन भाभी के लिए तो प्रलयकाल आ उपस्थित हुआ ! हाय ! हाय ! इससे तो मेरी चंचल अच्छी !

'कहो कुन्दन बहन !' कुछ समझ न पड़ने से रमा बोली—'अच्छी तरह से तो हैं न ?'

'हाँ बहन ! आप मजे में हैं ? मुझे तो बड़ी खुशी हुई, भगवान करे देवर जी का घर एक का इक्कीस हो।'

रमा लजा गई, उसे समझ नहीं पड़ा कि वह क्या उत्तर दे। थोड़ी देर बाद वह वहाँ से उठ गई। पीछे-पीछे शीरीन भी गई। 'रमा ! तेरी जगह कौन आने वाली थी, पता है ? वह लड़की बिल्कुल पुतली जैसी ! जो लड़का खिला रही थी !' ठट्ठा मारकर हँसते हुए शीरीन ने कहा।

'जाने दो, जगत सुन लेंगे।' रमा बोली।

८७

'घोस्ट-हाउस' आज बड़े राजमहल सदृश्य लग रहा था। कुन्दन भाभी अत्यधिक क्रुद्ध थीं, न तो ढोल थी और न मजीरा, न बारात निकलने वाली थी और न कहीं गीत राग सुनाई दे रहा था। यह उत्थान था या पतन ? परन्तु देवरजी के भय से कुछ बोल नहीं सकती थी। फिर भी जिस समय रमा को गाड़ी में उतरते देखा, जब उसका मोहक, सुन्दर मुख देखा तब उसका हृदय भी पिघल गया, सब कुछ भूल गईं, आँखें हपाश्रु से भर गईं।

'रमा ! बहन ! तुम···'

'क्या है कुन्दन—भाभी ?' घबराहट में रमा के मुँह से निकल पड़ा।

'किसकी भाभी ? मेरे देवर जी के योग्य बनना समझी ।'

शीरीन से चुप नहीं रहा गया; 'ठीक पुतली जैसी लगती है या नहीं ?'

कुन्दन भाभी की भौंहें चढ़ गईं; यह पारसिन कौन है ?

इतना ही अच्छा था कि घर के थोड़े आदमी थे । रमा ने इधर-उधर देखा 'हाय-हाय ! 'हृदय जरा तो धैर्य धर !' दो-चार ब्राह्मण और तीन-चार संन्यासी बैठे थे ।

थोड़ी देर बाद मिस्टर वकील की मोटर आई, उससे जगत और दयानन्द उतरे । सादे स्वच्छ वस्त्र में रमा को जगत राजा जैसा दीख पड़ा, वह मुस्करा पड़ी । 'रमा ! क्या मुस्करा रही है ?' शीरीन ने पीछे से पूछा । रमा ने नीचे देखा । बाद में क्या हुआ, इसका ज्ञान भी नहीं रहा । कुछ धुँधला-सा, आँख में से आँसू क्यों ? कारण पता नहीं; एक दृढ़ हाथ उसके हाथ में था, अपनी रुग्णावस्था का स्मरण आ गया; ब्राह्मणगण कुछ पढ़ रहे थे । अरे ! यह जगत का हाथ काँप रहा है या उसका ? उसे क्या पश्चाताप हो रहा है ? नहीं, यह तो यों ही काँप उठा । विवाह समाप्त हो गया ।

सब अतिथियों के चले जाने के पश्चात् जगतऊपर छत पर दूर समुद्र की ओर देखता हुआ विचारमग्न खड़ा था ।

'मनुष्य रूप में आज मेरा स्थान कहाँ है ?' वह बड़ बड़ाया ।

'क्यों ?' पीछे से दयानन्द ने पूछा ।

'मेरे जीवन की पवित्र प्रतिज्ञा, उच्च आशायें आज समाप्त हो गईं ।' 'देवी' का 'किशोर' कृतघ्न—गुणवन्ती का पुत्र कृतघ्न—प्रेम विहीन विवाह को न मानने वाला कृतघ्न ? मनुष्य रूप में मेरी अधोगति आज पूर्ण हो गई !'

'योगी रूप में आज उन्नति भी पूर्ण हो बन्धु । मनुष्य प्रणय के पीछे और द्वेष के पीछे दौड़ता है । योगियों के लिए प्रणय उनकी भावनायें है, द्वप इस में बाधक हैं सिद्धनाथ ! तू मनुष्य नहीं योगी है ।'

'जगत ! मैं आ सकती हूँ ?' लज्जापूर्ण आवाज में रमा ने पूछा । शीरीन ने उसे जगत को बुला लाने के लिए भेजा था । रमा आज प्रथम बार जगत से बोल रही थी । दयानन्द को देखकर वह वहीं खड़ी रह गई ।

'आओ, दयानन्द से लज्जा करने की आवश्यकता नहीं है । यह मनुष्य नहीं देवता है ।'

रमा ने कंधे पर हाथ रखते हुए पूछा—जगत ! इतने उदास क्यों हो ?' जगत हँसा 'क्या करूँ ? दो घण्टों में इतना परिवर्त्तन ! कैसे समझ में आये ?'

तीन व्यक्ति नीचे गये । शीरीन ने कहा—'मास्टर ! मेरा अभिनन्दन !'

रमा की तो मानो जीभ ही सो गई ।

माथेरान में आज रमा के छः दिन स्वर्ग के समान व्यतीत हो गये । आज

दोपहर को बम्बई जाना था। रमा जगत के साथ 'शार्लोट लेक' के किनारे पर खड़ी थी।

'जगत ! प्यारे ! माथेरान सदैव स्मरण रहेगा ! ऐसे ही बने रहियेगा !'

'नहीं, बिगड़ जाऊँगा !' जगत ने हँसकर कहा।

'नहीं, सच-सच कहिए, क्या आप सुख अनुभव नहीं कर रहे हैं !' आपका हास्य कैसा निर्दोष बालक जैसा है ?

'रमा ! ऐसे अवसर पर तुम्हारे साथ, इससे अधिक सुख भला हो ही क्या सकता है !'

'स्मरण है; जब मैंने आप को सबसे पहले देखा था और मेरा कपड़ा फँस गया था। उस समय आप कितने कठोर हो गये थे ! उस समय तो आप वृद्ध मनुष्य के समान हँस रहे थे।'

जगत गम्भीर होकर बोला—'वह प्रसंग भिन्न था और यह भिन्न है।'

'क्यों !'

'उस समय मैं शत्रु की पुत्री से मिला था अब अपनी पत्नी के साथ हूँ।'

रमा कुछ काँप उठी—कुछ हँसी; पुनः ऐसा समय आए तो !'

'ज्यों का त्यों; स्वामीजी के समान प्रकृतिमय बनने में ही मेरी सच्ची मनुष्यता है। जिस विद्युत से हम घर में भोजन बनाते हैं और वायु सेवन करते हैं वही विद्युत दूसरे ही क्षण हमें भस्म भी कर देती है।'

'किन्तु मेरे प्रति भी !'

'हाँ, जिस क्षण मुझे प्रतीत होगा कि रमा का जीवन मेरी भावना में बाधक हो रहा है उसी क्षण मेरा रूपान्तर निश्चित है।'

'ओफ् !'

'इसी से रमा ! मैं कह रहा था कि प्रसंगवशात् स्वरूप धारण करना सीखो। यह मत आशा रक्खो कि प्रणयी होने से मैं जरा भी बदल जाऊँगा। समयानुसार मेरे धर्म के साथ अपना धर्म रखना सीखोगी तभी हमारा विवाह योग सिद्ध होगा।'

'मैं बड़ी डरपोक हूँ, कौन जाने सीख सकूँगी या नहीं !'

जगत उसके कंधे पर हाथ रखकर कुछ देर तक उसकी ओर देखता रहा, फिर बोला—'रमा ! दृढ़ता तो सीखनी पड़ेगी। हमेशा माथेरान नहीं आने का तुम्हें प्रकृतिरूप बनना है। मैं उच्च कार्य में विचरण करूँ तो मेरी विजयमाला गूँथना; मेरे में आर्द्रता आये तो इसके लिए अपने सुकोमल हाथ से आलिंगन करना और—और'—जगत तनकर खड़ा हो गया, आँखें चमकने लगीं। आवाज कुछ काँप उठी, 'यदि मैं अपनी भावना से गिरूँ तो मुझे विष दे देना और मेरे मस्तक पर अपने हाथ की चूड़ियाँ फोड़कर वैधव्य स्वीकार करना। परन्तु रमा

प्राणेश्वरी ! यदि कर्त्तव्यपरायणता में अपने प्राण अर्पण करूँ तो विजयगान के आलाप से चारों दिशा को गुँजा देना।'

जगत ने रमा का हाथ दबाया। दोनों चुपचाप वापस आये।

८८

मिस्टर वकील के उपवन में रात के समय दोनों सखियाँ बैठी थीं; जगत अपने पद का चार्ज लेने के लिए रत्नगढ़ गया था, आगामी सोमवार को रमा और रघुभाई भी वहाँ जाने वाले थे। रमा प्यारी नववधू, शीरीन विलग होने से दुःखी थी; दोनों जरा-जरा-सी बात पर आँसू गिरा रही थीं।

'रमा ! तुमसे अलग होते समय दो आदमियों को मैं खो रही हूँ एक आज सात-आठ वर्ष की अपनी सखी—दूसरी अपने मास्टर की पत्नी ! उनकी स्मारक !'

'शीरीन ! मुझे भी ऐसा लग रहा है कि पीहर से कल ही जाऊँगी। मेरी माँ, बहन, सखी जो कुछ है सो तू ही हैं।'

'और मैं एकाकी मित्र विहीन और म्लान हूँ; जब कि तुम्हारे पास जगत है—तुम्हारा प्राणपति, मेरे लिए मेरी पुस्तकें, और...' कहते-कहते शीरीन का गला भर आया।

शीरीन के गले में हाथ डालकर रमा बोली—'बहन, प्रिय ! रो मत, मेरे मन में तुम्हारे लिए क्या हो रहा है, यह व्यक्त करने मैं असमर्थ हूँ। कल तू शीरीन किससे मिलेगी ?' किससे वार्तालाप करेगी ? घर पर, कालेज में तेरा साथ देने वाला कौन है ?'—रमा का भी गला भर आया।

बड़ी ही दयनीय आवाज में शीरीन बोली—'मेरे मन से एक प्रकार से मेरा जीवन पूर्ण हो गया। अब तो तुम्हारा स्मरण और मास्टर का.....।'

'मैं जानती हूँ जगत ने मुझे बताया है। इस समय मेरे सुखी जीवन में यदि कोई दुःख है तो यही कि जिस स्थान को तुमने माँगा, जिसके लिए तुम सर्वथा योग्य हो, उस पर मैंने अधिकार जमा लिया और तुम्हें इस प्रकार छोड़े जा रही हूँ।'

बहादुर शीरीन ने आँखों के आँसू पोंछ डाले और कहा, 'तू भाग्यवान् है। मास्टर का पाठ अब मुझे स्मरण करना है !'

'क्या ?'

'मुझसे कहा था कि 'देवी' के प्रेम ने उसे सच्चा मनुष्य बना दिया।

प्रेम दमन की जाति का है। रमा ! प्रेम ज्यों-ज्यों दबाया जाता है त्यों-त्यों उस में से सुगन्ध निकलती है।'

'सचमुच उनके योग्य तू ही है।'

'अच्छा-अच्छा चल रहने दे। जाने से पहले यदि बुरा न माने तो दो बात कहूँ।'

'तेरे कहने का बुरा मानूँगी तो रहूँगी कहाँ ? प्रसन्नता से कह।'

'देखो, पहला स्वार्थ, तू विजयी हुई और मैं पराजित।'

'तू यह कह क्या रही है ?'

'बिल्कुल सच है पर इतना याद रखना कि जैसे तेरे लिए वह प्राण के समान हैं वैसे ही .....।'

'यह तो मुझे सदा याद रहेगा ही।'

'दूसरी बात रमा ! तेरे लिए है। यद्यपि मुझे कहना नहीं चाहिए। मैं कौन हूँ—एक गैर, तू उनकी पत्नी है। फिर भी कहती हूँ, देख तू भीरु-हृदय है, स्नेहमयी है; मास्टर जरा अस्पृह रहेगा तो तू खीझ उठेगी।'

रमा ने सिर हिलाया।

'नहीं क्या मैं तुझे पहचानती हूँ न, तू रो पड़ेगी। तेरी संक्षुब्ध आत्मा दुखी हो जायेगी। शायद वैराग्य के अभ्यासी को तेरे जैसी कोमलांगी को रिझाना न आये।'

'अभी तू उन्हें पहचानती नहीं, इसी से ऐसा कह रही है। वह विरागी हैं—उनका प्रेम दूसरे को अर्पित किया हुआ है; साधारण स्नेह एवं धर्म के सिवाय मुझे दूसरा कुछ नहीं देते पर सात दिन में इन्हें पतिरूप में मैंने देखा। तू सोच ही नहीं सकती; मेरे लिए उनके मन में कितनी चाह—कितनी रसज्ञता—भाव की कैसी प्रौढ़ता है। मुझे आज ही समझ पड़ रहा है कि तनमन बहन क्यों उनके अभाव में मरने के लिए तत्पर हुई।'

'परन्तु उनकी रक्षा करना.....'

'वह मेरा संरक्षण करेंगे कि मैं.....'

'नहीं रमा ! उनके योग्य बनना—उनकी भावना की रक्षा करना।'

'अच्छा अब चलो, तुम्हें भी तैयारी करनी होगी।'

दोनों गले से गले लगीं, अलग हुईं। रमा जरा अदृष्ट रूप से काँप उठी। शीरीन ने इसे देखा। आज तक बराबर इस प्रकार मिलती थी; आज यह नवीन-सा लगा।

रमा ! अब तुम्हें शीरीन भाती नहीं ! ठीक ही है।'

शीरीन को भी उस दिन के अन्तिम आलिंगन के पश्चात् सब उच्छिष्ट लगता था किन्तु इसे उसने गुप्त रखा। अपना विचार प्रकट हो जाने से रमा

नीचे देखने लगी।

'अच्छा, अब आज्ञा दो, स्टेशन पर तो आओगी न ?'

रमा के वक्ष पर लटकते हुए लाकेट की ओर संकेत करते हुए शीरीन ने कहा—'अवश्य आऊँगी रमा ! यह चित्र मुझे दोगी ?'

'इसे तो जगत ने भेंट किया है।'

'रमा ! तू धनाढ्य है मैं भिखारिन हूँ। एक बार उदास बन जा। मास्टर पूछें भी तो कह देना कि शीरीन ने माँगा था, वे अस्वीकार नहीं करेंगे; उनका हृदय बड़ा विशाल है।'

लाकेट उतारते हुए रमा ने हँसकर कहा—'शीरीन ! मेरे पति पर मेरी अपेक्षा तुम्हारी आज्ञा अधिक चलती दिखाई देती है !'

लाकेट लेकर उसकी ओर देखते हुए वह बोली—'आज से ? जब तक जीवित रहूँगी तब तक चलेगी। यह क्यों नहीं कहती कि मैं थी जिससे तुझे मिल गया अन्यथा अब तक तो स्वर्ग में होती।'

दोनों हँसी और हाथ मिलाकर विलग हो गईं।

और फिर विदाबेला भी आई।

डबडबाई हुई आँखों से शीरीन बोली—'रमा डियर ! मास्टर से मेरा प्रणाम कहना।' इतना कहते-कहते उसका गला अवरुद्ध हो गया। मिस्टर वकील ने रमा से शेक हैण्ड किया। शीरीन को यह साहस नहीं हुआ। गाड़ी चल पड़ी, रूमाल हिलने लगा, गाड़ी प्लेटफार्म से बाहर हो गई। भाग्य से डिब्बे में रघुभाई को छोड़ और कोई नहीं था जिससे वह अपने विचारों में तल्लीन हो गई।

दूसरे दिन प्रातःकाल रत्नगढ़ आया। इतने वर्षों बाद वह रत्नगढ़ आई परन्तु उस समय के और आज के जीवन में कितना अन्तर ! प्लेटफार्म पर गाड़ी के आते ही रमा की आतुर दृष्टि लोगों की भीड़ पर पड़ी। इतनी भीड़ ! किंतु जिसे देखने के लिए वह तरस रही थी वह दिखाई नहीं पड़ा। बच्चू भाई स्टेशन पर आये थे। ज्यों ही वह उतरी कि जिस भीड़ को देख उसे विस्मय हुआ था, वह उसकी ओर बढ़ी और उसने उसे घेर लिया।

इस जनसमूह को देखकर रमा घबरा उठी। अपने सगे सम्बन्धी के समान सभी खुले हृदय से उसका कुशल समाचार पूछ रहे थे। कुछ समय तक तो उसकी समझ में कुछ नहीं आया, तब उसने एक बालक को अपने पिता से पूछते हुए सुना—पिताजी ! क्या यही हमारे सिद्धनाथ की बहू हैं ?'

रमा के कपोल लज्जा से लाल हो गये। अब उसकी समझ में आया। यह सब लोग सिद्धनाथ की पत्नी का स्वागत करने आये हैं।

अनन्तानन्द द्वारा अमरावती में बनाये हुए शहर में होकर वह आगे बढ़े।

वे एक विशाल उपवन में, जिनमें मध्य में शंकराचार्य के समान एक संन्यासी की सफेद संगमरमर की मूर्ति बनी हुई खड़ी थी, पहुँचे। उसके विशाल ललाट पर सूर्य की किरणों ने तेज का मुकुट रच दिया था।

'बच्चूभाई ! यह कौन है ?'

'पहचानती नहीं, स्वामीजी हैं !'

रमा को तुरन्त अपने पिता और अनन्तानन्द की शत्रुता का स्मरण आ गया। कैसा भव्य पुरुष था !

गाड़ी धीरे-धीरे अनन्तमठ के बगल में, दीवान के निवास स्थान पर पहुँची। मकान देखकर रमा हर्षित हो गई। कैसा सुन्दर उपवन है ! पीछे सुलभा नदी का कल्लोल कैसा मधुर है ! बच्चूभाई ने राम मन्दिर, अनन्तमठ, पहले का राजमहल जिसमें इस समय रणुभा रहते थे आदि दिखाया। सब कितना आकर्षण लग रहा था।

छत पर कुन्दन भाभी खड़ी थीं। थोड़ी देर पर गौरव में राजा मानसिंह के समान दिखाई पड़ते हुए सादे, स्वच्छ, राजपूत वेश में एक व्यक्ति खड़ा था उसने पूछा—'बहू ! अच्छी तरह से तो हो ?'

शरमाते हुए रमा ने कहा—'जी हाँ।'

'बहू ! तुम मुझे नहीं पहचानती होगी। आज मुझे अत्यधिक प्रसन्नता हुई।'

अनुमान गलत न हो इस डर से अटकते हुए रमा ने कहा—'आप····· श्री रणुभा ?'

'हाँ रमा ! तुम्हारी माँ को तो नहीं परन्तु सास को जानता था। उन्हीं के जैसी बनना और मेरे सिद्धनाथ की मान-प्रतिष्ठा बढ़ाना।'

आँखें सजल हो उठीं, रमा नीचे देखने लगी।

इतने में सूखे ताड़ के वृक्ष जैसा एक बाबा मोटा लठ लिये हुए आया। उसकी दाढ़ी सफेद होकर पीली पड़ गई थी किन्तु वय का झपेटा अभी उसे लगा नहीं था। पहले तो रमा को कुछ समझ नहीं पड़ा, पीछे सहसा याद आ गया और वह बोल उठी—'बाबा रामजी !'

नब्बे वर्ष की वय में भी पूर्ववत् कड़ी आवाज में रामकृष्णदासजी आँख में आये हुए आँसू को हथेली से पोंछ कर बोले—'रमाजी, मेरे लड़के की पत्नी ? बेटी ! ऊपर देख अहा ? जैसी क्या—उसका नाम क्या था—हाँ, कमला ! तेरा नाम—हाँ रमा ! भूल गया। बेटी ! तू इतनी थी और यूँ-यूँ चलती थी। रामजी का आशीर्वाद ! हाँ अच्छा कमला—अरे क्या हाँ रमा ! छोटा दीवान कहाँ है ?'

रघुभाई ने बिछौने पर पड़े-पड़े मन्द आवाज में पूछा—'कौन ?'

'कौन क्या ? मैं हूँ रामकृष्ण । देख बच्चा ! यह कलियुग नहीं करियुग हैं । जो जैसा बोयेगा वह वैसा ही काटेगा; याद है वह···।'

रणुभा तुरन्त आकर बोले—'जाने दीजिए बाबाजी !'

'हाँ, यह तो रामजी सच है; सभी कुछ उनकी इच्छा है ।'

जगत सब बातों का प्रबन्ध कर गया था । कुन्दन भाभी भोजन बना रही थीं ।

'मैं भी आऊँ क्या भाभी ?' आखिर रमा को यही नाम ठीक समझ पड़ा ।

'नहीं, बहू ! तुम थक गई होंगी ।'

'नहीं, बिलकुल भी नहीं थकी हूँ, देखिए आपकी कीकी रो रही है ।'

'अच्छी बात है । थोड़ा ही है कर डालो ।'

रमा क्या करे ? रोटी गोल के बदले लम्बी, चौकोर बनी । तवे पर कच्ची रह गई । सेंकने के लिए अंगारे पर डालते ही वह जल गई । कुन्दन भाभी और उनका बड़ा पुत्र तो हँसते-हँसते लोट-पोट हो गए ।

'उठो, उठो तुम कर चुकी, मालूम हो गया । इसी प्रकार देवरजी को कर के खिलाओगी । भूखा मार डालोगी ! हाय हाय ! इससे अच्छी तो चार अंगुल की मेरी चंचल ! बात की बात में कर दे सकती है ।'

'आपके देवरजी विवाह के पहले पूछना भूल गये कि भोजन बनाना आता है या नहीं; उनका भाग्य !'

'हाय, हाय ! मैं इतना अच्छा बनाकर परोसती हूँ फिर भी छोड़ देते हैं ! बहू ! सच कहती हूँ बुरा मत मानना ! बहुत पढ़ लिखकर यही होता है ! विविध प्रकार के भोजन बनाना स्त्रियों का भूषण है ।'

भोजनोपरान्त शहर की दो-चार स्त्रियाँ रमा से मिलने के लिए आईं और यह ताँता दिन भर बँधा रहा । पहले रमा को विरक्ति हुई कि इनसे क्या सरोकार ? वृद्धा आईं और अपनी पुत्र-बधू के समान 'हमारे सिद्धनाथ को ऐसा' और 'हमारे सिद्धनाथ को तैसा' कहकर आशीर्वाद दे गईं । प्रौढ़ाओं ने—जिसमें से अधिकांश ने बारत में शिक्षा ग्रहण की थी उसके साथ विविध विषय पर बातें कीं । अपरान्ह में कुछ नव-वधुयें आईं । वह गत वर्ष अपनी शिक्षा पूर्ण कर बारत से आईं थीं—और वहाँ के सहजीवन में स्वेच्छा से स्वीकार किए हुए

पति के साथ उन्होंने अपना जीवन प्रारम्भ किया था। पुरुषों जैसी शक्ति एवं स्वतन्त्रता उनमें दिखाई देती थी। वह साधारण अंग्रेजी भी बोलती थीं। उनके साथ वार्तालाप करके रमा चकित हो गई, क्या वे अमेरिका में थीं? उनका खेल-कूद कैसा था, सिद्धनाथ जब प्रोफेसर थे उस समय क्या-क्या घटनाएँ घटी थीं आदि सभी ने कह सुनाईं। रमा तो उनकी प्रर्याप्त बातें सुनकर दिग्मूढ़ बन गई। उनका हृदय बैठ गया। सिद्धनाथ केवल उसका नहीं था बल्कि इन सभी का था। यह सभी उनके पीछे पागल हो गई थीं। उनकी सत्ता, जब यहाँ थे तब भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के हृदय में—पुत्र-भाव, मातृ-भाव से स्थित थी। रमा अपने जगत के प्रभाव को देख व्याकुल हो उठी। एक-दो संस्कृत युवतियों के हृदय में तो स्पष्ट ईर्ष्या दिखाई दे रही थी। 'सिद्धनाथ' का नाम लेते समय उनके नेत्रों में, मुख पर विचित्र तेज भासित होता था; रमा को डाह हुई।

अधिक समय न रख सकने से कुन्दन भाभी बोल उठीं—'बाप रे बाप! यह क्या बला इकट्ठा कर रखी है? कितनी आवेंगी! जरा आराम से बैठने नहीं देतीं। मेरे 'सिद्धनाथ'। मानो रमा शहर भर की बहू है!'

बच्चूभाई हँसे। 'तुम क्या जानो! कितने वर्ष तक जगत भैया इन सब लोगों के साथ रहे हैं!'

'बस रहने दीजिए! क्या शहर भर घूमा करते थे! यह तो दीवानजी की शान है!'

दो-एक वृद्धा बैठी थीं वह तो कुछ नहीं बोलीं। परन्तु एक युवती से नहीं रहा गया। सादे वस्त्र एवं साधारण रूप में भी उनका गौरव झलक रहा था। वह बोली—'बहन! यह शान तो किसी दूसरे राज्य में चल सकती है, यहाँ तो.....'

'यहाँ क्या! यह तो देवरजी जरा ढीले हैं।'

युवती बोली—'हमारे बारत की सप्तम कक्षा की लड़कियाँ जाकर उन्हें ठीक कर दें। सभी हँस पड़े।

कुन्दन भाभी की पराजय व्यक्त न होने देने के लिए रमा ने कहा—'आप सब स्त्री-मत की पोषक मालूम पड़ती हैं।'

'सचमुच! मैं बारत में थी उस समय एक स्वामी को—जो हमारे प्रोफेसर

थे, मैंने अकेले ठिकाने लगा दिया। लीजिए, ये स्त्री-मत पोषक संघ के नायक भी आ गये।'

रमा ने दरवाजे की ओर देखा और आज पाँच दिवस पश्चात् उस स्वरूपवान्, प्रियमूर्ति को देखकर अपनी आँखें ठंडी कीं।

जगत ने हँसते हुए कहा—'रमा! आ गई? कौन राधा बहन!'

'मैं इन्हें बारत-खण्ड की बात सुना रही थी।'

'क्यों अभी से मेरी पत्नी को बिगाड़ डालने का विचार है क्या!'

जगत रघुभाई को देखकर आकर बैठकर बोला—'राधा बहन! अब रमा को ठीक करना आपके हाथ में है।'

'आप तो हैं ही! बिना ननद वाली के लिए ननद का रिश्ता कर रहे हैं! अच्छा, अब मैं चलती हूँ। सिद्धनाथ! कल रमा बहन को शहर की सभा की प्रमुख बनाऊँगी।'

यह कह कर राधा एवं दूसरी स्त्रियाँ गईं और रणुभा आये। रमा ऊपर चली गई। रणुभा के जाने के पश्चात् जगत भी ऊपर गये।

जगत को देखते ही रमा बोल उठी—'आपने तो गोपियों को पागल बना रखा है?'

'ऐसा?'

'और क्या? दिन भर 'मेरे सिद्धनाथ!' छोड़ दूसरा कुछ सुनने ही को नहीं मिला। मैं तो ईर्ष्या से भर गई!'

'इतने ही में?'

'जी हाँ, सभी आपके पीछे पागल थीं—कितनी शीरीन और राधा हैं?'

'जितनी से तू ईर्ष्या कर सके उससे कहीं अधिक। जो जैसी आशा रखता है वह वैसा ही मुझसे प्राप्त करता है।'

'इस प्रकार बातें करते हुए दोनों छत पर गये। वहाँ पहुँचते ही जगत की दृष्टि राम मन्दिर पर पड़ी और उसका मुख गम्भीर हो गया।

'रमा! नहीं सोचा था कि यह समय आएगा।'

'दुःख हो रहा है?'

'नहीं इतना मन विचलित नहीं है, उस कुएँ में गिरने से स्वामी जी ने मुझे बचाया और···'

'और ?'

'और उस राम-मन्दिर में प्रथम प्रेम-प्रतिज्ञा ली थी।'

जगत की आँखें कठोर हो गईं। दो मिनट तक कोई भी नहीं बोला।

रमा ने प्रेम-पूर्ण दृष्टि से जगत की ओर देखा, जरा धीरे से; आतुरतापूर्ण स्वर में वह बोली—'जगत ! तनमन वहन की आकांक्षा क्या पूर्ण नहीं कर सकूँगा ?'

जगत ने सिर हिलाया। रमा के मुँह से एक अस्पष्ट आह गई। एक अश्रु-बिन्दु टपक आँख से पड़ा। जगत ने रमा के कन्धे पर हाथ रखते हुए कहा 'रमा ! बुरा क्यों मानती हो ? वह किशोर के प्रेमपूर्ण, निर्बाध ; निरंकुश हृदय की देवी थी। तू सिद्धनाथ के विरागी खिन्न हृदय की सहचरी है। उसने मुझे हृदयनाथ बनाकर ईश्वर बनाया। तू मुझे कर्तव्यनाथ रखकर मेरा सच्चा मनुष्यत्व प्रकाशित करना।'

जगत के वक्षःस्थल सिर रखते हुए रमा बोली—'नाथ ! जो कुछ भी हूँ आपकी ही हूँ।'

———

67

PK
1859
M8V418

Munshi, Kanaiyalal Maneklal
Pratisodha

[redacted]

PLEASE DO NOT REMOVE
CARDS OR SLIPS FROM THIS POCKET

UNIVERSITY OF TORONTO LIBRARY